नई शिक्षा नीति के अनुसार

2024

VVP

TM

विश्वविद्यालय प्रकाशन (रजि.)
ग्वालियर
द्वारा प्रकाशित

20 प्रश्न

(परीक्षोपयोगी महत्वपूर्ण मॉडल प्रश्नोत्तर)

इतिहास

VVP

विश्व इतिहास की प्रमुख धारायें
(1871 से 1950 CE तक) इतिहास (ग्रुप-बी)

(द्वितीय प्रश्न-पत्र)

बी. ए. तृतीय वर्ष

नया पाठ्यक्रम

विश्व इतिहास की प्रमुख धारायें (1871 से 1950 CE तक)

इकाई–1. भारतीय पुनर्जागरण, जर्मनी का उत्कर्ष– भारतीय पुनर्जागरण और राष्ट्रवाद का उदय, फ्रांस का तृतीय गणतंत्र, कैसर विलियम प्रथम, बिस्मार्क की गृह एवं विदेश नीति, कैसर विलियम द्वितीय की विदेश नीति, अफ्रीका का विभाजन।

इकाई–2. पूर्वी समस्या एवं 1905 तक विश्व राजनीति– पूर्वी समस्या, रूस–तुर्की युद्ध, बर्लिन कांग्रेस (1878), युवा तुर्क आन्दोलन, प्रथम एवं द्वितीय बाल्कन युद्ध, 1905 की रूसी क्रान्ति।

इकाई–3. प्रथम विश्व युद्ध एवं राष्ट्रसंघ– प्रथम विश्व युद्ध– कारण, घटनाएँ, परिणाम एवं प्रभाव, पेरिस का शान्ति सम्मेलन, विल्सन के चौदह सिद्धान्त, वर्साय की संधि, 1917 की रूस की क्रान्ति, राष्ट्र संघ, दो विश्व युद्धों के मध्य विश्व राजनीति।

इकाई–4. चीन– चीन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद, प्रथम व द्वितीय अफीम युद्ध, ताईपिंग विद्रोह, बॉक्सर विद्रोह, 1911 एवं 1949 की चीनी क्रान्तियाँ।

जापान– मेईजी पुनर्स्थापना, आधुनिकीकरण, सैन्यवाद का उदय, चीन–जापान युद्ध 1894, रूस–जापान युद्ध 1905, चीन–जापान युद्ध 1937.

इकाई–5. द्वितीय विश्व युद्ध एवं 1950 तक विश्व राजनीति– इटली में फासीवाद, मुसोलिनी की गृह एवं विदेश नीति, जर्मनी में नाजीवाद, हिटलर की गृह एवं विदेश नीति, द्वितीय विश्व युद्ध– कारण, घटनाएँ, परिणाम एवं प्रभाव। संयुक्त राष्ट्र संघ, तृतीय विश्व का उद्भव एवं गुटनिरपेक्षता। ❑❑

कृपया ध्यान दें

❑ नई शिक्षा नीति स्नातक तृतीय वर्ष में लागू की गई है। परीक्षा के नये पैटर्न में वस्तुनिष्ठ प्रश्न, लघुउत्तरीय प्रश्न तथा दीर्घउत्तरीय प्रश्न पूछे जायेंगे। कुछ लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर इस पुस्तक में दिये गये हैं। दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर में ही लघुउत्तरीय प्रश्नों के उत्तर निहित हैं। इस हेतु आप लघुउत्तरीय प्रश्न में जितना पूछा जावे, दीर्घउत्तरीय प्रश्न के उत्तर का उतना ही भाग लिखें।

अनुशंसित मूल्यांकन विधियाँ

अनुशंसित सतत् मूल्यांकन विधियाँ (अधिकतम अंक : 100) सतत् व्यापक मूल्यांकन (CCE) अंक : 30 विश्वविद्यालयीन परीक्षा (UE) अंक : 70		
आंतरिक मूल्यांकनः सतत् व्यापक मूल्यांकन (CCE)	क्लास टेस्ट असाइनमेंट/प्रस्तुतिकरण (प्रजेंटेशन)	कुल अंकः 30
आंकलनः विश्वविद्यालयीन परीक्षा समयः 03.00 घंटे	अनुभाग (अ): अति लघुउत्तरीय प्रश्न अनुभाग (ब): चार लघु उत्तरीय प्रश्न अनुभाग (स): दो दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	कुल अंक 70

इतिहास

(द्वितीय प्रश्न-पत्र)

इकाई-1

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1.(अ) भारतीय पुनर्जागरण के कारणों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

19वीं शताब्दी में भारतीयों में सुधारों के लिये किन कारणों से प्रेरणा उत्पन्न हुई?

अथवा

नव जागरण के लिये कौन–से प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील पहलू उत्तरदायी थे?

उत्तर– विश्व में और भारत में उन्नीसवी शताब्दी नवजागरण के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इसमें भारत में आई पश्चिमी सभ्यता के कारण चेतना उत्पन्न हुई जिसने भारत के समस्त जीवन के समस्त पहलुओं को प्रभावित किया। नवजागरण और नवनिर्माण का उद्भव और विकास, ऐतिहासिक परम्पराओं का पुनरागमन और राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक असन्तोष की अभिव्यक्ति भी था। अनेक राष्ट्रवादी शक्तियां जो दीर्घकाल से सामाजिक और सामाजिक जीवन के निर्माण में सक्रिय थीं। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को जहां जीवित रखा वहीं विदेशियों से अपनी स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के लिये मनोबल और शक्ति प्राप्त की। इस प्रकार इन सभी शक्तियों ने भारतीय चेतना को उस ओर उन्मुख किया जिसका परिणाम राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और आत्म सुधार था।

पुनर्जागरण के प्रेरक तत्व– भारत पर विदेशी आक्रमणों, सतत् जाग्रत ऋषियों, संतों और ग्रन्थों और महापुरुषों ने सदैव भारतीय जनता को जगाया तथा युगानुरूप दोषों का निवारण कर प्रगतिशील बनाया परन्तु इस दृष्टि से ब्रिटिश काल या आधुनिक काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह युग नवीन प्रवृत्तियों का काल था जिसने पुनर्जागरण का वातावरण उत्पन्न किया।

1. राजनैतिक एकता– विभिन्न भाषा, प्रदेश, संस्कृति और पन्थों के होते हुये भी यहां का नागरिक स्वयं को प्राचीन काल से भारतीय मानता है। तथा अपनी राजनीतिक एकता को भारत नाम से प्रदर्शित करता है। ब्रिटिश काल में इस राजनीतिक एकता की अनुभूति और अधिक हुई क्योंकि अंग्रेजों ने भारत के शोषण और साम्राज्य निर्माण की इच्छा से अपने अधीन क्षेत्र में एक सी ब्रिटिश शासन प्रणाली, राजस्व प्रणाली, न्याय प्रणाली तथा यातायात के साधनों का विकास किया इसके कारण भारतीयों में एकता, संगठन, सामाजिक उत्थान और सामूहिक चेतना का निर्माण हुआ।

2. ब्रिटिश शासन का राजनैतिक अन्याय– ब्रिटिश कम्पनी और शासन ने विद्रोह, विश्वासघात, आक्रमण, भेद–भाव, लूट और षड्यंत्रों से प्रभुसत्ता प्राप्त की थी। प्लासी में क्लाईब का षड्यंत्र, नन्दकुमार को फांसी, वेलेजली की सहायक प्रथा, डलहौजी की हड़प नीति, सिन्ध से संधि तोड़ना ब्रिटिश नीति के उदाहरण हैं।

सामाजिक रूप में इल्बर्ट बिल–विवाद, नौकरियों में भेदभाव, भारतीयों से घृणा और उनका अपमान, फूट डालना आदि राष्ट्रीयता के लिये उत्तेजक कारण थे। जिसके कारण कभी

1857 में संघर्ष हुआ तो कभी बेरकपुर, सन्थाल के रूप में प्रतिक्रिया हुई तो कभी क्रांतिकारियों ने उग्र रूप धारण किया। इन राजनैतिक अन्यायों ने प्रत्येक विचारशील भारतीय को क्रांति के लिये या फिर राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये तैयार किया।

3. **आर्थिक शोषण**– भारत में अंग्रेजों ने व्यापार और लाभ के उद्देश्य से ही प्रवेश किया था। अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के इन उत्तराधिकारियों ने लूट, भ्रष्टाचार, अनुचित दबाव, उत्पीड़न से भारी मात्रा में धन प्राप्त किया। इस प्रकार भारत को कंगाल, कमजोर और भूखा अभावग्रस्त बनाकर यहां की शांति, समृद्धि और धन इंग्लैंड ले गये। विश्व में सर्वाधिक भ्रष्टाचारी, इंग्लैंड में अपराधों के लिये कुख्यात क्लाईब की जालसाजी, हैस्टिंग्ज की चेतसिंह से भारी धन वसूली, अबध की विधवा बेगमों से जबर्दस्ती धन वसूली, बेलेजली के द्वारा नबावों से वसूली और भारतीय राजाओं और नबावों की पेन्शन बन्दी। इतिहास प्रसिद्ध घटनायें हैं जिन्होंने भारतीयों के असन्तोष को घनीभूत किया और जिसका प्रकटीकरण विभिन्न समयों पर हुआ।

4. **दोषपूर्ण भू–व्यवस्था**– भारत के किसानों के लिये हित पूर्ण भूमि–व्यवस्था, पंचायतों की लगान प्रणाली फिर शेरशाह और अकबर की भूमि–व्यवस्था चली आ रही थी परन्तु अंग्रेजों ने किसानों को हानि पहुंचा कर तथा उनकी उपेक्षा कर कभी वार्षिक लगान व्यवस्था और कभी दस वर्षीय व्यवस्था आरम्भ की। इससे जमीदार वर्ग और सरकारी अधिकारी, किसानों पर अत्याचार करने लगे। अतः किसान भी अंग्रेजी व्यवस्था के विरोधी हो गये तथा उनमें भी नव जागरण की लहर पैदा हो गयी।

5. **तथाकथित स्वतंत्र व्यापार नीति और अकाल**– अंग्रेज विश्व को दिखाने के लिये स्वतंत्र व्यापार की बात कहते थे। परन्तु भारतीय अपने माल का क्रय या विक्रय स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकते थे। मोलभाव, ग्राहक का चुनाव भी उनके हाथ में नहीं था। वह केवल अंग्रेजों को बेचा जा सकता था। इससे भारतीय शिल्प उद्योग नष्ट हो गये। अंग्रेजों ने निर्यात शुल्क घटाकर और ब्रिटिश माल का आयात शुल्क बढ़ाकर भारी लाभ कमाया।

अकाल, महामारी, भुखमरी और अपराधों में इतनी वृद्धि हो गई कि भारतीय अपने बच्चों को बेचने के लिये विवश हो गये। 20 लाख जुलाहे और 3 लाख सूत काटने वाले बेकार हो गये। पंजाब के डॉ. मुरलीधर ने कहा कि, ''अंग्रेजों का खुला व्यापार, जातियों के मध्य न्याय, को मैं पाखन्ड समझता हूं तथा घृणा की दृष्टि से देखता हूं।'' लार्ड सेलिसबरी ने भी स्वीकार किया कि ''ब्रिटिश शासन भारत का रक्तशोषण करके उसे रक्तहीन और दुर्बल बना रहा है। इस प्रकार इंग्लैंड के अनेक उद्योग, मानचेष्टर और वेल्स के कारखाने भारत के उद्योग और शिल्प के शवों पर अट्ठास और नर्तन करने लगे।''

6. **पाश्चात् शिक्षा के प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील प्रभाव**– ब्रिटिश भारत की एक अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य ने भारत में प्रवेश कर विवेकी भारतीयों को नये विज्ञान, नये तर्क, नवीन प्रवृत्तियों, स्वतंत्रता और उसके लिये संघर्ष और बलिदानों से परिचित कराया। रूसो, बाल्टेयर, मैज़नी, अमेरिकी क्रांति भारतीयों के लिये प्रेरणादायी बने।

दूसरी ओर ब्रिटिश शासकों ने भारतीय धर्म, साहित्य दर्शन, इतिहास और संस्कृति को कुचलने का प्रयास किया परन्तु राजा राममोहन राय, दयानन्द आदि ने ब्रिटिश मनोवृत्ति का

सामना ब्रिटिश साहित्य के द्वारा किया तथा अपने धर्म, दर्शन और शिक्षा की रक्षा की। लार्ड मेकाले की प्रतिक्रियावादी नीति भी भारतीयों को जगाने का साधन बनी।

7. **राष्ट्रीय साहित्य**– उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में स्वदेशी और विदेशी राष्ट्रीय साहित्य की बाढ़ आई। यूरोपीय साहित्य तो भारत आया ही भारत में भी अनेक समाचार पत्र, पत्रिकायें, कथा साहित्य, गीत, उपन्यास आदि का सृजन हुआ।

वंकिमचन्द्र के आनंदमठ और वन्देमातरम्, रवीन्द्र के जन–मन–गण गीत ने भारतीयों को झकझोरा। इस काल के बेरिस्टर तथा अंग्रेजी के अनेक विद्वानों ने राष्ट्रीय साहित्य से संघर्ष की प्रेरणा ली जिसमें क्रांतिकारियों के साथ–साथ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, तिलक, गांधी, सुभाष, पटेल और राजा राममोहन राय आदि थे। राजा राममोहन राय ने 1821 में 'संवाद कौमुदी' द्वारकानाथ, प्रसन्न कुमार ने वंगदूत का प्रकाशन आरम्भ किया। अमृत बाजार पत्रिका, पायोनियर, मद्रास मेल और स्टेट्मेन भी प्रकाशित हुये जिससे स्वतंत्रता और मुक्ति का सन्देश मिला।

8. **स्वतंत्रता प्रेम**– परन्तु अंग्रेजों का उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ तथा भारतीयों ने यूरोपीय भाषा, ज्ञान, विज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर अपने दोषों को दूर करने का अभियान चलाया। उनमें स्वतंत्रता की उदात्त भावनायें पैदा हुईं। अंग्रेजी साहित्य से मैजनी, लॉक, रूसो, वाल्टेयर अमरीकी क्रान्ति, फ्रेंच क्रान्ति और रूसी क्रान्ति आदि संघर्षशीलता उत्पन्न की तो दयानन्द, विवेकानन्द की शिक्षाओं ने आत्मबल, नैतिक समर्थन, आत्मगौरव प्रदान किया।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारत में पत्रकारिता का जन्म हुआ। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास हुआ। भारतीय प्रेस के जन्मदाता राजा राममोहन राय ने 1821 में 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन किया। इसके पश्चात् द्वारकानाथ प्रसन्न कुमार ने 'वंगदूत' आरम्भ किया। 'अमृत बाजार पत्रिका', 'पायोनियर' आदि पत्र–पत्रिकाओं ने निर्भीक भाषा में जनता की शिकायतों, सरकार की आलोचनाओं आदि के द्वारा सरकारी नीतियों की समीक्षा की तथा इन्होंने सरकार समर्थक 'टाईम्स ऑफ इण्डिया', 'मद्रास मेल', 'स्टेटमेन' का सफल प्रतिकार किया।

9. **पुनरुत्थानवादी आन्दोलन**– इस शताब्दी में भारत में पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों का उदय हुआ जिन्होंने हिन्दू–समाज के दोषों, हीनभावना, अन्धविश्वासों को दूर कर प्रगति, एकता, संगठन, स्वतंत्रता का संदेश दिया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियॉसाकी अलीगढ़ आन्दोलन, देवबन्द आन्दोलन, सिंह सभा ने पुनर्जागरण के उद्देश्यों को बड़ी कुशलता से पूरा किया।

10. **धर्म परिवर्तन और ईसाई धर्म का प्रचार**– भारत में किसी भी ईसाई पन्थ या चर्च के व्यक्ति आये सभी ने ब्रिटिश सरकार की मदद से लोभ, भय और आक्रमण से भारतीयों को सनातन धर्म छोड़कर ईसाई बनाया और फिर उनको साधन बनाकर राजनीतिक, आर्थिक और साम्राज्य विस्तार के उद्देश्य पूरे किये। नागालैण्ड, झारखण्ड, गुजरात, मद्रास आदि में हिन्दू से ईसाई बनाये गये। इसके खिलाफ भारतीयों में नव जागरण हुआ तथा श्रृद्धानन्द ने शुद्धि आन्दोलन चलाया।

निष्कर्ष– भारतीय पुनर्जागरण में जहां ब्रिटिश काल के प्रतिगामी और प्रगतिशील पहलुओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी, वहीं भारतीयों के देश प्रेम, राष्ट्रीयता और पुनरुत्थानवादी

देशभक्ति और उसकी संस्थाओं की भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका थी जिसने भारतीयों में आत्मगौरव के साथ-साथ आत्मनिर्भरता, उन्नति और संघर्ष की भावनायें भरीं।

प्रश्न-(क) पुनर्जागरण का क्या अर्थ है? भारत में पुनर्जागरण के दो कारण लिखिये।

उत्तर- पुनर्जागरण का आशय किसी भी राष्ट्र या देश के जीवन में एक नवीन स्फूर्ति, नये उत्साह, नई उमंग व जोश अथवा गौरव के युग से होता है। इसे उस देश के जीवन में नवीन ऋतु का काल कहा जा सकता है। पुनर्जागरण को परिभाषित करते हुये ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम ने कहा है कि, 'पुनर्जागरण किसी भी देश की विकास अवस्था में एक दीर्घकाल के बाद फिर उन्नति की ओर बढ़ने की अवस्था का नाम है।'

पुनर्जागरण के प्रेरक तत्व- भारत पर विदेशी आक्रमणों, सतत् जाग्रत ऋषियों, संतों और गुरुओं और महापुरुषों ने सदैव भारतीय जनता को जगाया तथा युगानुरूप दोषों का निवारण कर प्रगतिशील बनाया परन्तु इस दृष्टि से ब्रिटिश काल या आधुनिक काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह युग नवीन प्रवृत्तियों का काल था जिसने पुनर्जागरण का वातावरण उत्पन्न किया।

1. राजनैतिक एकता- विभिन्न भाषा, प्रदेश, संस्कृति और पन्थों के होते हुये भी यहां का नागरिक स्वयं को प्राचीन काल से भारतीय मानता है। तथा अपनी राजनीतिक एकता को भारत नाम से प्रदर्शित करता है। ब्रिटिश काल में इस राजनीतिक एकता की अनुभूति और अधिक हुई क्योंकि अंग्रेजों ने भारत के शोषण और साम्राज्य निर्माण की इच्छा से अपने अधीन क्षेत्र में एक सी ब्रिटिश शासन प्रणाली, राजस्व प्रणाली, न्याय प्रणाली तथा यातायात के साधनों का विकास किया इसके कारण भारतीयों में एकता, संगठन, सामाजिक उत्थान और सामूहिक चेतना का निर्माण हुआ।

2. ब्रिटिश शासन का राजनैतिक अन्याय- ब्रिटिश कम्पनी और शासन ने विद्रोह, विश्वासघात, आक्रमण, भेद-भाव, लूट और षड्यंत्रों से प्रभुसत्ता प्राप्त की थी। प्लासी में क्लाईव का षड्यंत्र, नन्दकुमार को फांसी, वेलेजली की सहायक प्रथा, डलहौजी की हड़प नीति, सिन्ध से संधि तोड़ना ब्रिटिश नीति के उदाहरण हैं।

सामाजिक रूप में इल्बर्ट बिल-विवाद, नौकरियों में भेदभाव, भारतीयों से घृणा और उनका अपमान, फूट डालना आदि राष्ट्रीयता के लिये उत्तेजक कारण थे। जिसके कारण कभी 1857 में संघर्ष हुआ तो कभी बेरकपुर, सन्थाल के रूप में प्रतिक्रिया हुई तो कभी क्रांतिकारियों ने उग्र रूप धारण किया। इन राजनैतिक अन्यायों ने प्रत्येक विचारशील भारतीय को क्रांति के लिये या फिर राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये तैयार किया।

प्रश्न-2. भारत में राष्ट्रवाद के जन्म (उदय) के कारणों का वर्णन कीजिये।

अथवा

भारत में राष्ट्रीय जागृति के उदय के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिये।

अथवा

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय जागृति के लिये उत्तरदायी कारणों की विवेचना कीजिये।

उत्तर- भारत में राष्ट्रवाद का जन्म (उदय)- कभी-कभी किसी राष्ट्र की चेतना लुप्त हो जाती है। इस समय राष्ट्रीय स्वाभिमान देखने को नहीं मिलता। अपने देश की सभ्यता-संस्कृति को हम अन्य देशों की नई सभ्यता-संस्कृतियों से प्रभावित होकर अपने देश का गौरव हम भूल जाते हैं और दूसरे देशों का गुणगान करने लगते हैं। ऐसी सुप्तावस्था से जागना राष्ट्रीय

चेतना का विकास या राष्ट्रीय जागृति कहलाती है। भारत विदेशी आक्रमणों और विदेशी गुलामी के कारण एक लम्बे काल तक इसी सुप्तावस्था में रहा और कुछ बातों में आज भी है। देश 19वीं शताब्दी में इस सुप्तावस्था से जागा और उसने करवट बदली। इसी जागरण को हम राष्ट्रीय जागृति या राष्ट्रीय जागरण कहते हैं। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा 20वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में एक लम्बा राष्ट्रीय आन्दोलन चला था। इस आन्दोलन के विकास का कारण इन शताब्दियों में भारत में उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका है। अब प्रश्न यह है कि 19वीं शताब्दी में यह राष्ट्रीय चेतना कैसे विकसित हुई और इसके लिये कौन-कौन से कारण या तत्व उत्तरदायी थे?

राष्ट्रीय जागृति या राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय (जन्म) के प्रमुख कारण

इसके लिये वास्तव में वैसे तो बहुत से कारण तथा तत्व उत्तरदायी थे, परन्तु इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं-

(A) राजनीतिक कारण और तत्व- राष्ट्रीय आन्दोलन या जागृति एक राजनीतिक आन्दोलन है जिसकी उत्पत्ति में सबसे अधिक राजनीतिक कारण और तत्व उत्तरदायी होते हैं। भारत में राजनीतिक चेतना के विकास में भी निम्नलिखित राजनीतिक कारण सहायक हुये-

(1) **राजनीतिक दासता के परिणाम-** ब्रिटिश सरकार के शासन में भारत में राजनीतिक दासता के विभिन्न परिणाम धीरे-धीरे लोगों के सामने आने लगे। इस शासन में न तो स्वतन्त्रता थी, न समानता, न अधिकार। आम आदमी की तो बात ही क्या है, देश के राजे-महाराजे सामन्त तक ब्रिटिश सरकार के गुलाम थे। वे अपनी मर्जी से लड़का तक गोद लेकर अपना वंश नहीं चला सकते थे। ब्रिटिश शासक ऐसे देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में भी अनावश्यक हस्तक्षेप करते थे।

(2) **राष्ट्रीय एकता की स्थापना-** ब्रिटिश शासन ने सम्पूर्ण भारत को अपने प्रशासनिक स्वार्थ के कारण एक सूत्र में बाँधकर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक एक अद्भुत परन्तु अनजाने में राष्ट्रीय एकता की स्थापना की।

(3) **शासन में भारतीयों का सहयोग न लेना-** ब्रिटिश सरकार शासन में योग्य भारतीयों का भी सहयोग नहीं लेती थी। वह भारतीयों को प्रशासन में भी छोटे-छोटे गैर महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करती थी।

(4) **साम्राज्यवादी नीति-** ब्रिटिश सरकार की नीति साम्राज्यवादी थी। वह भारत में फूट डालकर किसी न किसी प्रकार देश को गुलाम बनाये रखने की नीति पर चल रही थी।

(5) **भ्रष्टाचार-** प्रशासन में भ्रष्टाचार का जन्म कम्पनी के शासन में हो चुका था। इससे जनता में असन्तोष होना स्वाभाविक था।

(6) **अंग्रेजों की हड़प-नीति तथा अन्य दमनकारी नीतियाँ-** कई गवर्नर जनरलों की दमनकारी, विभेदकारी अन्यायपूर्ण नीतियां और अलोक कल्याणकारी कार्य किये तथा भारत में लार्ड डलहौजी की हड़प-नीति के कारण ही 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम हुआ था। परन्तु इसके बाद भी लार्ड लिटिन, लार्ड कर्जन इत्यादि गवर्नर जनरलों की नीतियां अन्यायपूर्ण और राष्ट्र विरोधी थीं। भारत में इसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही थी।

(B) सामाजिक कारण और तत्व- भारत में राष्ट्रीय जागृति के आन्दोलन और चेतना के लिये अग्रलिखित सामाजिक कारण भी उत्तरदायी थे-

(1) भारत में सामाजिक पिछड़ापन और इसके लिये भारत में सामाजिक पुनर्जागरण– विदेशी शासकों की लम्बी गुलामी ने भारत में कई सामाजिक कुरीतियों और समस्याओं को जन्म दिया था जैसे– पाखण्डवाद, बाल–विवाह, दहेज, विधवाओं की समस्या, अशिक्षा, पर्दा–प्रथा, महिलाओं की दीन दशा आदि। इन समस्याओं के हल के लिये भारत में सामाजिक पुनर्जागरण आन्दोलन का जन्म और विकास हुआ। इसमें राजा राममोहन राय का ब्रह्म–समाज, दयानन्द सरस्वती का आर्य–समाज, रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के रामकृष्ण मिशन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्होंने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के साथ–साथ राष्ट्रीय चेतना विकसित करने की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया।

(2) विदेशी शिक्षा– विदेशी शासन ने भारत में छोटे कर्मचारी प्राप्त करने के लिये एंग्लो वर्नाक्यूलर शिक्षा प्रारम्भ की थी इस शिक्षा के बाद कुछ लोग विदेशों में भी शिक्षा प्राप्त करने जाने लगे तथा उन्हें विदेशी विचार तथा साहित्य पढ़ने को मिला जो स्वतन्त्रता, समानता तथा राष्ट्रवाद और भ्रातृत्व के महान् लोकतन्त्रवादी विचारों से पूर्ण था। जब भारतीयों ने जॉन स्टुअर्ट मिल, मिल्टन, हक्सले वर्क के विचारों तथा मैजिनी गैरीबॉल्डी नेपोलियन और मैकियावली के विचारों को पढ़ा तो इनका प्रभाव भारतीयों पर पड़ना स्वाभाविक था, इसने भारत में भी राष्ट्रीय चेतना का विकास किया।

(3) भारतीय प्रेस का विकास– ब्रिटिश शासन काल में भारत में भी एंग्लो वर्नाक्यूलर प्रेस का विकास हुआ और भारत में कई समाचार–पत्र और साहित्य प्रकाशित होने लगे। इनमें अमृत–बाजार पत्रिका, हिन्दू, सरस्वती इत्यादि उल्लेखनीय हैं। केसरी और मराठा तथा पंजाब केसरी भी मुख्य हैं। प्रारम्भ में तो ब्रिटिश सरकार ने भारत में प्रेस को स्वतन्त्रता दी, परन्तु बाद में प्रेस कानून बनाकर इस सम्बन्ध में दमनकारी नीति अपनाई। इस दमनकारी नीति ने भी उस समय आग में घी का काम किया।

(4) भारतीय साहित्य– इस काल में भारत में ऐसा साहित्य लिखा जाने लगा जिसमें राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बंकिम चन्द चटर्जी, अरविन्द घोष इत्यादि मुख्य हैं।

(5) धार्मिक तत्व तथा ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार की प्रतिक्रिया– ब्रिटिश शासन के साथ–साथ भारत में ईसाई मिशनरीज ने भी अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया था। ये मिशनरीज भारत के गरीबों और पिछड़े वर्गों को प्रभावित कर ईसाई धर्म का प्रचार–प्रसार कर रही थी। इससे हिन्दुओं तथा मुसलमानों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। इसकी प्रतिक्रिया हुई और भारत में धर्म में जो पाखण्डवाद था उसे दूर करने के लिये धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुये। इन आन्दोलनों में आर्य–समाज, ब्रह्म–समाज, और रामकृष्ण मिशन ने भारतीय धर्म की रक्षा तथा ईसाई धर्म के विरुद्ध भारतीयों में जागृति उत्पन्न की और लोगों को प्राचीन भारतीय धर्म का गौरव समझाया।

(6) जर्मन विद्वान मैक्समूलर का प्रभाव– जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने संस्कृत और प्राचीन भारतीय साहित्य का महत्व स्थापित कर भारत को भी अपने प्राचीन गौरव और गरिमा की याद दिलाई थी इससे भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई।

(C) आर्थिक कारण एवं तत्व– यह कहा जाये तो अतिश्योक्ति नहीं होगी कि भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास में आर्थिक कारण सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली तत्व थे। ये तत्व निम्नलिखित थे–

(1) ब्रिटिश सरकार और उद्योगपतियों और पूंजीपतियों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण– ब्रिटिश शासनकाल में भारत का जमकर आर्थिक शोषण हुआ। इसके पूर्व स्थिति यह थी, कि व्यापार–सन्तुलन भारत के पक्ष में था यानि भारत में बने हुये सामान का बहुत अधिक निर्यात होता था, आयात कम था, परन्तु ब्रिटिश काल के मध्य में भारत के उद्योग–धन्धे नष्ट हो गये व कर दिये गये, और भारत यूरोपियन माल से पट गया था। इससे ब्रिटिश पूंजीपतियों और उद्योगपतियों को लाभ हुआ और भारत के धन का प्रवाह यूरोप की ओर हो गया। दादाभाई नौरोजी ने भारत की खराब आर्थिक दशा के लिये ब्रिटिश सरकार की नीतियों को उत्तरदायी ठहराया। ब्रिटिश सरकार ने भारत के उद्योग–धन्धों के स्थान पर यूरोपियन उद्योग–धन्धों को संरक्षण दिया और मध्यकालीन भारतीय उद्योगों को नष्ट हो जाने दिया, जो तत्कालीन भारतीय समृद्धि के आधार थे।

(2) भारत के उद्योग–धन्धों का नष्ट किया जाना– भारत में उस समय मध्य–युगीन कुटीर उद्योगों का माल यूरोप में अत्यन्त लोकप्रिय था (भारत के सूती, रेशमी और अन्य प्रकार के वस्त्र, गलीचे, ढाका की मलमल, बर्तन तथा नक्कासी का सामान) माल यूरोप में बहुत लोकप्रिय था कि लन्दन के बाजार तथा यूरोप के अन्य बाजार इस सामान की बहुत मांग होने के कारण भारतीय सामान से पटे रहते थे, परन्तु ब्रिटिश सरकार की नीति ने इन्हें संरक्षण न देकर नष्ट कर दिया और औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मशीनी सस्ते माल से भारत एशिया तथा यूरोपीय बाजार को पाट दिया गया।

(3) गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी और अकाल महामारियों का ताण्डव नृत्य और इन आपदाओं में ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति– ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन आने से पूर्व भारत में मध्य–युगीन श्रेष्ठ अर्थव्यवस्था थी। यहां गरीबी, बेरोजगारी तथा भुखमरी जैसी कोई समस्या नहीं थी। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने भारतीय कृषि और उद्योग–धन्धों को नष्ट कर भारत को एक निर्धन और पिछड़ा हुआ देश बना दिया था। अतः भारत में गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी जैसी गंभीर समस्यायें उत्पन्न हो गईं। इसी काल में अकाल पड़े। अकालों में सरकार कोई सहायता नहीं करती थी। प्लेग, चेचक, हैजा इत्यादि कई महामारियां भी भारत में फैलीं। इन विपत्तियों में ब्रिटिश सरकार की अव्यवस्था ने उसके विरुद्ध असन्तोष पैदा किया।

(4) शानदार समारोह– इधर भारत में अकाल, महामारियों तथा गरीबी व अव्यवस्था थी उधर ब्रिटिश शासक भारत में महँगे शानदार समारोह मनाकर भारतीय खजाने का दुरुपयोग कर रहे थे, कहीं महारानी विक्टोरिया के शासन की रजत जयन्ती या स्वर्ण जयन्ती और हीरक जयन्ती मनती थीं, कहीं प्रिन्स ऑफ वेल्स का शानदार स्वागत होता था। इससे जनता का मन ब्रिटिश सरकार के प्रति वितृष्णा से भर उठा था।

उपरोक्त कारण ही भारत में राष्ट्रवाद के उदय (जागृति) या राष्ट्रीय चेतना के विकास के मुख्य कारण हैं।

प्रश्न–3. तृतीय गणतंत्र की चर्च नीति के कारण और परिणाम की विवेचना कीजिये।

अथवा

'पिछला युद्ध प्रशा के स्कूल–शिक्षकों ने जीता है। अब का युद्ध फ्राँस के शिक्षक जीतेंगे।' गेम्बेटा ने यह कथन किस सन्दर्भ में किया है? इसका चर्च से संबंधित नीति से क्या संबंध है?

उत्तर– यूरोप में जो भी सत्ताधारी व्यक्ति जो देश में राष्ट्रवादी या फिर व्यक्तिगत सर्वाधिकारवादी नीति का संचालनकर्ता हुआ, उसका चर्च के साथ संघर्ष हुआ। प्रशिया में बिस्मार्क और फ्रांस में नेपोलियन या इटली में मुसोलिनी इसके उदाहरण हैं। प्रशिया में आस्ट्रिया और राष्ट्रवाद विरोधी शक्तियों के खिलाफ राष्ट्रवादी भावनाओं का उदय वहाँ के विद्यालय और विश्वविद्यालयों में हुआ। राष्ट्रवादी शिक्षकों ने अपने छात्रों को देशभक्ति, संघर्ष, त्याग, बलिदान और देश को स्वतंत्र कराने की भावना उत्पन्न की, जिसके कारण बिस्मार्क और सम्राट को सैन्य-संगठन आस्ट्रिया और फ्रांस को पराजित करने में सफलता प्राप्त की। वास्तव में प्रशिया ने चर्च से मुक्त राष्ट्रवादी शिक्षा दी थी। इसलिये फ्रांस के राष्ट्रवादी नेता गेम्बेटा ने कहा कि पिछला युद्ध (प्रशिया-फ्रांस) स्कूल-शिक्षकों ने जीता और अब फ्रांस में भी चर्च से मुक्त राष्ट्रीय शिक्षा के माध्यम से वह भविष्य के युद्ध (फ्रांस-प्रशा) में सफलता प्राप्त करने की आशा करता था, परन्तु इसके लिये फ्रांस को चर्च के साथ संघर्ष की आवश्यकता होती, परन्तु इस संघर्ष के अनेक कारण थे।

कारण– फ्रांस की अधिकांश जनसंख्या रोमन कैथोलिक चर्च की अनुयायी थी। तृतीय गणतंत्र की स्थापना के पूर्व रोमन कैथोलिक सदैव राजधर्म भी रहा था तथा पोप उनका सर्वोच्च प्रधान था और आस्ट्रियन सम्राट पवित्र रोमन सम्राट था। उस समय धार्मिक राज्यों की परम्परा थी, परन्तु अनेक कारणों से अब राष्ट्रीय राज्यों की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी।

(1) कैथोलिक पंथ को राजधर्म बनाने की आकांक्षा– रोमन कैथोलिक पन्थ राजधर्म के पद से तृतीय गणतंत्र में च्युत हो गया था और पोप का या रोमन सम्राट का राज्य के विषयों में हस्तक्षेप कम होने लगा था तथा राजधर्म होने के कारण पूर्व में राज्य से मिलने वाली सुविधायें, विशेषाधिकार और शक्तियों से वंचित हो गया था, परन्तु अपनी संख्या, बल और छल-षड्यंत्र से पुनः इसके अनुयायी इसे राजधर्म घोषित करवाना चाहते थे, जिसका अर्थ प्रोटेस्टेंट तथा अन्य पन्थ अवैध घोषित हो जाते। गणतंत्रवादी नेता सभी पंथों के संबंध में उदासता रखना चाहते थे और वह नहीं चाहते थे कि पुनः कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट संघर्ष हो और देश की शान्ति और एकता भंग हो, परन्तु कैथोलिक की संख्या, बल और प्रभाव एक प्रबल समस्या थी। इसी के कारण नेपोलियन बोनापार्ट को भी कैथोलिक राजधर्म घोषित करना पड़ा था और पोप से (1801) समझौता करना पड़ा था।

(2) राजतंत्र के समर्थक– रोमन कैथोलिक सदैव से राजतंत्र और प्राचीन राजवंशों के समर्थक रहे थे और उन्होंने सदैव से प्रजातंत्र, जनमत और जन-सत्ता का विरोध ही नहीं किया बल्कि उसके खिलाफ राजसत्ता का प्रयोग भी करवाया। उन्होंने नवीन राजवंश (नेपोलियन) को कभी स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार राजतंत्रवादियों के साथ-साथ वे सामान्य निर्धन कृषक और श्रमिक जनता के खिलाफ शोषक और उत्पीड़क रहे और उनके धार्मिक विश्वासों का लाभ उठाते रहे और अब गणतंत्र की समाप्ति के लिये सक्रिय थे। गेम्बेटा तो कहता था कि, वह हमारे शत्रु हैं।

(3) विदेशी आधिपत्य से मुक्ति– रोम कैथोलिक सदैव से पोप और आस्ट्रियन सम्राट के आदेशों को सर्वोपरि मानते रहे थे तथा उनके संकेतों पर राष्ट्रीय आदेशों की अवहेलना तथा स्वदेश के खिलाफ विद्रोह भी करने को तत्पर हो जाते थे। देश का भारी मात्रा में धन पोप के पास टर्दय के रूप में जाता था, जिसका उपयोग पूर्णरूपेण पोप की इच्छा पर निर्भर रहता था। पोप इस धन का उपयोग गणतंत्र सरकार को उखाड़ने में भी प्रयोग कर सकता था। फ्रांस की गणतंत्रात्मक सरकार ने इन विदेशी आधिपत्यों से मुक्त करने का निश्चय किया।

(4) कैथोलिक धर्मान्धता और दोष– रोमन कैथोलिक अपने विचारों में इतने धर्मान्ध थे कि वे अन्य धर्मों के व्यक्तियों से भी न केवल घृणा करते थे बल्कि उनके खिलाफ षड्यंत्र और किसी भी अनैतिक कार्यवाही पर उतर आते थे। ड्रेफस के साथ यही हुआ था। उनकी धर्मान्धता ने उसकी निर्दोषिता, देश-भक्ति और देश-सेवा को भी भुला दिया। यही दृष्टिकोण प्रोटेस्टेंट के बारे में था। इससे देश में मतभेद और संघर्ष बढ़ते थे। इससे देश का युवक वर्ग बंट गया और देश की एकता समाप्त हो गई। इनके कार्यों से, इनकी संख्या-वृद्धि से तथा इनके अनैतिक आचरणों और भ्रष्टाचारों से नवीन फ्रांस का प्रजातंत्रवादी वर्ग चिंतित हुआ। इनके पास संपत्ति भी बहुत (एक करोड़ से एक अरब फ्रैंक) बढ़ गई थी और राजनीति में हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था अतः फ्रांस की सरकार ने कैथोलिक दमन का विचार किया।

शिक्षा पर एकाधिकार– रोमन कैथोलिकों का शिक्षा पर पूर्ण एकाधिकार था, किन्तु वह शिक्षा धर्म-सहिष्णुता, विचार-स्वातंत्र्य और वैज्ञानिक अनुसंधानों के खिलाफ थी और साथ ही पक्षपातपूर्ण, स्वयं को ही सर्वश्रेष्ठ समझने का गर्व पैदा करने वाली और धर्मान्ध थी। कैथोलिक अपनी शिक्षा में प्रजातंत्र और मानव अधिकारों को देश के लिये अभिशाप बताते थे, जबकि देश एक बार पादरियों का विरोध कर प्रजातंत्र की स्थापना कर चुका था तथा साथ ही धर्म-सहिष्णु और विज्ञान की शिक्षा को प्रमुख बनाना चाहता था। अतः देश की एकता, अखण्डता और प्रगति के लिये चर्च से मुक्त शिक्षा की नीति अपनाना चाहता था। इसी आधार पर फ्रांस भविष्य में प्रशिया को पराजित करना चाहता था।

नीति, कार्य एवं संघर्ष– सन् 1900 में फ्रांस के प्रधानमंत्री वाल्डेक रूसो ने शिक्षा पर राज्य के अधिकार के विषय पर भाषण दिया। चर्च के पादरियों ने इसका विरोध किया, परिणामस्वरूप सन् 1901 में चर्च की शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये कानून बनाया गया, जिसके कारण और विरोध में अनेक पादरियों को अपने चर्च छोड़ने पड़े तथा चर्च बन्द हो गये और पादरी भाग-भागकर बेल्जियम, स्पेन, ब्रिटेन और अमेरिका में शरण लेने लगे। जो नवीन विधान बनाया गया, उसमें धार्मिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं था। सन् 1904 में नवीन कानून बनाया गया जिसमें 10 वर्ष के अन्दर चर्च को अपनी शिक्षा समाप्त करने का आदेश दिया गया। सरकार ने पादरियों के वेतन देना बन्द कर दिये तथा सम्पत्ति छीन ली, जिसके कारण 500 चर्च बन्द हो गये। पोप ने इन सभी कानूनों के विरोध और बहिष्कार के आदेश दिये और इटली की सरकार को भी आदेश दिये कि वह फ्रांस से कोई संबंध न रखे। सन् 1905 में फ्रांस की सरकार ने चर्च की समस्त सुविधायें समाप्त कर दीं और ये नीति अपनाई-

1. एसोशियेशन विधान के द्वारा किसी भी धार्मिक संस्था को सरकार से मान्यता लेना आवश्यक कर दिया।
2. धार्मिक शिक्षा की समाप्ति।
3. शिक्षा पर राज्य का अधिकार स्थापित करना।
4. राज्य को चर्च के प्रभाव से अलग करना।

इस प्रकार इन नीतियों के अनुसार सन् 1801 का नेपोलियन समझौता भंग हो गया, जिसके अनुसार पादरियों की चर्च में नियुक्ति, वेतन, पेन्शन और सम्पत्ति पर अधिकार के संबंध में शर्तें थीं।

प्रतिक्रिया– पोप ने फ्रांस के कार्यों और कानूनों को 'अनुचित् और धर्म-विरुद्ध' बताया जिससे सम्पूर्ण फ्रांस में गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस कारण फ्रांस को सैनिक सेवा अनिवार्य कर देना पड़ी। परन्तु इससे समस्या का कोई हल नहीं निकला।

समझौता– प्रशिया में बिस्मार्क ने भी चर्च की शक्ति का दमन करने का प्रयास किया था, परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली और सन् 1880 में उसे चर्च के साथ समझौता करना पड़ा। फ्राँस में भी गणतंत्र सरकार ने समझा कि सन् 1789, 1830, 1848 की क्रांतियों में जनता ने चर्च–विरोधी रुख अपनाया था। अब भी उसका वही दृष्टिकोण होगा, किन्तु तृतीय गणतंत्र की चर्च– दमन नीति से प्रतीत होता है कि चर्च की बदनामी और ईसाई धर्म में आस्था दोनों ही पृथक वस्तुयें थीं। दमन–चक्र से सरकार बदनाम हो रही थी, दूसरी ओर कैथोलिक भी संघर्ष से निराश हो रहे थे अतः दोनों समझौते के लिये तैयार हो गये, परन्तु एक बार पुनः सन् 1907 में चर्च के द्वारा राष्ट्रीय कानूनों के विरोध के कारण चर्च की सारी सुविधाओं का अन्त कर दिया। अन्त में गणतंत्र के धार्मिक मंत्री ब्रियां ने नवीन प्रस्ताव समझौते के लिये रखे, जिसमें चर्च ने निम्न शर्तें स्वीकार कीं–

1. पादरी आवेदन–पत्र देकर चर्च का (गिरजाघरों) उपयोग एक वर्ष के लिये कर सकते थे।
2. उपासना गृह सर्व–साधारण जनता के लिये खोल दिये गये।
3. पादरी धार्मिक अवसरों पर मेयर और प्रीफेक्टो से अनुमति लेकर उपदेश आदि कार्य कर सकते थे।

उपसंहार– गणतंत्र को जब कभी किसी देश की राष्ट्रीय सरकार के साथ संघर्ष करना पड़ा, उसकी शक्ति पर राष्ट्रीय अंकुशों को उसे स्वीकार करना पड़े और दमनकर्ता सरकारों या सम्राटों को भी यह अनुभव हुआ कि चर्च का दमन राष्ट्र के लिये अत्यधिक हानिकारक है। नेपोलियन और बिस्मार्क की तरह ही फ्राँस के तृतीय गणतंत्र की स्थिति थी। इस प्रकार न तो चर्च राष्ट्रवाद को और न राष्ट्रवाद या निरंकुश सत्ता चर्च को नहीं दबा सकी। इन घटनाओं से यह भी तथ्य उद्घाटित होता है कि राज्य और चर्च की पृथकता की भावना बढ़ती गई और कालान्तर में यह एक सिद्धान्त बन गई।

प्रश्न–4. फ्राँस में तृतीय गणतंत्र के सम्मुख कौन–कौन सी समस्यायें थीं? उनका समाधान कैसे निकला?

उत्तर– सितम्बर, सन् 1870 में सूडान में नेपोलियन तृतीय ने प्रशिया के सम्मुख आत्म–समर्पण कर दिया और फ्राँस में तृतीय अस्थाई गणतंत्र की स्थापना हुई। इस समय भी प्रशिया से संघर्ष चल रहा था और अस्थाई गणतंत्र निरन्तर दियर्स और गेम्बेटा ज्यूलिस फेवरे के नेतृत्व में संघर्ष कर रहा था। इस कारण गणतंत्र स्थापना पर जनमत नहीं लिया जा सका था, जिसका अनुमोदन फ्रेंकफुर्ट संधि के बाद चुनाव के द्वारा हुआ। इस तृतीय गणतंत्र को स्थापना के दिन से ही अनेक कठिनाईयों और समस्याओं का सामना तथा समाधान करना पड़ा।

(1) युद्ध अथवा शांति का निर्णय– फ्राँस के तृतीय गणतंत्र ने यद्यपि प्रशिया से संघर्ष जारी रखा था, किन्तु प्रशिया की विजयी सेना ने पेरिस पर घेरा डाल दिया था। मेट्ज, वैजेन का भी पतन हो चुका था। अल्सास और लॉरेन, स्ट्रासवर्ग प्रशिया के अधिकार में चले गये। अतः तृतीय गणतंत्र के सामने यह समस्या उठी कि प्रशिया (बिस्मार्क) की अपमानजनक शर्तों को स्वीकार किया जाये अथवा युद्ध जारी रखा जाये। इस समय फ्राँस का गणतंत्रवादी–वर्ग संघर्ष करने के पक्ष में था जबकि अन्य पक्ष संधि के पक्ष में थे। दियर्स, गेम्बेटा और अन्य नेता अनिच्छा से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बिस्मार्क के फ्रेन्कफर्ट प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया जाये। अतः निम्न शर्तें स्वीकार कर ली गईं–

1. अल्सास–लॉरेन, मेट्ज, स्ट्रांसवर्ग प्रशिया को देना होंगे।

2. 20 करोड़ पौण्ड की क्षति 3 वर्ष में प्रशिया को देना होगी।
3. तीन वर्ष तक (क्षतिपूर्ति अदा होने तक) जर्मन सेना फ्राँस में रहेगी।
4. जर्मन सेना का व्यय, इन तीन वर्षों तक फ्राँस से वसूल किया जायेगा।

(2) नवीन चुनाव और समस्यायें– सन्धि के बाद ही प्रजातंत्र की घोषणा कर दी गई तथा राष्ट्रीय सभा की स्थापना की गई। चुनाव में दियर्स सरकार को प्रमुख चुना गया, किन्तु राष्ट्रीय सभा में राजतंत्रवादियों का बहुमत हो गया, जबकि पेरिस आदि बड़े नगरों में गणतंत्रवादी जीते। इससे अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुईं। प्रजातंत्रवादियों को राजतंत्रवादियों के दमन–चक्र चलने की आशंका उत्पन्न हो गई जो उनके (राजतंत्री) कार्यों से सत्य सिद्ध हुई। राजतंत्रवादी राष्ट्रीय सभा ने अनेक ऐसे कार्य किये जिनसे जन–असंतोष बढ़ गया। उसने राजधानी को पेरिस से हटाकर बोर्डो में स्थापित किया। किराये, लेन–देन, कर्ज पर से प्रतिबन्ध हटा दिये और 48 घण्टों में सभी ऋणों का भुगतान करने के आदेश दिये। नेशनल गार्ड को भंग कर दिया गया, इससे अनेक सैनिक बेकार हो गये। यह वही जनता थी और नेशनल गार्ड जो शत्रुओं के खिलाफ प्राण हथेली पर रखकर लड़ रही थी। इन कार्यों से इस जनता पर एकदम से आर्थिक बोझ आ पड़ा, जिसका भुगतान 48 घण्टों में तो क्या 48 महीनों में भी असंभव था। इनके आय के साधन समाप्त हो चुके थे और बेकारी, भुखमरी फैली हुई थी। सरकार अनिश्चय में थी कि राष्ट्रीय सभा के इन प्रस्तावों को कैसे कार्यान्वित करें? एक ओर देश में शत्रु था, दूसरी ओर महान् असंतोष था।

(3) गृहयुद्ध– राजधानी पेरिस में न रखने के कारण क्रान्तिकारियों में अत्यधिक असंतोष उत्पन्न हुआ तथा तत्काल ऋण भुगतान के आदेश और जिसके कारण फ्राँस संघर्ष कर रहा था, वह नेशनल गार्ड भंग करने के आदेश को प्रजातंत्र विरोधी समझा गया। निर्धन, कमजोर वर्गों में इस कारण समाजवादी विचारधारा का उदय हुआ और जनता द्वारा माँग की गई कि केन्द्र सरकार के अधिकार कम करके स्थानीय कम्यूनों को अधिक अधिकार दिये जायें, जिससे राजतंत्रवादी अन्याय को रोका जा सके और प्रजातंत्र की स्थापना की जा सके।

जब इन माँगों को स्वीकार नहीं किया गया तो फरवरी, 1871 में पेरिस में नेशनल गार्ड के माध्यम से आठ व्यक्तियों की समिति की एक अस्थाई समानान्तर सरकार स्थापित की गई। इस कारण एक देश में दूसरी सरकार बन गई जो बोर्डो की सरकार के लिये चुनौती थी। पेरिस की सरकार ने संघर्ष की आशंका से मोर्चेबन्दी कर ली और जब 18 मार्च, सन् 1871 को केन्द्रीय सरकार ने आक्रमण किया तो उसे असफल करने में सफल रही।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार और पेरिस सरकार में गृह–युद्ध छिड़ गया। संघर्ष इतना उग्र हो गया कि राष्ट्रीय सेना ने केन्द्र के सेनापतियों को गोली मार दी। इसी मध्य 26 मार्च, सन् 1871 को चुनाव करवाकर 90 सदस्यों की परिषद् का निर्माण कर विधिवत् पेरिस सरकार का गठन कर लिया गया और सैन्यवाद, शोषण, एकाधिकार और विशेषाधिकार के खिलाफ संघर्ष जारी रखने का निश्चय किया गया। इसके पश्चात् राष्ट्रीय सभा को भंग करने के लिये पेरिस से एक सेना वर्साय को भेजी गई, परन्तु यह सेना गणतंत्र की सेना के सम्मुख असफल सिद्ध हुई तथा पेरिस सेना को भारी क्षति उठाना पड़ी और बड़ी मात्रा में उसके सैनिक बन्दी बनाये गये। इसके बदले में पेरिस की कम्यून सरकार ने अनेक राजतंत्रवादी बन्दी बनाये। यह संघर्ष 2 अप्रैल, सन् 1871 को चरम सीमा पर पहुँच गया। इस समय देश में जर्मन सेना उपस्थित थी अतः गणतंत्र या राष्ट्रीय सरकार ने दृढ़ निश्चय के साथ एक लाख, पचास हजार सैनिक पेरिस पर आक्रमण करने के लिये भेजे। उन्होंने 2 अप्रैल से 21 मई तक पेरिस पर घेरा डाल दिया। इस बीच भीषण खूनी युद्ध हुआ जिसके संबंध में लिखा गया

कि, प्रत्येक मार्ग, चौक और गली में हत्यायें, आगजनी की घटनायें घटीं, तोपों से प्रहार किये गये, शरीर और आत्मायें एक-दूसरे से टकराने लगीं। अन्त में वर्साय की सेना विजयी हुई और 17000 नागरिक बिना कानून के मार दिये गये तथा शवों के ढेर लग गये। 43000 बन्दी बनाये गये, जिन पर सन् 1875 तक मुकद्दमे चलते रहे और जिन्हें सन् 1879 में गेम्बेटा ने क्षमादान दिलवाया।

(4) फ्रेन्कफर्ट संधि को स्वीकार करना और क्षतिपूर्ति– पेरिस के विद्रोह की समाप्ति के बाद राष्ट्रीय सभा ने विधिवत् संधि को स्वीकार कर लिया और दियर्स ने बहुत-सा ऋण लेकर 20 करोड़ पौण्ड की क्षति राशि का भुगतान कर दिया और प्रशिया की सेनाओं को वापस भेज दिया तथा नवीन सैन्य संगठन और सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी।

(5) संविधान निर्माण और संघर्ष– सन् 1875 में गणतंत्र का संविधान निर्माण करने के प्रश्न पर काउन्ट ऑफ पेरिस (ओरालियनिस्ट), काउन्ट ऑफ चेम्बोर्ड (लेजिटिमिस्ट), नेपोलियन तृतीय (बोनापार्टिस्ट) और दियर्स (गणतंत्रवादी) में मतभेद उत्पन्न हुये। इस कारण सन् 1873 में दियर्स को त्यागपत्र देना पड़ा। राजतंत्र की स्थापना के लिये काउन्ट ऑफ पेरिस तथा काउन्ट ऑफ चेम्बोर्ड ने समझौते का असफल प्रयत्न किया और तिरंगे को स्वीकार करने के प्रश्न पर वार्ता टूट गई। राजतंत्रवादी राष्ट्रीय सभा ने प्रजातंत्र विरोधी कार्य तेजी से करना आरम्भ कर दिया। सन् 1875 में प्रजातंत्र-विरोधी कानून के द्वारा केन्द्र सरकार ने स्थानीय क्षेत्र में महापौरों की नियुक्ति (चुनाव नहीं) करना आरम्भ कर दिया। प्रजातंत्र संबंधी आदर्श और मूर्तियाँ हटा दीं, समाचार-पत्रों को कुचला गया। इन कार्यों से प्रजातंत्रवादी अति उत्साहित हुये। गेम्बेटा निरन्तर प्रजातंत्र के प्रचार में लगा रहा। जब चुनाव हुये तो उसमें बोनापार्टिस्ट दल की अधिक विजय हुई। दूसरे ओरालियनिस्ट (राजतंत्रवादी) घबरा गये और संविधान के निर्माण में प्रजातंत्रवादियों से मिल गये। सन् 1875 में संविधान बन गया। यद्यपि संविधान को प्रजातंत्रवादी कहा जाता है परन्तु इसमें राष्ट्रपति की नियुक्ति 7 वर्ष के लिये होनी थी। एक सीनेट, एक चेम्बर ऑफ डेपुटीज बनना था, जिनका चुनाव परोक्ष रूप से होना था। संविधान में 'प्रजातंत्र' शब्द केवल एक बार प्रयोग किया गया था। संविधान प्रजातंत्रवादी और प्रजातंत्र-विरोधी शक्तियों के मध्य एक समझौता था। अतः इसे एक 'बीमार देश के लिये औषधि' कहा गया।

(6) सत्ता-संघर्ष– संविधान के अनुसार सन् 1876 में चुनाव हुये। इसमें विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। सीनेट में राजतंत्रवादियों को बहुमत मिला और प्रथम सदन में (चेम्बर ऑफ डेपुटीज) प्रजातंत्रवादियों को बहुमत मिला और इनका मंत्रिमंडल बना। राजतंत्रवादी राष्ट्रपति को नियुक्त किया गया, अतः इसने युद्ध, सेना, जल-सेना, विदेश विभाग को संसद के नियंत्रण से मुक्त रखा। प्रजातंत्रवादी इससे असंतुष्ट हुये। इस कारण राष्ट्रपति मेकमोहन ने सन् 1877 में मंत्रिमंडल को भंग किया और राजतंत्रवादी मंत्रिमंडल बनाया (ब्रोगले के नेतृत्व में) सीनेट ने प्रथम सदन भंग करने की अनुमति दे दी और पुनः नवीन चुनाव के आदेश दिये। चुनाव के समय राजतंत्रवादियों ने प्रजातंत्रवादियों का दमन किया। इसमें पादरियों ने भी सहयोग दिया, किन्तु प्रथम सदन में पुनः प्रजातंत्रवादी पहले से अधिक बहुमत में जीते। सन् 1878 में सीनेट ने 1/3 सदस्यों का परोक्ष चुनाव हुआ, इसमें भी प्रजातंत्रवादी जीते और इनका बहुमत हो गया। प्रजातंत्रवादियों की माँग पर राष्ट्रपति मेकमोहन और कुछ अधिकारियों ने त्याग-पत्र दे दिये। नवीन प्रजातंत्रवादी ज्यूलिस ग्रीवे राष्ट्रपति बना और सभी स्थानों पर प्रजातंत्रवादियों का अधिकार हो गया। बोनापार्टिस्ट और राजतंत्रवादी निराश हो गये और उनका प्रभाव एकदम घट गया।

(7) सरकार में भ्रष्टाचार– सन् 1882 में गेम्बेटा की मृत्यु के बाद उच्चस्तरीय, आदर्श-सम्पन्न कोई नेता न रहा अतः राष्ट्रपति और मंत्री भ्रष्टाचार का पोषण करने लगे। राष्ट्रपति के दामाद ने धन लेकर लीजियन ऑफ ऑनर की उपाधियाँ दीं। पनामा नहर के संचालक और सरकारी मंत्री रिश्वत लेते पकड़े गये। इससे सरकार बदनाम होने लगी।

(8) बौलोगर संकट– सन् 1886 में एक साहसी अश्वारोही और प्रभावी वक्ता युद्धमंत्री नियुक्त किया गया। इसने सेना में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये और सैनिक सेवा कम की। सेना में लोकप्रिय होने के साथ वह देश में भी अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। अधिकांश समाचार-पत्र उसके समर्थक थे। अनेक क्षेत्रों से संसद के लिये वह खड़ा हुआ। अनेक दलों ने उस पर धन व्यय किया। सन् 1888 में पाँच महिनों में 6 चुनाव क्षेत्रों से वह जीता। सन् 1889 में वह पेरिस से 80 हजार मतों से अधिक से जीता। जनता इसे प्रजातंत्र का रक्षक और राजतंत्रवादी अपना सहायक समझते थे। इसकी लोकप्रियता से घबराकर सीनेट ने इस पर राष्ट्रीय सुरक्षा को हानि पहुँचाने का आरोप लगाया, परन्तु इसने कोई सफाई और तर्क नहीं दिये, न अपने को निर्दोष बताया बल्कि वह बेल्जियम भाग गया और सहायकों को छिपना पड़ा। अन्त में बोलोगर ने सन् 1891 में आत्महत्या कर ली। इसके साथ ही यह समस्या समाप्त हो गई।

(9) ड्रेफस केस– फ्राँस की सेना के एक यहूदी देशभक्त कप्तान पर राजतंत्रवादियों और कैथोलिकों ने धर्मान्धता के कारण देशद्रोह का आरोप लगाया और सेना के ही अधिकारी ईस्टर हेजी, कर्नल हेनरी ने जाली पत्र तैयार कर इसे दंडित कर आजन्म कारावास दिया, परन्तु जनमत के दबाव के कारण तथा कर्नल पिक्वर्ट की जाँच के परिणामस्वरूप सत्य का उद्घाटन हो गया और षड्यंत्रकारियों ने अपने अपराध स्वीकार कर लिये। अतः सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1906 में ड्रेफस को सम्मानसहित मुक्त कर पदोन्नतियाँ प्रदान कीं। इससे सरकार पर राजतंत्रवादियों का प्रभाव घट गया।

(10) चर्च और राज्यनीति– कैथोलिक जनता फ्राँस में बहुमत में थी। वह कैथोलिक धर्म को राज्य-धर्म घोषित करवाना चाहती थी। कैथोलिक सदैव से राजतंत्रवादियों का साथ और प्रजातंत्र तथा क्रान्ति का विरोध करते आये थे। पोप और कैथोलिक रोमन सम्राट के संकेत पर देश की सरकार के कानूनों का बहिष्कार तथा विद्रोह कर सकते थे। देश का धन विदेशों में चला जाता था। इनके कारण देश में षड्यंत्र और संघर्ष होते रहते थे। गेम्बेटा इन्हें शत्रु समझता था। पादरियों और महिला भिक्षुणियों की संख्या बढ़ने से भ्रष्टाचार बढ़ रहा था अतः तृतीय गणतंत्र ने राज्य को चर्च से अलग करने की नीति अपनाई और इसके लिये सन् 1890 से 1905 तक अनेक दमनकारी कानून बनाये। इनके अनुसार अनेक चर्चों की मान्यतायें समाप्त कर दी गईं। अनेक साधुओं को चर्च छोड़ना पड़े। शिक्षा को 10 वर्ष में समाप्त करने की घोषणा कर दी गई। पादरियों के वेतन, पद और सम्पत्ति छीन ली गई। शिक्षा पर राज्य का पूर्ण अधिकार हो गया। नेपोलियन के द्वारा किये गये समझौते को भी समाप्त कर दिया गया।

पोप ने इन कानूनों को धर्म-विरुद्ध बताया तथा बहिष्कार का आदेश दिया परन्तु धार्मिक मंत्री ब्रियां के कारण समझौता हो गया और पादरियों को अनुमति लेकर गिरजाघरों का प्रयोग एक वर्ष के लिये करने की सुविधा दी गई। समस्त गिरजाघरों को सर्वसाधारण के लिये खोल दिया गया। धार्मिक अवसरों पर मेयर और प्रीफेक्टो से अनुमति लेकर स्थान का प्रयोग कर सकते थे।

(11) **श्रम कानून**– सन् 1890 से 1892 तक महान् श्रम कानूनों का निर्माण किया गया, जिनके अनुसार स्त्रियों के श्रम को नियंत्रित किया गया। तेरह वर्ष से कम आयु वाले बालकों से काम लेना और 10 घण्टे से अधिक किसी से भी काम लेने को अपराध घोषित किया गया। रविवार सवैतनिक साप्ताहिक अवकाश घोषित किया गया। श्रमिक–विवादों को सुलझाने के लिये पंच फैसलों की व्यवस्था तथा उनका मुफ्त इलाज और क्षतिपूर्ति के नियम बनाये गये। इससे श्रमिकों का हित हुआ और प्रजातंत्र में उनका विश्वास उत्पन्न हुआ।

निष्कर्ष– फ्राँस के तृतीय गणतंत्र को आन्तरिक और बाह्य समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनमें भ्रष्टाचार और ड्रेफस के प्रकरण सरकार की बदनामी के कारण बने, परन्तु उसने गृहयुद्ध में विजय दिलाई, शत्रु को क्षतिराशि देकर बाहर निकाला और प्रजातंत्र की स्थापना में सफलता प्राप्त की, किन्तु चर्च संबंधी नीति उचित प्रमाणित नहीं हुई और फ्राँस अपनी शक्ति और क्षमता बढ़ाने में सफल रहा तथा वह प्रथम विश्वयुद्ध में अपने खोये प्रदेशों को वापिस ले सका।

प्रश्न–5. कैसर विलियम प्रथम का संक्षिप्त परिचय दीजिये। उसकी गृहनीति तथा विदेशनीति क्या थी?

उत्तर– कैसर विलियम प्रथम 1861 ई. में 64 वर्ष की प्रौढ़ आयु में प्रशा का सम्राट बना। किन्तु उसमें कार्य करने की क्षमता और विचार करने की शक्ति में दृढ़ता और बल था। उसने अधिकांश समय सेना में रहकर बिताया था, इसलिये सैनिक–कार्य में उसकी रूचि थी। उसके सैनिक–अनुभवों का देश में सम्मान था। उसका विश्वास था कि प्रशा का भाग्य–निर्माण सेना पर आधारित है और जर्मनी का एकीकरण प्रशा द्वारा ही किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि प्रशा की सैन्य–शक्ति को बढ़ाया जाये। उसका कहना था कि 'जो जर्मनी पर राज्य करना चाहता है, उसे सेना पर विजय प्राप्त करनी होगी, वह बातों से नहीं हो सकती, इसके लिये कठिन परिश्रम करना होगा।'

कैसर विलयम प्रथम की गृह–नीति– कैसर विलियम की स्पष्ट नीति थी कि प्रशा को एक शक्तिशाली राज्य बनाया जाये। इसके लिये उसने देश में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। इसके लिये उसने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। दूसरे, उसने प्रशा की सैनिक–शक्ति को भी मजबूत करने का प्रयास किया। उसने सैनिक शक्ति को दोगुना कर दिया। यह सोचकर कि जब प्रशा की सैनिक शक्ति मजबूत होगी तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रशा की धाक जम जायेगी। किन्तु कुछ उदारवादी नेताओं ने सम्राट के इस निर्णय का विरोध किया। वे युद्ध–शक्ति द्वारा जर्मनी का एकीकरण नहीं चाहते थे।

विलियम प्रथम सन् 1871 के बाद लगभग 20 वर्ष तक सम्राट रहा और बिस्मार्क उसका प्रधानमंत्री रहा। इस पूरे कार्यकाल में गृहनीति के क्षेत्र में बिस्मार्क की ही प्रमुख भूमिका थी। अतः बिस्मार्क की जो गृह–नीति थी, वही विलियम प्रथम की गृह–नीति थी।

कैसर विलियम प्रथम की विदेश नीति– विलियम प्रथम की विदेश नीति इस प्रकार थी–

(1) अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का लाभ उठाना।

(2) उसका उद्देश्य फ्रांस को अलग–थलग करना था।

(3) रूस को अपने पक्ष में बनाये रखना का प्रयास करना।

(4) ब्रिटेन तथा फ्रांस की मित्रता को रोकना।

कैसर विलियम प्रथम के समय में अनेक देशों से सन्धियाँ तथा समझौते किये गये, जिनमें त्रिसम्राट संघ, बर्लिन सन्धि (1878), जर्मन–ऑस्ट्रिया सन्धि (1879), (द्विराष्ट्र संश्रय), त्रिराष्ट्र संश्रय (1882), नवीन त्रिराष्ट्र संघ (1872) आदि। इन सभी सन्धियों में

बिस्मार्क की अहम् भूमिका थी। इसकी विस्तृत विवेचना हेतु आप बिस्मार्क की गृह तथा विदेश नीति वाले प्रश्नोत्तर का अध्ययन करें।

प्रश्न–6. 'सन् 1871 जर्मनी के लिये एक विभाजन–रेखा है।' स्पष्ट कीजिये तथा उन परिस्थितियों का विवेचन कीजिये जिनके कारण सन् 1871 में जर्मनी की विदेश–नीति में परिवर्तन हुये?

अथवा

'सन् 1871 जर्मनी की नीतियो में एक विभाजन–रेखा है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये तथा बिस्मार्क इसके लिये कहाँ तक उत्तरदायी हैं? बताइये।

उत्तर– सन् 1871 में जर्मनी में नवीन युग का सूत्रपात हुआ। बिस्मार्क ने अपने अथक् प्रयत्नों और कूटनीतिक कुशलता से जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न कर लिया था और यूरोप में अब पेरिस के स्थान पर बर्लिन का महत्व बढ़ गया था। यूरोप की कोई भी राजनीतिक वार्ता या कार्यवाही सन् 1871 से 1890 तक बिस्मार्क के बिना पूरी नहीं मानी जाती थी। सन् 1870 तक बिस्मार्क की नीति का एकमात्र उद्देश्य जर्मनी का एकीकरण तथा जर्मन प्रदेशों को आस्ट्रिया, फ्राँस और अन्य विदेशियों से मुक्त कराना था और इसके लिये 'रक्त और लोहे' की नीति का पालन किया और अपने शत्रुओं को एकाकी बनाने के लिये सन्धि और समझौते किये। उस समय बिस्मार्क युद्ध को आवश्यक समझता था, परन्तु सन् 1871 में बिस्मार्क ने अपनी नीति में परिवर्तन किया।

बिस्मार्क–नीति में परिवर्तन– सन् 1871 में नवगठित, नवोदित जर्मन राष्ट्र की एकता, उसकी सुरक्षा तथा आर्थिक उन्नति के लिये बिस्मार्क ने युद्ध को एक अभिशाप समझा। बिस्मार्क अब चाहता था कि न केवल जर्मनी युद्ध से अलग रहे बल्कि यूरोप में अन्य देशों में युद्ध न हो पाये, अन्यथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जर्मनी को युद्ध करना ही पड़ता। अतः वह शांति, मानवता का पक्षधर बन गया और युद्ध को त्याज्य तथा बुरा कहने लगा, परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि बिस्मार्क स्वयं के लिये सशस्त्र शान्तिवाद चाहता था, क्योंकि वह अपनी राजनीतिक पैनी दृष्टि से यह भली–भाँति समझता था कि यूरोप में युद्ध प्रमुख तीन कारणों से हो सकते हैं– (1) फ्राँस के कारण, (2) रूस–आस्ट्रिया के कारण एवं (3) इंग्लैण्ड के साथ प्रतियोगिता के कारण।

(1) **फ्राँस के कारण**– बिस्मार्क ने फ्राँस से अल्सेस और लॉरेन के खनिज प्रधान क्षेत्र छीन लिये थे, जिसकी पीड़ा को वह भूल नहीं सकता था और इसके लिये वह कुछ भी, किसी भी समय करने को तैयार था। वह अपनी शक्ति बढ़ा रहा था और मित्रों की खोज में था। विक्टर ह्यूगो ने इस सन्दर्भ में कहा है कि– 'यूरोप में अब दो राष्ट्र भयंकर प्रमाणित होंगे– एक (जर्मनी), इस कारण कि वह विजेता था और दूसरा (फ्राँस), इस कारण कि वह पराजित था।'

(2) **रूस और आस्ट्रिया के कारण**– रूस और आस्ट्रिया दोनों के हित बाल्कन राज्यों में टकराते थे अतः दोनों में कभी भी युद्ध हो सकता था। दोनों एक–दूसरे को काले सागर में नहीं आने देना चाहते थे।

(3) **इंग्लैण्ड के साथ प्रतियोगिता के कारण**– बिस्मार्क यह भी भली–भाँति जानता था कि जो देश इंग्लैण्ड के साथ औपनिवेशक या सामुद्रिक प्रतियोगिता करेगा, उसका इंग्लैण्ड शत्रु होगा और इस समय इंग्लैण्ड की नाविक शक्ति सर्वश्रेष्ठ थी।

बिस्मार्क नीति के उद्देश्य– उपरोक्त तीनों संघर्षों की बात ध्यान में रखकर उसने अपनी नई नीति के नवीन उद्देश्य निर्धारित किये–

(1) **सीमा–विस्तार का परित्याग–** सन् 1870 के पश्चात् बिस्मार्क ने न केवल सीमा-विस्तार का त्याग किया बल्कि यूरोपीय देशों को उन पर आक्रमण न करने का आश्वासन भी दिया।

(2) **पूर्वस्थिति की रक्षा–** बिस्मार्क ने युद्ध का त्याग कर यथास्थिति या पूर्वस्थिति रखने का अथवा शान्ति रखने का प्रयत्न किया।

(3) **महाद्वीपीय हित–** उसने जर्मनी को एक महाद्वीपीय देश घोषित किया न कि साम्राज्यवादी देश अतः उसने उपनिवेशों की स्थापनाओं के प्रयत्न नहीं किये।

(4) **स्थलीय हित–** बिस्मार्क ने अपनी नीति का उद्देश्य सामुद्रिक नहीं, स्थलीय घोषित किया अतः उसने नाविक शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया परन्तु स्थलीय शस्त्रास्त्र और सेना बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न किया।

(5) **फ्राँस को एकाकी बनाना–** बिस्मार्क ने फ्राँस के आक्रमण की आशंका के कारण सन् 1890 तक सदैव उसे एकाकी, कमजोर और मित्रहीन बनाये रखने का प्रयत्न किया।

(6) **रूस पर ध्यान–** रूस यूरोप का नाजुक केन्द्र था और जरा भी उसके साथ व्यवहार में असावधानी होने पर जर्मनी का शत्रु फ्राँस के साथ वह कभी भी मिल सकता था अतः बिस्मार्क ने कभी भी उस पर से अपना ध्यान नहीं हटाया। रूस के साथ बिस्मार्क के संबंध उसकी विदेश–नीति की धुरी थे। स्वयं बिस्मार्क ने कहा है कि, 'जर्मन साम्राज्य की सन् 1871 से विदेश–नीति सदैव शांति बनाये रखने की और जर्मन–विरोधी गुट को बनने से रोकने की रही है और रूस इस नीति का केन्द्र–बिन्दु है।'

(7) **आस्ट्रिया से घनिष्ठता–** बिस्मार्क आस्ट्रिया की घनिष्ठता के महत्व को भली–भाँति समझता था तथा रूस और फ्राँस के खिलाफ इसे अनिवार्य मानता था। बिस्मार्क को फ्राँस के आक्रमण के कारण आस्ट्रिया की और बाल्कन प्रदेश पर रूस के आक्रमण के कारण आस्ट्रिया को जर्मनी की आवश्यकता थी। बिस्मार्क रूस की मित्रता को विश्वसनीय नहीं मानता था अतः उसने आस्ट्रिया के हितों का अधिक ध्यान रखा।

(8) **इंग्लैण्ड के साथ सद्भाव–** सामुद्रिक शक्ति में श्रेष्ठ इंग्लैण्ड के साथ बिस्मार्क ने सदैव सद्भावनापूर्ण संबंध बनाये रखने का प्रयत्न किया। इंग्लैण्ड अपने व्यापारिक हितों और औपनिवेशिक हितों को छोड़कर यूरोप की समस्याओं और संघर्षों में स्वयं को नहीं डालना चाहता था। इंग्लैण्ड की इस मनोवृत्ति के कारण बिस्मार्क ने उससे किसी भी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं की और सद्भाव बनाये रखा। इस कारण इंग्लैण्ड से न घनिष्ठ मित्रता (सन्धि) की, न शत्रुता की और न उसे फ्राँस का मित्र ही बनने को प्रेरित किया। अपनी नीति से उसे तटस्थ बनाये रखा।

(9) **इटली के प्रति अविश्वास–** आस्ट्रिया और फ्राँस के खिलाफ बिस्मार्क का सक्रिय सहयोगकर्ता देश इटली था, परन्तु बिस्मार्क को उस पर पूर्ण विश्वास नहीं था। इसके कारण थे कि इटली का एकीकरण भी पूर्ण हो चुका था और इटली के एकीकरण में बाधक फ्राँस और आस्ट्रिया से वह अपने प्रदेश ले चुका था। इटली अत्यन्त छोटा और कमजोर देश था अतः वह अपने स्वार्थ के लिये किसी भी ओर झुक सकता था। जर्मनी से दूर होने के कारण उस पर नियंत्रण रखना असंभव था। इटली के साथ नीति 'मैत्री और शत्रुता' के मध्य जुआ थी, फिर भी बिस्मार्क ने यह जुआ खेला और उसे अपने पक्ष में बनाये रखने में सफलता पाई।

(10) **पूर्वी समस्या के प्रति उदासीनता–** बिस्मार्क को पूर्वी समस्या में कोई भी रुचि नहीं थी, न वहाँ उसे भूमि, समुद्र–तट प्राप्त करने का लोभ था और न वहाँ की समस्याओं में वह उलझना चाहता था, अतः उसने कहा था कि, 'मैं कुस्तुनतुनियाँ से आने वाली डाक को खोलता ही नहीं हूँ।' परन्तु आस्ट्रिया की रुचि के कारण एक दृष्टि उस पर अवश्य रखता था।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि बिस्मार्क जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, फ्राँस और इटली को यूरोपीय राजनीति में प्रमुख और इंग्लैण्ड को तटस्थ देश मानता था और सुरक्षा तथा शक्ति–संतुलन के लिये इनमें से तीन को अपने पक्ष में बनाये रखना चाहता था। बिस्मार्क ने स्वयं रूसी राजदूत के सम्मुख इस नीति को रखते हुये कहा था कि– 'आप यूरोपियन शतरंज के बोर्ड पर तीन देशों की मित्रता के महत्व को भूल जाते हैं। यदि इस सूत्र (फार्मूले) को स्वीकार नहीं किया जाता तो सम्पूर्ण राजनीति उन्हें स्वयं को कमजोर कर देगी। विश्व को पाँच शक्तियाँ नियन्त्रित करती हैं, इसको समझने का प्रयास कीजिये।'

बिस्मार्क की नीतियाँ और सन्धियाँ– बिस्मार्क ने सन् 1871 के पूर्व जो भी सन्धियाँ और समझौते किये थे, वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जर्मनी के आस्ट्रिया और फ्राँस पर आक्रमण में मदद प्राप्त करने के संबंध में थे, किन्तु अब जो संधियाँ की गयीं, वह आक्रमण के लिये नहीं थीं, बल्कि जर्मनी को सुरक्षित और सम्पन्न बनाने के लिये थीं।

(1) **तीन सम्राटों का संघ–** बिस्मार्क ने सन् 1873 में तीन सम्राटों का संघ बनाया। इसमें जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के सम्राट थे। इसके बनाने का कारण यह था कि पूर्वी समस्या में आस्ट्रिया और रूस के संबंध तनावपूर्ण थे अतः वह उनमें सद्भावना उत्पन्न करना चाहता था और रूस को फ्राँस का मित्र नहीं बनने देना चाहता था। इसमें शान्ति के लिये पारस्परिक सहयोग और यदि युद्ध की अवस्था उत्पन्न हो जाये तो तीनों परस्पर विचार–विमर्श से समाधान ढूँढेंगे। यह संघ सन् 1887 तक चला और कुछ परिवर्तनों के साथ सन् 1881 और सन् 1884 में इसकी पुनरावृत्ति की गई। अब संशोधन यह किया गया कि तीनों में से किसी पर चौथा देश आक्रमण करे तो दोनों मित्र तटस्थ रहेंगे। इससे बिस्मार्क ने फ्राँस के आक्रमण के विरुद्ध रूस–फ्राँस की मित्रता को रोक दिया और रूस के आस्ट्रिया पर आक्रमण की दशा में जर्मनी की तटस्थता की कमी को द्विराज्यीय संधि से पूरा कर दिया। इस संघ को 'ड्रेक कैसर बुन्ड' भी कहते हैं।

(2) **द्विराज्यीय संधि–** सन् 1878 की बर्लिन संधि से जर्मनी और रूस के संबंध पुनः खराब हो गये थे। सन् 1873 में जर्मनी की तटस्थता से आस्ट्रिया स्वयं को अकेला समझने लगा। इसी समय बिस्मार्क ने द्विवर्गीय संधि कर आस्ट्रिया को सहायता का वचन दिया। इसके अनुसार यदि रूस आस्ट्रिया पर आक्रमण करे तो आस्ट्रिया तटस्थ रहेगा और यदि रूस की सहायता से आक्रमण करे तो आस्ट्रिया मदद करेगा। यह पाँच वर्षीय गोपनीय संधि थी। यह संधि सन् 1879 में हुई।

यह संधि बिस्मार्क की राजनीतिक अनैतिकता को प्रगट करती है। सन् 1873 में बिस्मार्क ने रूस–आस्ट्रिया युद्ध में जर्मनी की तटस्थता का आश्वासन दिया था, परन्तु यहाँ रूस के खिलाफ सक्रिय सहायता का वचन आस्ट्रिया को दिया। इससे आस्ट्रिया को सक्रिय मित्र और जर्मनी को तटस्थ मित्र मिला और रूस–फ्राँस की संभावित संधि के खिलाफ बिस्मार्क को सक्रिय मित्र मिला।

(3) त्रिवर्गीय संधि– सन् 1871 में बना तीन सम्राटों का संघ सन् 1876 में समाप्त हो चुका था, जिसके कारण सन् 1879 में बिस्मार्क ने द्विवर्गीय संधि कर ली थी। बिस्मार्क जानता था कि बर्लिन सम्मेलन (1879) से असंतुष्ट रूस अवश्य फ्राँस की ओर झुकेगा। यद्यपि रूस पर उसे विश्वास नहीं था फिर भी उसने सन् 1881 में पुनः तीन सम्राटों का संघ बनाने में सफलता प्राप्त की। इसी समय इटली ट्यूनिश पर अधिकार करने को प्रयत्नशील हुआ। उस पर इस समय फ्राँस का अधिकार था अतः बिस्मार्क ने इटली को द्विवर्गीय संधि में सन् 1882 में शामिल कर लिया और त्रिवर्गीय संधि का निर्माण किया। इसके अनुसार इटली ने आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रचार न करने का वचन दिया, दूसरी ओर इटली को फ्राँस से रक्षा का वचन दिया गया। यदि फ्राँस का आक्रमण दोनों में से किसी पर होगा तो तीनों मिलकर उसका सामना करेंगे। इससे आस्ट्रिया को रूसी आक्रमण के समय इटली की तटस्थता मिल गई। यह गुट फ्राँस के लिये चिंता का कारण भी बन गया। इस संधि को सन् 1887 में पुनः दोहराया गया। इसके पश्चात् सन् 1883 में जर्मनी, आस्ट्रिया और रूमानिया में गुप्त संधि हो गई।

(4) पुनराश्वासन संधि– सन् 1887 में तीन सम्राटों के संघ को पुनः बनाये रखने के लिये संधि हुई। एक बार पुनः रूस को फ्राँस से न मिलने देने में और रूस–आस्ट्रिया युद्ध को रोकने में सफल प्रयत्न किया गया।

(5) इंग्लैण्ड के साथ संबंध– बिस्मार्क ने इंग्लैण्ड को सदैव संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया। इसके लिये उसने औपनिवेशिक विस्तारवादी नीति नहीं अपनाई बल्कि उसे प्रसन्न रखने के लिये उसने पूर्वी समस्या में कोई रुचि नहीं दिखाई।

निष्कर्ष– सन् 1871 निश्चय ही यूरोप के इतिहास का एक परिवर्तन–बिन्दु था। सन् 1871 में बिस्मार्क की विदेश–नीति के उद्देश्य आक्रमण के स्थान पर शान्तिवादी हो गये। संधि और समझौते भी इसी उद्देश्य से प्रेरित थे अतः यह युग (1871–90) बिस्मार्क का युग कहलाता है, किन्तु बिस्मार्क के हटने के बाद उसकी नीति को छोड़कर जर्मनी ने यूरोप को युद्ध तक पहुँचा दिया। स्पष्ट है कि बिस्मार्क ने परिस्थिति के अनुकूल अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।

प्रश्न–7. जर्मनी के एकीकरण के बाद बिस्मार्क की समाजवादियों के प्रति नीति को समझाइये।

अथवा

बिस्मार्क की सन् 1870–90 के मध्य गृह–नीति का विवेचन कीजिये और उसकी चर्च और समाजवाद के प्रति नीति के परिणाम स्पष्ट कीजिये।

अथवा

कुल्टर काम्फ से आप क्या समझते हैं? सविस्तार लिखिये।

अथवा

बिस्मार्क–कैथोलिक संघर्ष का विवेचन कीजिये।

उत्तर– सन् 1871–90 तक जर्मनी में और यूरोप में बिस्मार्क का युग था। बिस्मार्क ने सन् 1865 से 1870 तक समस्त जर्मन प्रदेश और जर्मन जनता को नवीन स्वतंत्र, संगठित राष्ट्र के रूप में संगठित कर दिया था। उसके प्रबल शत्रु आस्ट्रिया और फ्राँस पराजित हो चुके थे। रूस की ओर से आक्रमण की आशंका नहीं थी, इटली शक्तिहीन था अतः अब बिस्मार्क ने जर्मनी की राजनैतिक और आर्थिक उन्नति कर यूरोप में उसे सम्पन्न और शक्तिशाली देश बनाने का संकल्प किया।

(1) सन् 1871 का नवीन संविधान– सन् 1870 में जर्मनी एक संघ–राज्य था, परन्तु अब वह एक निरंकुश सम्राट के अन्तर्गत एक साम्राज्य बनाया गया, जिसके लिये सन् 1871 में एक नवीन संविधान का निर्माण किया गया। इसके प्रमुख भाग निम्नलिखित थे–

(क) सम्राट– बिस्मार्क प्रजातंत्र या गणतंत्र को उचित नहीं मानता था। वह शासक की प्रबुद्ध निरंकुशता में विश्वास करता था अतः नवीन संविधान में सम्राट को सर्वोच्च और सर्वप्रमुख अधिकारी रखा गया। प्रधानमंत्री सम्राट के प्रति उत्तरदायी होता था। प्रधानमंत्री एवं अन्य मंत्रियों की नियुक्ति, विदेश मामलों का निर्णय, विदेशी राजदूतों का स्वागत, युद्ध बन्द करने या आरम्भ करने, विधानसभा के अधिवेशन बुलाना, भंग करना या उसके निर्णय को स्वीकार या अस्वीकार करना आदि सम्राट के अधिकार निश्चित किये गये। न्याय का भी वह सर्वोच्च प्रधान था।

(ख) प्रधानमंत्री– प्रधानमंत्री या चान्सलर की नियुक्ति और पदच्युति सम्राट द्वारा होती थी। वह सम्राट के प्रति उत्तरदायी होता था तथा अपर हाउस का वह चेयरमैन होता था। वह दोनों भवनों में बैठ सकता था, भाषण कर सकता था तथा मतदान कर सकता था।

(ग) व्यवस्थापिका सभा– इसमें दो सदन थे प्रथम था साम्राज्य परिषद् (बुन्डसराट) और द्वितीय था लोकसभा (रीश्टाग)। साम्राज्य परिषद् में प्रशा के 17, बवेरिया के 6, सेक्सनी के 4, बूर्टमवर्ग के 4, वेडेन के 3 और हेस के 3 प्रतिनिधि थे। अन्य छोटे–छोटे राज्यों के एक–एक प्रतिनिधि थे। इसके अधिवेशन गुप्त होते थे। इसमें सामान्यतः प्रतिनिधि मतदान अपने–अपने राजाओं के अनुसार ही करते थे। प्रजातंत्र का इसमें अभाव था। यही सदन संविधान में संशोधन कर सकता था, परन्तु 14 प्रतिनिधियों के मत विपरीत होने पर संशोधन नहीं हो सकता था। इसमें 17 मत सदैव प्रशिया के हाथ में रहते थे। यह सदन बजट का निर्माण, ऑडिट, सम्राट को युद्ध–घोषणा की आज्ञा, रीश्टाग को भंग करने की आज्ञा देता था। राजदूतों, पदाधिकारियों की नियुक्ति का इससे परामर्श लिया जाता था। यह अंतिम अपील अदालत का कार्य भी करता था। केन्द्र तथा संघीय सरकारों के झगड़ों का निर्णय करता था। कानूनों का प्रस्ताव पारित करने का इसे अधिकार था तथा यह अध्यादेश जारी करता था।

लोकसभा में 397 जन–प्रतिनिधि थे। इनका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता था। विधेयक प्रारम्भ में इसी में रखे जाते थे, बाद में साम्राज्य परिषद् में स्वीकृति के लिये जाते थे। लोकसभा विधेयक को पारित नहीं कर सकती थी। सेना संबंधी बजट अनेक वर्षों तक एक बार में निश्चित कर दिया जाता था। नवीन करों को लगाने के लिये इसका मत लिया जाता था। धन संबंधी विधेयकों पर इस सदन को पूरा करने का अधिकार था। इसे सेना, रेल, डाक, तार तथा वाणिज्य के संबंध में कानून बनाने का भी अधिकार था।

(घ) न्यायपालिका– जर्मन साम्राज्य में संघीय सर्वोच्च न्यायपालिका थी। देश–द्रोह के मुकद्दमे और राज्यों की अपील भी सुप्रीम कोर्ट में जाते थे, परन्तु यह कानूनों की व्याख्या नहीं कर सकता था। बिस्मार्क ने एक संविधान का निर्माण कर केन्द्र या प्रशिया को प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक स्थान पर शक्तिशाली बनाये रखा। बिस्मार्क ने सम्राट की शक्ति को बढ़ाया और अनुत्तरदायी शासन स्थापित किया। इस प्रकार प्रशिया, प्रशियन सम्राट की सम्पूर्ण जर्मनी में और यूरोप में प्रधानता स्थापित हो गई।

(2) आन्तरिक समस्यायें– बिस्मार्क के सम्मुख सर्वप्रथम समस्या फ्राँस के आक्रमण से देश की सुरक्षा की थी। द्वितीय समस्या अल्पसंख्यक जातियों की थी जो जर्मनी को अपना देश, जर्मन शासन को और सम्राट को अपना नहीं मानती थीं और उनका विरोध समस्या बना हुआ

था। 350 लाख पोल, 1-1/2 लाख डेन, 18 लाख अल्सेस और लॉरेनवासी थे। साम्राज्य के प्रशासन में अनेक विभिन्नतायें और असमानतायें थीं। व्यवस्थापिका-सभा में समाजवादी और कैथोलिक चर्च के लोग बिस्मार्क विरोधी थे। इन समस्याओं का समाधान करने के लिये बिस्मार्क ने निम्न प्रयत्न किये-

(अ) जर्मनी का सैनिकीकरण- बिस्मार्क ने फ्राँस-विरोधी संधि और समझौतों की नीति अपनाई, परन्तु इसके साथ-साथ उसके द्वारा जर्मनी की सैनिक-क्षमता बढ़ाने के लिये साम्राज्य में सैनिक सेवा अनिवार्य बना दी गई। सेना को पुनः संगठित, शस्त्रास्त्र-सम्पन्न बनाया गया और नवीन सुधार किये गये। सैनिकों की संख्या 4 लाख करने का लक्ष्य रखा गया। सेना का सात वर्षीय व्यय भी एक बार में ही निश्चित करवा लिया गया। मोल्टाके का यह कथन सत्य दिखाई देता है कि 'जर्मनी ने जो कुछ प्राप्त किया है, उसकी 50 वर्ष तक रक्षा सशस्त्र रहने से ही हो सकती है।'

(ब) अल्प-संख्यकों की संस्कृति का दमन- बिस्मार्क ने अल्पसंख्यकों की सभ्यता और संस्कृति में परिवर्तन कर उसे जर्मन वातावरण में ढालने का प्रयत्न किया। इसके लिये उसने दमन का भी आश्रय लिया, फिर भी ये समस्यायें समाप्त नहीं हुईं।

(स) प्रशासनिक एकता स्थापित करना- नेपोलियन ने प्रशासनिक एकता के द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को उत्पन्न कर दिया था, परन्तु वियेना कांग्रेस ने इस व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर डाला था, अतः बिस्मार्क ने मुद्रा, बैंकिंग, रेल्वे, खदान, न्याय, उद्योग, कृषि तथा व्यापार आदि के लिये साम्राज्य में समान व्यवस्था स्थापित कर देश को एकता और समृद्धि के सूत्र में संगठित कर दिया।

(द) विरोधियों का दमन- बिस्मार्क ने जर्मन राष्ट्रीयता के विरोधियों का दमन किया, जिनमें चर्च और समाजवादी दमन की नीति प्रमुख है। यहूदी-दमन भी किया गया। बिस्मार्क किसी भी रूप में किसी भी विदेशी शक्ति (चाहे राजनीतिक हो या धार्मिक) को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जर्मनी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहता था और साम्राज्य के उन जर्मन या अजर्मन जातियों, दलों को किसी विदेशी शक्ति के द्वारा सहायता प्राप्त करने को भी "राष्ट्र-द्रोह" मानता था।

(3) कुल्टरकाम्फ- बिस्मार्क के चर्च से संघर्ष को कुल्टर-काम्फ कहते हैं। जर्मनी में यद्यपि प्रोटेस्टेंट चर्च के अनुयायी थे, परन्तु कैथोलिक चर्च के अनुयायियों की भी पर्याप्त संख्या थी। बिस्मार्क चर्च के प्रति असहिष्णु नहीं था फिर भी उसने कैथोलिक चर्च का दमन किया, इसके अनेक कारण थे।

कारण- कैथोलिक जर्मनी के एकीकरण के विरोधी तो थे ही, एकीकरण में बाधक स्वदेशी और विदेशी शक्तियों की सहायता भी करते रहते थे। एकीकरण के बाद भी इनमें देश-प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ। इनका प्रधान एक विदेशी (इटालियन) पोप था जिसके प्रति उनकी आज्ञाकारिता, बफादारी थी। उसके संकेत पर कैथोलिक जर्मन कानूनों को, अनुशासन को, पुलिस व्यवस्था को तोड़ने में संकोच नहीं करते थे और अभी भी राजनैतिक रूप में आस्ट्रियन कैथोलिक सम्राट को अपना प्रधान मानते थे। सन् 1866 में आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध के समय चर्च में आस्ट्रियन सम्राट की विजय के लिये सामूहिक प्रार्थनायें की गई थीं। जर्मनी के धार्मिक कर (टाईथ) का एक बड़ा भाग पोप के पास चला जाता था, जिसका उपयोग कभी-कभी देश के खिलाफ भी किया जाता था। पोप ने बिस्मार्क के द्वारा चर्च में सुधार के लिये जो कानून बनाया था, उसका विरोध किया, अतः दोनों में संघर्ष उत्पन्न हो गये।

चर्च का दमन और कानून- बिस्मार्क कहा करता था कि, 'ये (कैथोलिक) प्रशिया में विरोधी हैं' अतः इनका दमन करने के लिये फॉक (FALK) को सन् 1872 से 1876 तक नियुक्त किया। इस अवधि में उसने क्रमशः एक के बाद एक अनेक कानूनों की श्रृंखला का निर्माण किया। प्रत्येक कानून के बाद कैथोलिकों में सुधार की अपेक्षा और प्रतीक्षा की गई, परन्तु इनसे उनमें प्रत्येक बार प्रतिक्रिया, विरोध और बहिष्कार या अवहेलना की भावना ही उत्पन्न हुई।

सन् 1873 में धार्मिक बहिष्कार (चर्च के द्वारा) को अवैध बनाया गया। धार्मिक दण्ड के विरुद्ध अपील के लिये सामान्य न्यायालय स्थापित किये गये। पादरियों को राज्य के विद्यालयों में तीन वर्षीय पाठ्यक्रम पढ़ना और सामान्य ज्ञान की परीक्षा देना और उत्तीर्ण करना अनिवार्य किया गया। कैथोलिक शिक्षालयों को राजकीय निरीक्षण में ले लिया गया। पादरियों की नियुक्ति और पदच्युति पर राज्य का अधिकार हो गया। सन् 1874 में कानून की अवहेलना करने पर पादरियों को बन्दी बनाने और दण्ड देने की व्यवस्था की गई। सन् 1876 में सभी धार्मिक क्षेत्रों को विघटित कर दिया गया। सिविल मैरिज अनिवार्य की गई। सभी उपाधियाँ समाप्त कर दीं, आर्थिक सहायता बन्द कर दी गई, धार्मिक उत्सव के अधिकार छीन लिये गये, पादरियों पर उपदेश के लिये यात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। जर्मन-भाषा को राष्ट्रीय भाषा और चर्च की भाषा बनाया गया तथा पोप से संबंध तोड़ दिये गये।

समझौता- पोप पायस नवम् बिस्मार्क-नीति का विरोधी और असमझौतावादी था। उसने उपरोक्त सभी कानूनों को अवैध घोषित किया और उनके बहिष्कार का आदेश दिया। सन् 1877 के लोकसभा के चुनाव में कैथोलिक सर्वाधिक बड़े विपक्षी दल के (92) रूप में जीते। एक बार पुनः इस कारण कठोर दमन किया गया और सभी विशप और पादरी बन्दी बना लिये गये। कैथोलिकों को नौकरियों से हटा दिया गया परन्तु विजय से उत्साहित होकर प्रतिक्रिया और संघर्ष तथा सन् 1877 में रीश्टाग में संख्या वृद्धि हो गई। दूसरी ओर समाजवादी शक्तियाँ बढ़ रहीं थीं, जो राजतंत्र-विरोधी थीं अतः बिस्मार्क ने समझौते के प्रयास आरम्भ किये। संयोग से पोप पायस की मृत्यु के पश्चात् पोप लियो, जो उदारवादी और मानवीय भावना का समर्थक था, सन् 1880 में पोप बना अतः दोनों में समझौता हो गया, जिसके अनुसार निम्न शर्तें निर्धारित की गयीं- (1) सन् 1866 के कठोर कानून समाप्त कर दिये गये। (2) विद्यालयों पर से नियंत्रण हटा। (3) विशपों की नियुक्ति सम्राट के द्वारा पोप की अनुमति से होगी। (4) समाजवादियों के दमन में कैथोलिक राज्य का साथ देंगे।

(4) समाजवाद और बिस्मार्क- कैथोलिक चर्च के समान ही समाजवादियों से संघर्ष के कारण उत्पन्न हुये।

कारण- सभी समाजवादी बिस्मार्क के राष्ट्रवादी, राजतंत्रवादी और निरंकुश सत्ता के विरोधी थे। बिस्मार्क प्रजातंत्र को घृणा की दृष्टि से देखता था। समाजवादी विचारधारा का निरन्तर प्रचार और प्रसार होता जा रहा था। सन् 1874 में रीश्टाग में इनके 9 सदस्य थे, किन्तु सन् 1875 में 12 सदस्य हो गये और पाँच लाख मत मिले। समाजवादी किसी धर्म-विशेष और देश-विशेष को नहीं मानते थे। अन्तर्राष्ट्रीयवादी होने के कारण वे अन्य किसी भी देश से सहायता ले सकते थे, दूसरे देशों के श्रमिकों से सहयोग कर सकते थे और हिंसक क्रान्ति कर राज्य-सत्ता छीन सकते थे। सन् 1878 ई. में 11 मई को हॉडेल ने, 2 जून को नोबलिंग ने सम्राट विलियम प्रथम की हत्या के प्रयास किये।

दमन और कानून- सन् 1878 में समस्त समाजवादी प्रकाशनों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये तथा पुलिस को समाजवादियों को बन्दी बनाने और निर्वासन के विशेष अधिकार दिये

गये तथा फौजी कानून बनाये गये और उनकी दो बार पुनरावृत्ति की गई, परन्तु इस दमनचक्र का प्रभाव विपरीत हुआ और रीश्टाग में क्रमशः सन् 1878 में 12 तथा सन् 1890 में 35 सदस्य बढ़ गये अतः बिस्मार्क को दमनकारी कानून वापस लेने पड़े।

(5) **सफल सामाजिक कानून**– समाजवादी दमन के लिये बिस्मार्क ने एक ओर दमनचक्र आरम्भ किया तो दूसरी ओर उद्योग और श्रमिकों की दशाओं में सुधार का रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया, जिससे देश की उन्नति के साथ–साथ श्रमिकों का समाजवादियों के प्रति आकर्षण बहुत कम हो गया।

सन् 1883 में बिस्मार्क द्वारा श्रमिकों, सैनिकों की बीमारी के विरुद्ध और सन् 1884 में दुर्घटनाओं के खिलाफ बीमे की व्यवस्थायें की गयीं। सन् 1887 में स्त्रियों और बालकों के समय और श्रम का निर्धारण किया गया। कारखाने और खदानों का नियंत्रण किया गया। वृद्धावस्था के लिये भी बीमा होने लगा जिसकी एक किश्त श्रमिक, दूसरी पूँजीपति और तीसरी किश्त राज्य देता था। उद्योग, शिल्प का विकास हुआ तथा उनकी दशाओं में बहुत सुधार हुये।

(6) **आर्थिक नीति (संरक्षण प्रणाली)**– जर्मनी की कृषि और उद्योग की दशा को सुधारने के लिये, प्रोत्साहित करने के लिये और विदेशियों से प्रतियोगिता से बचाने के लिये बिस्मार्क ने संरक्षण नीति आरम्भ की। अनेक आन्तरिक चुँगी केन्द्र कम कर दिये। विदेशी माल पर भारी आयात–कर लगाये। इसके लिये यातायात, बैंकिंग–प्रणाली और डाक–प्रणाली में सुधार किये गये।

गृह–नीति का मूल्यांकन– बिस्मार्क की विदेश–नीति के आलोचकों का कहना है कि इससे देश की एकता समाप्त हो गई तथा कैथोलिक और समाजवादी शक्तियों के प्रति बिस्मार्क पूर्णरूपेण असफल रहा, परन्तु अनेक इतिहासकारों का कहना है कि बिस्मार्क के सामाजिक, आर्थिक सुधार तथा संविधान ने जर्मनी को शक्तिशाली बनाया।

यह भी सत्य है कि बिस्मार्क–नीति ने सम्राट की निरंकुशता में वृद्धि की और नवीन सम्राट ने इसी कारण बिस्मार्क को हटने के लिये विवश कर दिया। संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी जो इसे नियंत्रित कर सके, किन्तु श्रमिकों और उद्योगों के प्रति बिस्मार्क ने विश्व को नवीन विचारधारा दी, जिसे बाद में 'राज्य समाजवाद' कहा गया।

प्रश्न–8. सन् 1870 के पश्चात् बिस्मार्क की विदेश–नीति के क्या उद्देश्य थे? उनकी प्राप्ति में वह कहाँ तक सफल रहा? बताइये।

अथवा

'बिस्मार्क ऐसा जादूगर था जो पाँच गेंदों से एक साथ खेल सकता था, जिनमें से तीन हमेशा हवा में और दो हाथ में रहती थीं।' इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

सन् 1870 के बाद बिस्मार्क की विदेश–नीति पर प्रकाश डालिये।

अथवा

'सन् 1871 से 1890 तक बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी यूरोप की राजनीति का केन्द्र था।' इस कथन की विवेचना कीजिये।

उत्तर– 'युद्ध के बाद शांति' प्रशिया के लिये आवश्यक थी। जर्मनी का संगठन, आर्थिक उन्नति, उद्योग, शिल्प, यातायात, शस्त्रास्त्र निर्माण, सैन्य कुशलता के लिये बिस्मार्क ने ऐसी सन्धियाँ और समझौते किये, जिनके कारण युद्ध की सम्भावना से प्रशिया बिस्मार्क के काल (1890) तक बचा रहा।

विदेश–नीति के उद्देश्य– सन् 1870 के बाद प्रशिया या बिस्मार्क की नीति का प्रमुख उद्देश्य यूरोप में शांति बनाये रखना, फ्राँस को अकेला और कमजोर रखना तथा स्वयं को शक्तिशाली बनाये रखना था। बिस्मार्क के इस परिवर्तन और नीति को समझने के लिये उसके काल की घटनाओं और उनमें छिपे उद्देश्यों का परीक्षण करना आवश्यक होगा–

(1) **यूरोप में शांति**– नवोदित राष्ट्र प्रशिया की यह मात्र आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता थी, क्योंकि बिस्मार्क प्रशिया को प्रथम श्रेणी का सर्वोच्च शक्ति और धन–सम्पन्न राष्ट्र बनाना चाहता था। यूरोप में किसी भी कारण से किसी भी स्थान पर होने वाले युद्ध से प्रशिया की उन्नति में बाधा पहुँच सकती थी। अतः अब उसका प्रमुख लक्ष्य युद्ध को रोकना और शांति बनाये रखना था।

(2) **फ्राँस को अकेला बनाये रखना**– बिस्मार्क स्वयं अपने कार्यों के आधार पर भलीभाँति समझता था कि फ्राँस अल्सास और लॉरेन छीने जाने की घटना और अपने राष्ट्रीय अपमान को कभी भूल नहीं सकता। अतः उसने फ्रेंकफुर्ट में क्षतिपूर्ति की भारी राशि वसूल इसलिये की थी कि इससे एक ओर फ्राँस आर्थिक रूप से कमजोर होगा और फ्राँस में दूसरी ओर राजनीतिक मतभेदों के कारण संघर्ष होंगे, जिसके कारण फ्राँस एक लम्बे समय तक प्रशिया से लड़ने में असमर्थ होगा। इसी उद्देश्य के लिये बिस्मार्क ने फ्राँस को अकेला करने के लिये विभिन्न संधियाँ और समझौते करने की नीति अपनाई।

(3) **त्रिराष्ट्र संगठन**– सन् 1871 में बिस्मार्क ने प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस के मध्य एक संगठन किया, जिसमें तीन लक्ष्य निर्धारित किये गये–

(अ) सन् 1870 की सीमाओं की रक्षा।

(ब) बाल्कन समस्याओं का तीनों को मान्य हल निकालना।

(स) स्वदेशों में क्रांति भावना का दमन।

इसमें यद्यपि फ्राँस का नाम नहीं है परन्तु प्रथम शर्त विशेष रूप से फ्राँस–विरोधी है, क्योंकि सन् 1870 की सीमाओं को खतरा फ्राँस से ही होने वाला था। संघर्ष बाल्कन राज्य में रूस, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड में हो सकता था अतः मान्य हल के बहाने युद्ध को रोका जा सकता था। युद्ध के लिये क्रांति का दमन भी आवश्यक था। लीग का अन्त हुआ और बर्लिन सम्मेलन में बिस्मार्क ने रूस की उपेक्षा कर आस्ट्रिया का पक्ष लिया।

(4) **द्विवर्गीय संधि**– सन् 1879 में आस्ट्रिया और प्रशिया के मध्य यह संधि हुई, क्योंकि प्रशिया के व्यवहार से रूस भी नाराज हो गया था अतः रूस–फ्राँस संधि की आशंका थी। यह संधि पूर्णतः रक्षात्मक थी। इसमें कहा गया था कि–

(अ) रूस द्वारा मित्रों में से किसी पर आक्रमण होने की दशा में मित्र सहायता करेंगे।

(ब) फ्राँस का आक्रमण होने की दशा में मित्र तटस्थ रहेंगे।

(स) रूस फ्राँस को मदद करे तो मित्र भी सहायता करेंगे।

इस प्रकार यह संधि भी युद्ध को रोकने और फ्राँस को अकेला रखने का ही प्रयास था।

(5) **सन् 1881 में पुनः त्रिराष्ट्र संगठन**– जर्मन, रूस और आस्ट्रिया में मात्र सावधानी के लिये और रूस फ्राँस की ओर न जाये, इसलिये रूस और फ्राँस नियन्त्रित करने के लिये पुनः संगठन बनाया गया।

(अ) तीनों में से अन्य किसी पर अन्य चौथी शक्ति का आक्रमण हो तो मित्र तटस्थ रहेंगे।

(ब) तटस्थ देश युद्ध सीमित करने का प्रयास करेंगे।

(स) सन् 1878 के बर्लिन सम्मेलन का रूस उल्लंघन नहीं करेगा।

(द) तुर्की की समस्या को तीनों मिलकर सुलझायेंगे।

(6) त्रिवर्गीय संधि– सन् 1882 में बिस्मार्क ने द्विवर्गीय संधि में इटली को मिलाकर त्रिवर्गीय संधि बनायी, जिसके अनुसार–

(अ) इटली की फ्राँस के आक्रमण से रक्षा की जायेगी।

(ब) यदि इटली और प्रशिया पर फ्राँस का आक्रमण होगा तो दोनों परस्पर सक्रिय सहायता करेंगे।

इस संधि से आस्ट्रिया और इटली में युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गई। इटली को फ्राँस के आक्रमण की आशंका थी, क्योंकि फ्रेंको–प्रशियन युद्ध में इटली ने प्रशिया का साथ दिया था। इस प्रकार इटली की शक्ति में वृद्धि हो गई और फ्राँस के अकेला हो जाने से यह भय समाप्त हो गया।

(7) पुनराश्वासन संधि– बिस्मार्क को रूस पर जरा भी विश्वास नहीं था और न उसकी सक्रिय सहायता की उसे आवश्यकता थी, परन्तु कोंसटेन्टिनोपल के प्रश्न पर आस्ट्रिया और रूस में कभी भी संघर्ष हो सकता था और रूस फ्राँस से भी मित्रता कर सकता था अतः इन दोनों ही घटनाओं को रोकने के लिये बिस्मार्क ने सन् 1884, 1890 में पुनराश्वासन संधियाँ कीं और इसके पूर्व त्रिराष्ट्र संघ बनाये, परन्तु यह बिस्मार्क की राजनैतिक अनैतिकता थी, क्योंकि बिस्मार्क ने द्विवर्गीय संधि में रूस के आक्रमण के विरुद्ध आस्ट्रिया को सक्रिय सहायता का वचन दिया था और पुनराश्वासन संधि में यदि कोई यूरोपीय राष्ट्र किसी पर आक्रमण करे तो मित्र तटस्थ रहेंगे अर्थात् रूस के खिलाफ तो बिस्मार्क आस्ट्रिया को मदद देता, परन्तु यदि आस्ट्रिया रूस पर आक्रमण करे तो बिस्मार्क रूस की सहायता नहीं कर करता। इसकी पोल सन् 1879 में खुली, परन्तु इस अनैतिकता के कारण सन् 1890 के बाद ही रूस–फ्राँस मित्र बन गये, तब बिस्मार्क त्यागपत्र दे चुका था।

संधियों का प्रभाव– बिस्मार्क अपने सेवाकाल में अपने उद्देश्यों में सफल रहा। फ्राँस सदैव अकेला रहा, यूरोप में युद्ध नहीं हुआ। प्रथम महायुद्ध उसके लिये विनाशकारी सिद्ध हुआ।

प्रश्न–9. 'द्विवर्गीय संधि ने बिस्मार्क की राजनैतिक अनैतिकता को ही स्पष्ट नहीं किया, बल्कि सन्धि और समझौतों में विश्वास को ही हिला दिया।' यह कहना कहाँ तक उचित होगा?

अथवा

त्रि–राष्ट्र समझौते और द्विवर्गीय सन्धि के सम्बन्ध में बिस्मार्क के लिये 'ईमानदार दलाल' की उपाधि की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– सन् 1870 में बिस्मार्क की महान् राजनैतिक और कूटनीतिक चालों के परिणामस्वरूप जर्मनी व प्रशा के अन्तर्गत एकीकरण हो गया। इसके पूर्व बिस्मार्क की विदेश–नीति का लक्ष्य पूर्णरूपेण फ्राँस, आस्ट्रिया को पराजित कर जर्मनी को मुक्त कराना था। सन् 1871 में नवोदित् जर्मनी को सुदृढ़ और सम्पन्न बनाना उसका उद्देश्य हो गया तथा रूस, आस्ट्रिया और फ्राँस के भावी संघर्षों से जर्मनी को सुरक्षित रखने के लिये विश्व शांति अथवा युद्ध नहीं, शांतिवार्ता की नीति अपनाई, परन्तु यह नीति सशस्त्र शांतिवाद की नीति भी थी।

त्रिराष्ट्र–सन्धिः फ्रान्स– बिस्मार्क भलीभाँति जानता था कि फ्राँस लौह तथा कोयले के खनिज प्रधान क्षेत्र अल्सेस और लॉरेन, जिनसे फ्राँस के औद्योगिकीकरण में बहुत बड़ी बाधा पड़ी थी, अवश्य लेने का प्रयत्न करेगा तथा फरवरी, 1871 में फ्रेंकफुर्ट संधि के समय फ्राँस के नेताओं और जनता में बिस्मार्क के कठोर व्यवहार और अपमानजनक संधि के कारण जो राष्ट्रीय क्रोध और असंतोष प्रगट हुआ, उससे भी यह स्पष्ट था कि अवसर प्राप्त होते ही फ्राँस आक्रमण करेगा और मित्र की खोज करेगा। फ्राँस ने गृहयुद्ध का खतरा उठाकर भी युद्ध–क्षति की 20 करोड़ पौण्ड की राशि तीन वर्ष के पूर्व अदा करके प्रशियन सेनाओं को फ्राँस के बाहर निकलने के लिये (शर्त के अनुसार) विवश कर दिया। यह सब जर्मनी के लिये

भावी खतरे की चेतावनी थी और बिस्मार्क के सम्मुख इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था कि जब तक हो सके, तब तक फ्राँस को यूरोप में एकाकी, कमजोर तथा उसके आर्थिक संघर्षों में उलझाये रखा जाये और बिस्मार्क जब तक रहा, तब तक इसके लिये सफलता से कार्य करता रहा।

रूस– बिस्मार्क रूस की परिस्थिति को भी समझता था। सन् 1855 में क्रीमिया–युद्ध के समय से ही रूस फ्राँस के द्वारा इंग्लैण्ड को रूस पर आक्रमण में सहायता देने के कारण फ्राँस से नाराज था। इस पराजय के पश्चात् रूस में निरन्तर अराजकता फैली हुई थी, परन्तु रूस किसी भी कीमत पर कृष्ण सागर पर अधिकार कर समुद्र तट पाना चाहता था। इसके लिये वह आस्ट्रिया से कभी भी युद्ध कर सकता था। आस्ट्रिया इस समय बिस्मार्क का सर्वाधिक मित्र था, अतः रूस फ्राँस की ओर मित्रता के लिये झुक सकता था तथा बाल्कन राज्यों की विजय के द्वारा अपने राज्य की अराजकता को दूर करना चाहता था, परन्तु रूस प्रशिया से संघर्ष मौल भी नहीं लेना चाहता था और न यह चाहता था कि जर्मनी रूस–आस्ट्रिया युद्ध में आस्ट्रिया का साथ दे, अतः जर्मनी से संधि करने को तैयार हो सकता था।

आस्ट्रिया– आस्ट्रिया भी बाल्कन राज्यों पर कब्जा कर कृष्ण सागर में आना चाहता था, जिसका रूस सदैव विरोध करता था, अतः दोनों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कभी भी यूरोप में युद्ध हो सकता था, जिसमें प्रशिया को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अवश्य भाग लेना पड़ता। अतः बिस्मार्क ने इस संबंध में आस्ट्रिया का साथ देने का निश्चय किया।

शर्तें– बिस्मार्क ने सन् 1871 में उपरोक्त परिस्थितियों के अनुसार प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस के सम्राटों के मध्य निम्न शर्तों पर समझौता करवाया–

(1) सन् 1871 की सीमाओं को बनाये रखा जायेगा।

(2) बाल्कन समस्या का तीनों (प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस) को मान्य हल निकाला जायेगा।

(3) स्वदेशों में क्रान्ति और प्रजातंत्र का दमन किया जायेगा।

महत्व एवं समीक्षा– जहाँ तक प्रथम शर्त का प्रश्न है, प्रशियन साम्राज्य सीमाओं से इसका अधिक संबंध है। यूरोप में कोई भी अपना सीमा–विस्तार करता तो युद्ध अवश्य होता अतः सीमाओं को बनाये रखना तय किया गया। बाल्कन–समस्या का तीनों को मान्य हल निकालने की बात एक कूटनीतिक चाल थी, क्योंकि इस विषय में रूस, आस्ट्रिया में मान्यता होना असंभव था। अतः समस्या को टालने का या आस्ट्रिया का पक्ष लेने का यह बहाना होता और ऐसा बर्लिन सम्मेलन में किया भी गया। इससे प्रशिया की कूटनीतिक सफलता की धाक यूरोप में छा गई और इटली भी इस ओर झुका तथा इसे मान्यता दी।

बर्लिन सम्मेलन– रूस का जार आस्ट्रिया के विरुद्ध बाल्कन राज्यों में फ्रान्स की सहायता का इच्छुक था। सन् 1875 में फ्राँस ने आन्तरिक समस्याओं में कमी करके सैन्य वृद्धि की, अतः रूस फ्राँस से मित्रता की आशा करने लगा, उधर 15 जनवरी, 1877 को आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोविना पर अधिकार कर लिया। इसके पूर्व ही रूस ने सन् 1876 में बिस्मार्क से पूछा था कि "क्या रूस–आस्ट्रिया युद्ध में जर्मन तटस्थ रहेंगे।" जर्मनी ने अस्वीकृति प्रगट की। अतः रूस ने त्रिराष्ट्र संघ (लीग) की चिंता किये बिना तुर्की से सेनस्टीफेनो की संधि कर बाल्कन प्रदेशों में सुविधायें प्राप्त कीं। अब बिस्मार्क को युद्ध का संकट दिखाई दिया। उधर इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी के विरोध के कारण समस्या–समाधान के लिये बर्लिन में सन् 1878 में इंग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी के प्रतिनिधियों का सम्मेलन आयोजित किया गया। इसी सम्मेलन में बिस्मार्क ने अध्यक्षता की जो

पहले से ही आस्ट्रिया का पक्ष लेने के लिये तत्पर था, किन्तु उसने ईमानदारी से निष्पक्ष बनने का प्रदर्शन किया। अतः उसे ईमानदार दलाल कहा गया। 3 मार्च, 1878 में रूस–तुर्की में संधि के परिणामस्वरूप रूस को मिले दो आब्रूजा प्रदेश बर्लिन सम्मेलन में छिन गये तथा बोस्निया और हर्जेगोविना को आस्ट्रिया के शासन में रख दिया गया, रूस द्वारा बल्गेरिया में संस्थापित स्वशासन को समाप्त कर तुर्की को पुनः दे दिया गया। इस प्रकार रूस–तुर्की युद्ध बर्लिन सम्मेलन में व्यर्थ कर दिया गया और रूस के प्रभाव को धो दिया गया। इससे रूस–जर्मन मित्रता समाप्त हो गई।

द्विवर्गीय संधि– रूस बिस्मार्क द्वारा रूस–आस्ट्रिया युद्ध में तटस्थता की अस्वीकृति और बर्लिन सम्मेलन में बिस्मार्क के पक्षपाती व्यवहार के कारण नाराज हो चुका था और वह आस्ट्रिया से युद्ध करने को तथा फ्राँस को मित्र बनाने के लिये तत्पर था। अतः आस्ट्रिया और जर्मनी दोनों को ही दो मोर्चों पर युद्ध दिखाई दिया। 7 अक्टूबर, 1879 को जर्मनी और आस्ट्रिया ने गुप्त 5 वर्षीय संधि कर ली, जिसकी शर्तों के अनुसार निश्चय हुआ कि–

(1) यदि रूस किसी पर आक्रमण करेगा तो मित्र सहायता करेगा।
(2) फ्राँस दोनों में से किसी पर आक्रमण करे तो मित्र तटस्थ रहेगा।
(3) रूस की मदद से यदि फ्राँस किसी पर आक्रमण करे तो मित्र मदद करेंगे।

निश्चित ही यह संधि रूस के खिलाफ सक्रिय संधि थी। इसमें रूसी आक्रमण की दशा में दोनों मित्रों की सक्रियता की बात प्रमुख थी।

पुनः त्रिराष्ट्र समझौता– रूस अपनी आन्तरिक अराजकता के कारण न तो आक्रमण कर सका, न फ्राँस से मित्रता कर पाया बल्कि उसे आस्ट्रिया और जर्मनी से संघर्ष और पराजय का भय था। अतः वह पुनः त्रिराष्ट्र समझौते में आने को तैयार हो गया, उधर बिस्मार्क ने पुनः उसे अपना मित्र बनाये रखने का प्रयत्न किया। अतः निम्न शर्तों पर सन् 1881 में पुनः समझौता हो गया जो सन् 1885 में बल्गेरिया के प्रश्न पर समाप्त हो गया। इसकी निम्न शर्तें थीं–

(1) तीनों मित्रों पर चौथी शक्ति के आक्रमण होने पर मित्र तटस्थ रहेंगे।
(2) तटस्थ देश युद्ध को सीमित करने का प्रयास करेंगे।
(3) बर्लिन सम्मेलन का रूस उल्लंघन नहीं करेगा।
(4) तुर्की की समस्या तीनों मिलकर सुलझायेंगे।

यह संधि कूटनीति प्रभाव से पहले जैसी ही थी और विशेष रूप से रूस को नियंत्रित रखने वाली थी।

त्रिवर्गीय संधि– यह पाँच वर्षीय गुप्त संधि एक प्रमुख संधि है। सन् 1879 की द्विवर्गीय संधि में सन् 1882 में इटली के मिलने से यह त्रिवर्गीय संधि बनी। वास्तव में फ्राँस ने ट्यूनिश पर अधिकार कर लिया था जिस पर इटली अधिकार चाहता था। इसकी प्रमुख शर्तें थीं–

(1) इटली आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रचार नहीं करेगा।
(2) इटली की फ्राँस के आक्रमण से रक्षा की जायेगी।
(3) मित्रों में किसी पर फ्राँस आक्रमण करेगा तो तीनों सहायता करेंगे।

इनके अतिरिक्त द्विवर्गीय संधि की यह शर्त भी थी कि रूस के साथ युद्ध होने पर मित्र सहायता करेगा। अब इसमें इटली भी सक्रिय मित्र बन गया। इससे आस्ट्रिया और इटली को अपने शत्रुओं का भय नहीं रहा तथा जर्मनी को सक्रिय मित्र मिला।

रूस के साथ पुनराश्वासन संधि– सन् 1881 में जो त्रिराष्ट्र संधि हुई थी, उसी को सन् 1884 में पुनः मान्यता दी गई। इस संधि की शर्तों की तुलना त्रिवर्गीय अथवा द्विवर्गीय संधि से करें तो बिस्मार्क की राजनैतिक अनैतिकता स्पष्ट हो जायेगी। इस संधि की शर्तों के अनुसार–

(1) यदि कोई यूरोपीय राष्ट्र किसी पर (मित्रों में से) आक्रमण करे तो मित्र तटस्थ रहेंगे।
(2) बल्गेरिया में आस्ट्रिया और जर्मनी ने रूसी प्रभाव मान्य किया।
(3) कुस्तुनतुनियाँ को सामाजिक कार्यों के लिये प्रयोग करने से रोका गया।
(4) आस्ट्रिया का बोस्निया और हर्जेगोविना पर अधिकार मान्य किया।

इसमें प्रथम शर्त के अनुसार यदि आस्ट्रिया का आक्रमण रूस पर हो तो जर्मनी तटस्थ रहता परन्तु त्रिवर्गीय संधि के अनुसार रूस का आस्ट्रिया पर आक्रमण हो तो जर्मनी मदद करता। इस प्रकार बिस्मार्क ने दोनों ही स्थितियों में रूस के हितों का ध्यान न रख रूस को धोखा दिया। रूस को इसका पता तब लगा जब सन् 1887 में रूस–आस्ट्रिया संबंध पुनः बिगड़े तो बिस्मार्क ने सन् 1879 की द्विवर्गीय संधि प्रकाशित कर दी। सन् 1879 में रूस के खिलाफ सक्रिय मदद की संधि होते हुये रूस पर आक्रमण की दशा में तटस्थता संधि करना घोर अनैतिकता थी। इससे राजनीतिक विश्वास को महान् आघात पहुँचा और लिखित शर्तों का कोई मूल्य नहीं रह गया। वचन–भंग करना राजनीतिक कुशलता का नाम हो गया।

इसी विश्वासघात के कारण बिस्मार्क के पतन के पश्चात् रूस–फ्राँस संधि हो गई और इंग्लैण्ड–फ्राँस, फ्राँस–इटली संधियाँ हो गयीं और स्थिति पहले के विपरीत हो गई। सन् 1890 तक बिस्मार्क या जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया और इटली तथा इंग्लैण्ड का मित्र था, परन्तु सन् 1890 के पश्चात् यह सभी जर्मनी का साथ छोड़कर फ्राँस के साथ हो गये। दूसरी ओर कैसर विलियम द्वितीय की नीतियों ने इस विश्वासघात को और बढ़ा दिया और जर्मनी विश्व में एकाकी तथा सभी का शत्रु देश बन गया।

प्रश्न–10. कैसर विलियम द्वितीय की विदेशनीति के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुये यह बताइये कि वह इन उद्देश्यों को पूर्ण करने में कहाँ तक सफल हुआ और उसके क्या परिणाम निकले?

उत्तर– बिस्मार्क ने जर्मनी का एकीकरण कर उसे यूरोप की प्रमुख शक्ति बना दिया था। 1890 ई. में उसे सम्राट कैसर विलियम द्वितीय के साथ मतभेदों के चलते त्यागपत्र देना पड़ा। उसके बाद जर्मनी की बागडोर पूरी तरह सम्राट कैसर विलियम द्वितीय के हाथ में आ गयी। युवा सम्राट जर्मनी को विश्व की सर्वप्रमुख शक्ति बनाना चाहता था।

विलियम द्वितीय की विदेश नीति के उद्देश्य–

(1) **जर्मनी को विश्व शक्ति बनाना–** बिस्मार्क ने असंगठित कमजोर जर्मनी को न केवल देखा था बल्कि उसका एकीकरण भी किया था। अतः उसकी विदेशनीति का उद्देश्य जर्मनी को यूरोप की सर्वप्रमुख शक्ति बनाना था, जबकि कैसर विलियम की विदेश नीति का उद्देश्य जर्मनी को विश्व की सर्वप्रमुख शक्ति बनाना था। वह कहा करता था कि, 'विश्व में कहीं भी कोई ऐसा कार्य नहीं होना चाहिये जिसमें जर्मनी की सम्मति न हो।' उसका मानना था कि, 'जर्मन जाति को ईश्वर ने संसार को सभ्य बनाने के लिये ही बनाया है।'

(2) **उपनिवेशों की स्थापना करना–** बिस्मार्क औपनिवेशिक विस्तार की नीति को जर्मनी की शांति के लिये घातक समझता था। इसलिये उसने उपनिवेशों पर बल नहीं दिया, परन्तु विलियम जर्मनी को केवल यूरोप महाद्वीप तक सीमित रखने का पक्षधर नहीं था। वह चाहता था कि अफ्रीका, प्रशांत महासागर, दक्षिणी–पूर्वी एशिया तथा सुदूर पूर्व में जर्मनी का प्रभाव

तथा भूमिका महत्वपूर्ण व निर्णायक हो। इसके लिये औपनिवेशिक विस्तार की आवश्यकता थी। अतः वह अफ्रीका में औपनिवेशिक विस्तार की होड़ में शामिल हो गया।

(3) साम्राज्य का पूर्व की ओर विस्तार करना– बिस्मार्क जानता था कि बाल्कन प्रदेशों में हस्तक्षेप जर्मनी के लिये हितकारी नहीं है इसलिये पूर्वी समस्या को सुलझाने के लिये उसने 'ईमानदार दलाल' की भूमिका स्वीकार की थी परन्तु विलियम द्वितीय बाल्कन प्रदेश के मार्ग से पूर्व की ओर बढ़ना चाहता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने तुर्की के साथ मित्रता स्थापित की और बर्लिन–बगदाद रेलवे लाइन के निर्णय की योजना बनाई।

(4) नौ सेना का सुदृढ़ीकरण तथा विस्तार– बिस्मार्क जानता था कि इंग्लैण्ड कभी भी जर्मनी के नौ सैनिक विस्तार को सहन नहीं करेगा इसलिये उसने जर्मनी की थल सेना को तो सुदृढ़ बनाया था परन्तु जल सेना के विकास को रोके रखा परन्तु विलियम द्वितीय जर्मनी को विश्व शक्ति बनाने तथा औपनिवेशिक विस्तार के लिये नौ सेना के विस्तार को आवश्यक मानता था। उसने कहा था कि, 'सामुद्रिक–शक्ति ही विश्व शक्ति है। मेरे पितामह ने थल सेना के विकास के लिये जो कुछ किया था, वही मैं जल सेना के विकास के लिये करूँगा।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कैसर विलियम द्वितीय ने बिस्मार्क के विदेश नीति के सिद्धान्तों को पूरी तरह पलट दिया। उसने जर्मनी को विश्व राजनीति का केन्द्र बनाया। नौ सैनिक विस्तार के माध्यम से उसने इंग्लैण्ड को अपना प्रतिस्पर्धी बना लिया। जर्मनी की इस भूमिका से यूरोप के अन्य राष्ट्र भी सशंकित हो गये।

विलियम ने अपनी विदेश नीति के जो उद्देश्य निर्धारित किये थे। उन्हें पूरा करने की दिशा में उसने प्रयास आरम्भ कर दिये। अंतर्राष्ट्रीय मामलों में उसने अनावश्यक हस्तक्षेप किया।1896 ई. में उसने ट्रांसवाल (दक्षिण अफ्रीका) के राष्ट्रपति क्रूजर को अंग्रेज आक्रमणकारी जमेसन के विरुद्ध विजय के उपलक्ष में एक बधाई तार भेजा। इससे इंग्लैण्ड की जनता में जर्मनी के विरुद्ध उत्तेजना की लहर फैल गयी। इंग्लैण्ड के समाचार पत्र मॉर्निंग पोस्ट ने तो लिखा कि, 'राष्ट्र इस तार को कभी नहीं भूलेगा और अपनी भावी नीति को निर्धारित करते समय सदैव इसे ध्यान में रखेगा।' बोअर युद्धों में जर्मनी ने बोअर गणराज्यों के प्रति मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित की इससे भी जर्मनी और इंग्लैण्ड के सम्बन्धों में कटुता आई।

मोरक्को संकट भी विलियम द्वितीय की इसी विदेश नीति का परिणाम था। जब फ्रांस ने मोरक्को को अपने संरक्षण में लेना चाहा और विलियम द्वितीय ने घोषणा कर दी कि वह मोरक्को की स्वतंत्रता की रक्षा करेगा।

इसी प्रकार 1908 ई. में जब आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जगोबिना के प्रदेशों को अपने साम्राज्य में मिला लिया तो सर्बिया ने रूस से सहायता माँगी जब कैसर विलियम को यह पता चला तो उसने धमकी दी कि यदि रूस ने सर्बिया की सहायता की तो जर्मनी, आस्ट्रिया का पक्ष लेकर युद्ध में कूद पड़ेगा। विलियम द्वितीय के इन कार्यों से उसकी विरोधी शक्तियां सक्रिय हो उठीं तथा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक गुटों का निर्माण होने लगा। 1893 ई. में रूस–फ्रांस द्वि–राष्ट्र संश्रय बना बाद में इंग्लैण्ड भी इसमें शामिल हो गया। इस प्रकार यूरोप दो सैनिक गुटों में विभाजित हो गया जिसका अन्तिम परिणाम प्रथम महायुद्ध के रूप में सामने आया।

प्रश्न–11. कैसर की विदेश–नीति द्वितीय विश्व युद्ध के लिये कहाँ तक उत्तरदायी थी?

अथवा

कैसर विलियम द्वितीय की विश्व राजनीति की समीक्षा कीजिये।

अथवा

सन् 1890 से सन् 1902 के मध्य जर्मनी की विदेश–नीति का मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

'कैसर विलियम द्वितीय ने अपनी विदेश–नीति से सम्पूर्ण यूरोप को अपना शत्रु बना लिया।' समीक्षा कीजिये।

उत्तर– बिस्मार्क और विलियम प्रथम तथा असंख्य देशभक्तों के दूरदर्शितापूर्ण कार्यों और नीतियों के परिणामस्वरूप प्रशिया के नेतृत्व में सम्पूर्ण जर्मनी आस्ट्रिया की गुलामी से मुक्त होकर शक्ति–सम्पन्न तथा समृद्धशाली और प्रतिष्ठा–सम्पन्न हो गया था। यही साम्राज्य फ्रेडरिक विलियम तृतीय कैसर विलियम द्वितीय को उत्तराधिकार में सन् 1888 में प्राप्त हुआ। निश्चय ही कैसर विलियम द्वितीय अपने पूर्वजों और बिस्मार्क की धरोहर और योग्यताओं का न सम्मान करना जानता था और न उन पर चलना ही उचित समझता था। उसमें अनेक सामान्य मनुष्यों के दोष थे और सबसे बड़ा दोष घमण्ड और आत्म–प्रशंसा सुनने का था, जिसने उसकी गृह तथा विदेश–नीति को प्रभावित किया।

साम्राज्यवादी नीति– कैसर विलियम अति महत्वाकांक्षी व्यक्ति था जो स्वयं को और प्रशिया को विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न व्यक्ति और राष्ट्र बनाना चाहता था। उसकी विदेश–नीति का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह था कि इस उद्देश्य से कम पर न तो वह समझौता करने को तैयार था, न झुकने को तैयार था। इसके लिये वह विजय और पराजय को भी स्वीकार करने को तत्पर था। उसने कभी भी पूर्वजों के कष्टों, जर्मनी की प्रगति और विनाश की चिंता नहीं की। अतः उसकी नीति 'विश्व–शक्ति या पतन' की थी।

विलियम अपने को इतना योग्य, कुशल और दूरदर्शी मानता था कि वह अपने मंत्रियों से भी परामर्श करना उचित नहीं समझता था और असम्भव कार्यों में संलग्न हो जाता था। उसने एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े का निर्माण किया और पड़ौसी राज्यों को अपनी शक्ति से आतंकित किया और किसी को अपना मित्र बनाने का प्रयत्न नहीं किया। फ्रांस को भी अकेला रखने की नीति त्याग दी। संक्षेप में बिस्मार्क की नीति को उसने छोड़ दिया। उसके यूरोपीय देशों से किस प्रकार के सम्बन्ध थे, इसका विवेचन इस प्रकार है–

1. **तुर्की से सम्बन्ध–** विलियम ने रूस के साथ पुरानी संधि को नहीं दोहराया परन्तु बाल्कन समस्या, आस्ट्रिया का समर्थन और रूस का विरोध करने के कारण दोनों से सम्बन्ध अच्छे बनें, इस कारण तुर्की ने अपने यहाँ रेल्वे लाइन बिछाने का अधिकार दिया। इस प्रकार विलियम यहाँ से रूस, इंग्लैण्ड के साम्राज्यों का विरोध कर सकता था और तुर्की को अपने आधीन रख सकता था।
2. **चीन से सम्बन्ध–** चीन में जर्मन मिशनरियों के मारे जाने के कारण कैसर विलियम ने चीन में सरवालीन बन्दरगाह सन् 1894 में प्राप्त किया। चीन और कैसर के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण कभी नहीं रहे।
3. **विलियम और रूस–** उसने रूस को कोई महत्व नहीं दिया और आस्ट्रिया ने समर्थन के कारण सम्बन्ध बिगड़े और वह मित्र की खोज करने लगा तथा फ्राँस से उसने संधि की, जो प्रशिया का शत्रु था।
4. **प्रशा और फ्राँस–** फ्राँस पहले से ही शत्रु था और मित्रों की तलाश में था। उसने पहले रूस फिर इटली और इंग्लैण्ड से संधियाँ कीं, अपने को शक्तिशाली बनाया तथा भावी संघर्ष की भूमिका का निर्माण किया। मोरक्को में बार–बार के हस्तक्षेप से सम्बन्ध और कटु हो गये तथा युद्ध की घोषणा हुई।
5. **विलियम और इंग्लैण्ड–** बिस्मार्क के काल में इंग्लैण्ड से अच्छे सम्बन्ध थे परन्तु साम्राज्यवादी, औपनिवेशिक और सामुद्रिक प्रतिस्पर्धा ने इन सम्बन्धों को न केवल बिगाड़ा बल्कि इंग्लैण्ड को प्रशिया के साथ मिलने को विवश किया। अफ्रीका में भी

सम्बन्ध कटु बने। क्रूगर को तार भेजने की घटना को इंग्लैण्ड ने अपना अपमान समझा। इस प्रकार सन् 1904 में आँग्ल–फ्राँस संधि हुई। मोरक्को में सन् 1906, 1908, 1911 में विलियम को अपमानित होकर अपने जहाजी बेड़े को वापस बुलाने को विवश होना पड़ा।

परिणाम– कैसर विलियम न प्रतिष्ठा प्राप्त क. सके, न साम्राज्य विस्तार कर सके और न स्वयं की रक्षा ही कर सके। उसने अपनी नीति से स्वयं को यूरोप का और विश्व का शत्रु बना लिया और स्वयं अकेला हो गया। उसकी नीति ने विश्व को महायुद्ध के संकट में डाल दिया।

प्रश्न–12. कैसर विलियम द्वितीय की 'विश्व–राजनीति' की आलोचनात्मक समीक्षा (या विश्लेषण) कीजिये।

अथवा

विलियम द्वितीय की विश्व राजनीति से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– कैसर विलियम द्वितीय 15 जून, 1888 में सम्राट बना। उसने अपनी निरंकुशता को स्पष्ट करते हुये कहा कि, 'तुम लोगों की एक इच्छा है और वह है मेरी इच्छा, एक ही कानून है और वह है मेरा कानून। देश में केवल एक स्वामी है और वह मैं हूँ, मैं अपने समकक्ष किसी को भी सहन नहीं कर सकता।' इस निरंकुशता के साथ–साथ बिस्मार्क के विलियम द्वितीय के साथ विदेश नीति के प्रश्न पर गंभीर मतभेद थे।

विलियम की विदेश नीति के उद्देश्य– विलियम ने बिस्मार्क की नीति को बदलकर "महाद्विपीय नीति" से विश्व–राजनीति में बदल दिया। उसका यह कार्य परिस्थितिजन्य था– उसे उत्तराधिकार में एकीकृत, आर्थिक रूप में सम्पन्न, सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली, यूरोप में महत्वपूर्ण विशाल साम्राज्य मिला था। इस बीच एक पीढ़ी बदल गई थी। पुरानी पीढ़ी एकीकरण और राष्ट्रीयता की समस्या, त्याग, बलिदान, राष्ट्र निर्माण की बुद्धि और कौशल युद्ध की विजय–पराजय और हानि–लाभ से पूर्ण परिचित थी। अतः जर्मनी की युवापीढ़ी और सम्राट को इसकी कोई अनुभूति नहीं थी और न भविष्य में विश्व में कहीं भी होने वाले युद्ध से जर्मनी के विनाश की ही कल्पना थी। अतः इस काल की विदेश नीति के निम्न उद्देश्य थे–

1. पूर्वी भू–मध्य सागर (बाल्कन प्रदेश) में आधिपत्य स्थापित कर बर्लिन से बगदाद तक साम्राज्य का विस्तार करना।
2. औपनिवेशिक विषयों में विशेषकर अफ्रीका में दृढ़ता से निर्णायक भाग लेना।
3. इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये शक्तिशाली नौसेना का निर्माण करना।

1. रूस की उपेक्षा– अपनी अनुभवहीनता, युवा जोश और अदूरदर्शिता के कारण विलियम ने बिस्मार्क के अन्तिम वर्ष में ही रूस की उपेक्षा कर और स्वयं तुर्की जाकर तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद को अपनी मित्रता का आश्वासन दे आया। फिर 1890 में उसने रूस के साथ की गई पुनराश्वासन संधि नहीं दोहराई और इसे 'क्लिण्ट' बताकर भंग कर दी।

परिणाम, रूस–फ्रांस मैत्री– बिस्मार्क की रूस से मित्रता के महत्व को विलियम नहीं समझ पाया अतः जर्मनी के लिये अनेक अनिष्टकारी परिणाम हुये, जिसमें रूस–फ्रांस मैत्री सर्वप्रमुख थी।

कारण– रूस यूरोप में अकेला पड़ गया और फ्रांस से मित्रता में ही उसने अपनी सुरक्षा समझी। त्रिदलीय संधि के कारण इटली से मित्रता संभव नहीं थी। इंग्लैण्ड अफ्रीका और कृष्ण सागर तथा भू–मध्य सागर में रूस विरोधी था। अतः एलेक्जेण्डर के द्वारा फ्रांस से घृणा करने पर भी वह मित्रता के लिये तैयार हो गया। 1891 में फ्रांस के जहाजीबेड़े का सेन्टपीटर्सबर्ग में स्वागत किया गया। इसके पश्चात् फ्रांस ने रूस के आर्थिक विकास के लिये ऋण भी दिया।

1893 में रूसी बेड़े का फ्रांस के तूलों बन्दरगाह में स्वागत किया गया। सन् 1894 में तृतीय एलेक्जेण्डर की मृत्यु के बाद निकोलस ने फ्रांस से संधि कर ली।

संधि– दोनों ही अपने–अपने यूरोप में एकाकीपन समाप्त करना चाहते थे और फ्रांस को अपने प्रदेशों को वापस लेने के लिये भविष्य में जर्मनी से युद्ध करना चाहते थे। उधर फ्रांस इटली और आस्ट्रिया से भी जर्मनी का साथ देने के कारण नाराज था अतः निकोलस ने जनवरी, 1895 में फ्रांस के साथ संधि कर द्विगुट का निर्माण किया। शर्तें अग्रलिखित थीं–

1. यदि फ्रांस पर जर्मनी या उसकी सहायता से इटली आक्रमण करे तो रूस जर्मनी पर आक्रमण करेगा।
2. यदि रूस पर जर्मनी या उसकी मदद से आस्ट्रिया आक्रमण करे तो फ्रांस रूस की मदद करेगा।
3. दोनों में से कोई अलग संधि नहीं करेगा तथा इसकी अवधि जर्मनी द्वारा त्रिगुट की अवधि तक होगी।

इस संधि से यूरोप के इतिहास में नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ। 1896 में रूसी सम्राट और सम्राज्ञी का फ्रांस में अभूतपूर्व स्वागत हुआ जिसकी विलियम कल्पना ही नहीं कर सका था।

2. जर्मनी और तुर्की– तुर्की में इस समय अखिल–इस्लाम–आन्दोलन पूर्ण वेग से चल रहा था। तुर्की के सुल्तान की दशा इस समय चिन्तनीय थी। जापान के आक्रमण का भी भय था। तुर्की के आन्दोलनकारियों में इंग्लैण्ड के प्रति कोई सद्भावना नहीं थी। ग्लेडस्टन (1880–81) की उदार नीति और इंग्लैण्ड के मिस्र पर आक्रमण से तुर्कियों में रोष था।

विलियम ने इन परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिये 1889 में सम्राज्ञी सहित कॉन्सटेन्टिनोपल पहुँचकर सुल्तान अब्दुल हमीद से भेंट कर मित्रता का आश्वासन दिया, जर्मन अधिकारी तुर्की के सैनिकों को शिक्षित करने भेजे। इस सेना ने 1898 में आर्मीनियनों को बुरी तरह मारा। इसके पश्चात् विलियम जेरूशलम गया जहां उसने प्रोटेस्टेंट चर्च की स्थापना की। उसके पश्चात् दमिश्क में विश्व के समस्त मुसलमानों को अपनी मित्रता का विश्वास दिलाया। सुल्तान ने 1902 में एक समझौते के द्वारा एक जर्मन कम्पनी को कॉन्सटेन्टिनोपल से बगदाद तक रेल लाइन डालने की अनुमति दी। विलियम के इन कार्यों से इंग्लैण्ड तथा फ्रांस विशेष चिंतित हुये। इससे जर्मन प्रभाव तुर्की के एशियाई भाग में, फ्रांस में और भारत में स्थापित हो जाता।

3. जापान को लियोतुंग से निकालना– 1895 में जापान ने चीन को पराजित कर लियोतुंग प्रायद्वीप और पोर्ट ऑर्थर को छीनने का प्रयत्न किया। रूस ने फ्रांस के साथ जापान पर लियोतुंग से जाने के लिये दबाव डाला। इसी समय विलियम ने भी उनका समर्थन किया और 1897 में चीन में दो जर्मन पादरियों की हत्या के बहाने जंगीबेड़ा चीन को भेजा और उसके कियाऊचाऊ प्रदेश पर अधिकार कर लिया तथा मार्च, 1898 में चीन को विवश कर कियाऊचाऊ और शान्टुंग के एक भाग का 99 वर्षीय पट्टा लिखा लिया। जब चीन में बोक्सरों ने विदेशियों के खिलाफ उग्र संघर्ष किया तो उसे दबाने के लिये जर्मन सेनापति के नेतृत्व में सेना भेजी गई।

4. जर्मन विरोधी शक्तियों में संधि (फ्रांस–रूस–इंग्लैण्ड)– बिस्मार्क के पतन 1890 से 1899 तक विलियम ने अनेक कार्य इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस और इटली की उपेक्षा करते हुये किये फिर भी इस काल में इंग्लैण्ड और जर्मनी के मध्य समय–समय पर संधि और समझौते होते रहे। जैसे 1890 में इंग्लैण्ड ने जर्मनी से जिन्जिवार लेकर हैलीगोलैण्ड दिया। आपसी

समझौते से दोनों में नाईजीरिया और केमरून में अपना-अपना सीमा निर्धारण किया और पश्चिम अफ्रीका में समस्याओं का समाधान किया। 1899 में दोनों में समोआ पर समझौता हुआ। इन मधुर सम्बन्धों के होते हुये भी 1900 में दोनों देश एक-दूसरे के कटु विरोधी हो गये।

5. विलियम का विश्व-शक्ति के रूप में व्यवहार- विलियम विश्व की समस्याओं में स्वयं को "सर्वोच्च शक्ति" एवं सबसे अधिक कुशल राजनीतिज्ञ मानकर व्यवहार कर रहा था। उसने 1889 में तुर्की को और मुस्लिम जनता को मैत्री और सहायता के आश्वासन दिये। उसने 1902 में तुर्की में रेल्वे लाइन डाली चीन को विवश कर कियाऊचाऊ और लियोतुंग का पट्टा लिया। रूस और फ्रांस के सम्मुख संधि प्रस्ताव रखा। लियोतुंग से जापान को निकालने में रूस और फ्रांस को मदद दी। परन्तु फैशोदा में फ्रांस को मदद और 1904 में रूस-जापान युद्ध में रूस को मदद न देकर रूस के साथ विश्वासघात किया। मधुर सम्बन्धों के होते हुये भी 1896 में क्रूगर को तार भेजकर, तुर्की की सेना को शिक्षित करने के लिये जर्मनों को भेजकर, 1901 में चेम्बरलेन के संधि प्रस्ताव को ठुकरा कर इंग्लैण्ड के साथ विश्वासघात किया। विलियम के इस मनमाने व्यवहार ने मित्रों को युद्ध की आशंका में डाल दिया।

6. विलियम की इंग्लैण्ड के प्रति शत्रुतापूर्ण कार्यवाही- विलियम का व्यवहार, साम्राज्य विस्तार और विश्वासघात अभी तक (1899) इंग्लैण्ड इसलिये सहन करता रहा कि उसे लगता था कि वह यूरोप में अकेला है और जर्मनी उसका मित्र बना रहेगा। इसी समय उसके फ्रांस और इंग्लैण्ड से मतभेद चल रहे थे। इन कारणों से इंग्लैण्ड ने जर्मनी के मध्य-अफ्रीका पर प्रभाव को स्वीकार कर लिया था और 1899 में समोआ के सम्बन्ध में भी समझौता कर लिया था।

परन्तु इसके बावजूद विलियम शत्रुतापूर्ण कार्यों से बाज नहीं आया। नवीन प्रधानमंत्री व्यूलो के द्वारा चेम्बरलेन के संधि प्रस्ताव अमान्य करने और विलियम का यह कहना कि जर्मनी का भविष्य समुद्र पर निर्भर है। इंग्लैण्ड को यह विश्वास करा दिया कि दोनों में मित्रता नहीं हो सकती। व्यूलो ने भी जब नाविक शक्ति का विस्तार किया और कहा कि 'इंग्लैण्ड से जर्मनी को हिसाब करना' है तथा तुर्की में 1902 में रेल्वे लाइन बिछा कर, फारस में नाविक अड्डा बनाने का प्रयास किया तो यह प्रमाणित हो गया कि विलियम इंग्लैण्ड के अफ्रीकी, भारतीय और पश्चिम एशिया के व्यापार को समाप्त कर और उपनिवेश निर्माण कर शत्रुतापूर्ण कार्य कर रहा है। इससे वह सामुद्रिक युद्ध के लिये भी तत्पर था।

7. इंग्लैण्ड-फ्रांस संधि- फ्रांस-रूस संधि से और 1902 में जापान से रूस की पराजय से इंग्लैण्ड और रूस के सम्बन्धों में भी सुधार हुआ। रूसी राजदूत ने पेरिस में कहा कि "फ्रांस के मित्र हमारे भी मित्र होंगे।" इसके साथ ही प्रशा से युद्ध की आशंका से फ्रांस ने 1899 में फेशोदा से अपनी सेना को वापस बुलाकर तथा शिष्ट मण्डलों, व्यापारिक सम्बन्धों तथा राष्ट्रपति की इंग्लैण्ड यात्रा से सद्भावना का परिचय दिया और 1904 में दोनों में संधि हो गई।

महत्व- फ्रांस-इंग्लैण्ड संधि का यूरोपीय इतिहास में अत्यधिक महत्व था। इस संधि के कारण 1907 में इंग्लैण्ड-रूस संधि हुई तथा जर्मनी, इटली और आस्ट्रिया के त्रिगुट का विरोधी त्रिगुट का निर्माण हो गया। बिस्मार्क की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो गई। यद्यपि यह संधि कोई आक्रामक संधि नहीं थी। परन्तु इससे जर्मनी पर संयुक्त आक्रमण की सम्भावना बढ़ गई। इटली और फ्रांस की शत्रुता भी समाप्त होने लगी तथा भविष्य में उसने जर्मनी का साथ छोड़ दिया तथा इंग्लैण्ड के गुट में आ गया। मोरक्को में इंग्लैण्ड ने पूर्णरूपेण फ्रांस का साथ दिया

तथा जर्मनी को सैनिक कार्रवाही से रोक तथा विलियम की तथाकथित विश्व-साम्राज्य की नीति पर प्रतिबन्ध लगाया। अन्त में प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय हुई।

8. विलियम की बाल्कन में रूस को चुनौती और युद्ध- 1907 तक यूरोप द्विगुट (आस्ट्रिया और जर्मनी) तथा त्रिगुट में बंट चुका था। यूरोपीय घटनाक्रम विलियम विरोधी था और विलियम के त्रिगुट में फूट डालने के प्रयास असफल हो रहे थे। फिर भी जुलाई, 1908 में 'युवातुर्क-क्रांति' का लाभ उठाकर आस्ट्रिया ने बोस्नियां और हर्जेगोविना पर अधिकार कर लिया। इसका सर्बिया और रूस ने विरोध किया। विलियम ने स्पष्ट घोषणा की कि वह आस्ट्रिया की ओर से संघर्ष करेगा। अतः रूस 1809 में अपमानित होकर मौन रह गया। यद्यपि 1910 में विलियम ने निकोलस को मेसोपोटामिया और फारस में अधिकार देकर तुर्की में बर्लिन बगदाद रेल्वे का विरोध न करने को राजी कर लिया था। परन्तु 1912 में बाल्कन राज्यों में पुनः स्वतंत्रता संघर्ष होने लगे। सर्बिया-बल्गारिया युद्ध में सर्बिया विजयी रहा। सर्बिया की मदद रूस और बल्गारिया की मदद आस्ट्रिया कर रहा था। द्वितीय युद्ध में बल्गारिया की भारी क्षति हुई। यद्यपि इंग्लैण्ड और जर्मनों ने 1914 तक युद्ध को रोकने का प्रयास किया परन्तु बाल्कन राज्यों में संघर्ष उग्र हो गया। जून, 1914 में आस्ट्रियन राजकुमार फर्डीनेण्ड सर्बिया के सिराजिवों में निरीक्षण के लिये गया जहां उसकी हत्या हो गई। अतः आस्ट्रिया ने उस पर आक्रमण कर दिया। अब विलियम आस्ट्रिया की ओर से तथा रूस सर्बिया की ओर से युद्ध में आ गया तथा फ्रांस, इटली, इंग्लैण्ड ने भी इसमें जर्मनी के विरुद्ध युद्ध कर विलियम को पराजित किया।

प्रश्न-13. 19वीं शताब्दी में अफ्रीका के विभाजन का वर्णन कीजिये।

अथवा

'यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका में किस प्रकार से लूट की तथा बँटबारा किया?' वर्णन कीजिये।

उत्तर- अफ्रीका का विभाजन- 1870 के पश्चात् अफ्रीका की लूट (द्वितीय विभाजन)- 1870 के पश्चात् अफ्रीका की लूट का आरम्भ बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड ने किया। वह व्यापारिक रुचि वाला राजा था जब उसने लिविंगस्टन, स्टेनली आदि से अफ्रीका की अपार सम्पदा के बारे में सुना तो अंग्रेज यात्री स्टेनली को अपने यहाँ शरण दी और 1876 में ब्रुसेल्स में अफ्रीका के विभाजन के उद्देश्य से यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया तथा अफ्रीकन सभाओं का आयोजन किया। इसके अतिरिक्त लियोपोल्ड ने अफ्रीका में 400 संधियाँ करके विशाल कांगों की स्थापना की जिसका नाम उसने 'कांगो-फ्री-स्टेट' रखा। यह क्षेत्र रबड़ के उत्पादन का महत्वपूर्ण प्रदेश था। बेल्जियम का अनुकरण करके अन्य देश भी अफ्रीका को लूटने पहुंचने लगे। 1914 तक यूरोपीय देशों ने निम्नानुसार अफ्रीका का परस्पर विभाजन कर लिया-

1. बेल्जियम- बेल्जियम ने 400 संधियाँ अफ्रीकी सरदारों से करके विशाल कांगो (कांगो फ्री स्टेट) की स्थापना कर ली थी। इससे बेल्जियम का रबर उद्योग बहुत विकसित हुआ तथा वह एक धनी देश बन गया। बेल्जियम को समुद्र तट तक पहुंचने के लिये बर्लिन में अंगोला के उत्तर में पश्चिम की ओर समुद्र में जाने का मार्ग दिया गया। यह राज्य नाममात्र का अन्तर्राष्ट्रीय राज्य था परन्तु 1908 में लियोपोल्ड इसका राजा मान लिया गया।

2. इंग्लैण्ड- इंग्लैण्ड को अफ्रीका में सर्वाधिक भाग प्राप्त हुये। 1841 तक इंग्लैण्ड ने मोहम्मद अली को लन्दन सम्मेलन में मिस्र का पाशा मान लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका विलासी पुत्र इस्माईल शासक बना जो शीघ्र ही इंग्लैण्ड और फ्रांस का ऋणी हो गया। अतः ऋण भुगतान के लिये उसने सन् 1875 में स्वेज नहर के हिस्से इंग्लैण्ड को बेच दिये। फ्रांस ने एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण कर मिस्र की आय-व्यय पर अधिकार प्राप्त कर

लिया और द्वैध शासन स्थापित किया। अन्त में इस्माईल को हटाकर उसके पुत्र तोफ्रीक को शासक बना दिया गया परन्तु इसके काल में मिस्र की दशा बहुत खराब हो गई। जनता पर बहुत अधिक टैक्स लगे। सैनिकों को वेतन नहीं मिला और देश में अराजकता छा गई। एक अरबी पाशा मोहम्मद ने 1882 में तोफ्रीक पर आक्रमण कर दिया, बाद में उसने राज्य में उसके सैनिक बढ़ाने तथा यूरोपियनों को निकालने की माँग की। इसके साथ ही एलेक्जेन्ड्रिया का दुर्गीकरण और शस्त्रीकरण करने को कहा। उसने एक राष्ट्रीय महासभा की भी स्थापना करके सुधार करने की माँग की। तोफ्रीक ने मोहम्मद अहमद से समझौता कर लिया और उसे अपना युद्ध-मंत्री बना लिया। अतः यूरोपियनों के खिलाफ संघर्ष अनिवार्य हो गया।

इस संघर्ष में फ्रांस अलग हो गया परन्तु इंग्लैण्ड ने अकेले ही मोहम्मद अहमद को पराजित कर मिस्र में अपनी सत्ता को सुदृढ़ कर लिया। अंग्रेजों ने मिस्र की शासन व्यवस्था में आर्थिक, न्याय, कृषि, सिंचाई आदि के क्षेत्रों में सुधार किये। 1883 में एक प्रतिनिध्यात्मक विधानसभा का निर्माण किया। जब 1914 में प्रथम विश्व युद्ध का आरम्भ हुआ और तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया तो इंग्लैण्ड ने मिस्र को अपने पूर्ण अधिकार में ले लिया। इससे फ्रांस और इंग्लैण्ड में मनोबल बढ़ा। इसके कारण नाईजर, स्याम, मेडागास्कर आदि अन्य प्रदेशों में फ्रांस से प्रतिस्पर्धा तेज हो गई।

सूडान और आंग्ल-फ्रांस समझौता– 1882 में अरबी पाशा के दमन के पश्चात् मिस्र में नाममात्र का शासक खेदीव रहा परन्तु वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में रही। मिस्र के दक्षिण में सूडान था जिस पर मिस्र का आधिपत्य था। यहाँ का शासक मोहम्मद अहमद मिस्र पर आक्रमण और विद्रोह में पराजित कर दिया गया था। परन्तु खारतूम में उसने अंग्रेज जनरल गोर्डन की हत्या कर दी थी। अतः अंग्रेजों ने इसका प्रतिशोध 1898 में लिया। किचनर ने ओम वुर्मन की लड़ाई में मोहम्मद अहमद को पुनः पराजित कर सूडान पर मिस्र का (स्वयं का) आधिपत्य करवा दिया। इसी समय फ्रांसीसी सेना मार्चन्ड के नेतृत्व में सूडान के फैशोदा नामक स्थान पर पहुँच गई। इंग्लैण्ड और फ्रांस में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई, परन्तु फ्रांस के विदेश मंत्री देलकासे ने भविष्य में प्रशिया पर आक्रमण के लिये अपनी सेना को व्यर्थ नष्ट न करने और इंग्लैण्ड कीं उसके खिलाफ मित्रता पाने के लिये मार्चन्ड को वापस बुला लिया। इससे सूडान पर पूर्ण रूप से इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया और कालान्तर में फ्रांस-रूस संधि हो गई जिसमें इंग्लैण्ड को फ्रांस ने मिस्र में पूर्ण अधिकार सौंप दिये। इसके बदले में फ्रांस को अफ्रीका के मोरक्को में पूर्ण अधिकार मिले।

ट्रांसवाल में अंग्रेज असफल– 1852 में अंग्रेज डचों का पीछा करते हुये ट्रांसवाल तक पहुंच गये। अतः डचों ने इस बार भागने के बजाये अंग्रेजों का जमकर मुकाबला किया अतः अंग्रेजों ने व्यापारिक हानि उठाने के बजाये ट्रांसवाल को स्वतंत्र राज्य घोषित करवा कर डचों को उसमें रहने और सुविधायें प्राप्त करने के अधिकार स्वीकार किये। सन् 1877 में डिजरैली ने वचन तोड़कर ट्रांसवाल को ब्रिटिश राज्य में मिलाने के लिये युद्ध किया परन्तु 1881 में डचों ने 'मजूबा-हिल' के युद्ध में अंग्रेजों को पराजित कर दिया। पराजय के अवसर पर नवीन प्रधानमंत्री ग्लेडस्टन ने अपनी सेनाओं को वापस बुला लिया और ट्रांसवाल की स्वतंत्रता को पुनः स्वीकार कर लिया।

ट्रांसवाल के 'रेण्ड प्रदेश' में 1886 में 'स्वर्ण खदान' का पता चलने पर लोभी अंग्रेज अधिकाधिक संख्या में जाकर बसने लगे और अपनी सत्ता स्थापित करने लगे। सेलिस रोहड्स नामक ट्रांसवाल में इसी प्रकार का प्रवासी-आवासी था और उसके पास स्वर्ण और हीरों की खदानें थीं। अत्यधिक धनी होने के कारण वह वहाँ का प्रमुख राजनीतिज्ञ और 'साम्राज्य-

अफ्रीका कम्पनी' का 1889 में संस्थापक बन गया। अल्पकाल में उसने समस्त प्रदेश पर अधिकार करके उसका नाम 'रोडेशिया' रख दिया।

ट्रांसवाल में सफलता– मई, 1902 को विरीनिगिंग की संधि में (बोअरों) डचों ने डच भाषा की सुरक्षा और स्वशासन के आश्वासन पाकर युद्ध विराम कर दिया। परन्तु ट्रांसवाल और ऑरेन्ज फ्री-स्टेट की स्वतंत्रता समाप्त हो गई और उस पर ब्रिटिश आधिपत्य छा गया। इससे बोअरों में असन्तोष था जिसे 1906-07 में इंग्लैण्ड की उदारदलीय सरकार ने स्वशासन प्रदान करके दूर कर दिया। यहाँ 1909 में केप, नेटाल में भी कनाडा जैसी संघीय व्यवस्था की गई तथा डोमियन का दर्जा देकर वास्तविक स्वतंत्रता प्रदान कर दी।

3. **अफ्रीका में फ्रांसीसी लूट–** फ्रांस अफ्रीका में मिस्र, अल्जीरिया, ट्यूनिश और मोरक्को आदि पर अधिकार करना चाहता था। वह 1847 में अल्जीरिया पर अधिकार भी कर चुका था। इंग्लैण्ड की शक्ति और कूटनीतिक चाल ने फ्रांसीसियों का मिस्र पर अधिकार नहीं होने दिया। अंग्रेजों के भारतीय व्यापार के लिये मिस्र का अत्यधिक महत्व था। बिस्मार्क के प्रोत्साहन से फ्रांस ने ट्यूनिश पर अधिकार कर लिया और इटली इसे पाने के लिये ललचाता रहा। पश्चिमी अफ्रीका में फ्रांस ने सेनेगल और नाईजर नदी की घाटी में भी विस्तार कर लिया। गायना, आइवरी कोस्ट, फ्रेन्चकांगो और सहारा ने नखलिस्तान को भी अपने संरक्षण में ले लिया। सूडान में भी उसने प्रयत्न किया परन्तु फेशोदा की घटना के पश्चात् आंग्ल-फ्रांस समझौता हो गया। इसमें अफ्रीका में फ्रांस को विशाल साम्राज्य की स्थापना का अवसर मिल गया। पूर्व में मेडागास्कर पर भी फ्रांस ने अधिकार कर लिया। मोरक्को में सभी कार्य करने की छूट मिली परन्तु उसे प्रशा से युद्ध की सम्भावना से मिस्र और सूडान को अपने दावे और सभी प्रयत्न छोड़ना पड़े।

4. **अफ्रीका में जर्मनी की लूट–** बिस्मार्क उपनिवेश प्राप्ति और अन्य देशों में साम्राज्य विस्तार का विरोधी था। वह इस प्रतियोगिता को आरम्भ कर इंग्लैण्ड से शत्रुता और युद्ध को आमंत्रित नहीं करना चाहता था। वह यह भी जानता था कि उपनिवेश प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये शक्तिशाली जहाजी बेड़ा नहीं था। अतः उसने फ्रांस के द्वारा मोरक्को पर अधिकार करने की छूट दी और फ्रांस ने अल्सेस तथा लॉरेन की क्षतिपूर्ति के लिये मोरक्को पर अधिकार कर लिया। परन्तु परिस्थितियाँ और विचार तेजी से बदले सम्पूर्ण यूरोप औद्योगिकीकरण के प्रभावों से प्रभावित हुये, कच्चे माल और उत्पादित माल के विक्रय के लिये उपनिवेशों की आवश्यकता होने लगी। उपनिवेश सम्पन्नता और शक्ति के साधन और प्रतीक माने जाने लगे। जर्मन उद्योगपतियों ने व्यापारिक संस्थायें निर्मित कीं और औपनिवेशिक विस्तार की माँग की। अतः बिस्मार्क ने 1840 से 1890 के मध्य बिना युद्ध और दुर्भावना के अफ्रीका में तोगोलैण्ड, केमरून, पूर्वी अफ्रीका तथा दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका पर अधिकार कर उद्योगपतियों को सन्तुष्ट किया।

5. **अफ्रीका में इटली का प्रसार–** फ्रांस के द्वारा ट्यूनिश पर अधिकार कर लेने से इटली की आकांक्षा अधूरी रह गई। अतः उसने लाल सागर के तट के इरीट्रिया पर 1883 में अधिकार कर लिया और फिर सोमालीलैण्ड पर अधिकार करने के उद्देश्य से एबीसीनिया के स्वतंत्र राज्य पर आक्रमण कर दिया (मध्य में था) परन्तु 1896 में एबीसीनियाँ ने इटली को पराजित कर दिया। इसका बदला इटली ने ट्रिपोली पर अधिकार करके लिया। इसी का नाम बाद में इटली ने लीबिया रख दिया था।

6. **पुर्तगाल और अफ्रीका–** पुर्तगाल ने कांगो के दक्षिण में अंगोला के विशाल प्रदेश में अपना उपनिवेश स्थापित किया। इसी प्रकार अफ्रीका के पूर्वी तट पर पुर्तगाल ने अफ्रीका

नामक उपनिवेश स्थापित कर लिया। पुर्तगाल इन दोनों को जोड़ने वाली पट्टी इंग्लैण्ड के विरोध के कारण कभी प्राप्त नहीं कर सका। अतः उसकी यह आशा निराशा में बदल गई।

स्पेन का अफ्रीका में उपनिवेश– अफ्रीका के उत्तरी भागों पर अधिकार करने के लिये 1906 में स्पेन ने प्रयत्न किया तथा जिब्राल्टर के सम्मुख कुछ भूमि एवं तट प्राप्त करने में सफलता मिली।

लघुउत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न–(1) ड्रेफस कांड (1894) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– ड्रेफस कांड (1894)– अल्फ्रेड ड्रेफस एक देशभक्त (फ्रांस भक्त) ईमानदार, सुयोग्य तथा यहूदी जाति का कप्तान था। उसको अपराधी बनाने का षड्यंत्र रचा गया। अक्टूबर, सन् 1894 में जब ड्रेफस को बन्दी बनाकर आजन्म कारावास देकर 'शैतान द्वीप' भेज दिया गया तो उसके बाद सन् 1896 में कर्नल पिक्वर्ट को सेना के गुप्तचर विभाग का प्रमुख (अध्यक्ष) बनाया गया, जिसने सम्पूर्ण तथ्यों का पता लगाकर अपनी रिपोर्ट में ड्रेफस को निर्दोष बताया।

यह एक ऐसा प्रकरण था जो राजतंत्रवादी, कैथोलिक और षड्यन्त्रकारी अधिकारियों के द्वारा बनाया गया था। गणतन्त्र को कमजोर करने के लिये यह षड्यन्त्र रचा गया था परन्तु इससे राजतन्त्रवादी और कैथोलिक बदनाम हो गये और गणतन्त्र सुदृढ़ हो गया। इससे देश में पादरियों और राजतन्त्रवादियों का प्रभाव कम हो गया।

प्रश्न–(2) बिस्मार्क की गृह–नीति की संक्षेप में लिखिये।

उत्तर– बिस्मार्क की गृह–नीति– 1871 का वर्ष प्रशा और जर्मनी के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण युग एवं परिवर्तनकारी घटना थी। इस वर्ष में बिस्मार्क के नेतृत्व में पूरा जर्मनी आस्ट्रिया के दासत्व तथा अपनी पूर्व पराजयों के अपमान से मुक्त हो गया था। सन् 1869 में बिस्मार्क ने उत्तरी जर्मन–संघ की लोकसभा में स्वयं के एक भाषण में अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुये कहा था कि, 'आरम्भ से ही मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य जर्मनी को एक सूत्र में बाँधना एवं एकता के बाद उसे शक्तिशाली एवं पूर्ण बनाना और एकीकरण को ऐसा रूप देना रहा है कि उससे सम्बन्धित समस्त लोगों की सद्भावना के साथ वह चिरस्थाई हो सके।'

1871 के पहले पूर्व आस्ट्रिया तथा फ्रांस से युद्ध उसकी आवश्यकता तथा नीति थी। युद्धों के बाद यूरोपीय शान्ति तथा जर्मनी का संगठन उसकी गृह–नीति के प्रमुख प्रेरक तत्व थे। संविधान प्रशा तथा जर्मन नागरिकों के एकता के बिना यह सम्भव नहीं थे। यही बिस्मार्क की गृह–नीति थी।

प्रश्न–(3) बिस्मार्क की विदेश नीति का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

उत्तर– बिस्मार्क का एकमात्र उद्देश्य प्रशा की सर्वोच्चता और शक्तिशाली तथा समृद्धिशाली जर्मनी का निर्माण था। इसी उद्देश्य के लिये समर्पित बिस्मार्क ने 1871 के बाद भी अपनी विदेश–नीति के अग्रलिखित आधारभूत तत्व निर्धारित किये–

(1) **यूरोपीय शांति–** एकीकरण के बाद जर्मनी में अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक समस्यायें और मतभेद थे। सम्पूर्ण जर्मनी की बाह्य एकता के बाद आन्तरिक रूप में भी एकता का निर्माण करना शेष था।

(2) **यथास्थिति–** शांति भंग किसी भी प्रश्न पर हो फ्रांस, रूस, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड परस्पर युद्ध कर सकते थे। अतः बिस्मार्क 1871 की स्थिति बनाये रखना चाहता था। अतः बिस्मार्क यथास्थितिवादी था।

(3) **फ्रांस का एकाकीपन–** फ्रांस का एकाकीपन बिस्मार्क की विदेश नीति का मूल आधार था। बिस्मार्क जानता था कि फ्रांस अल्सेस और लॉरेन की क्षति को कभी नहीं भूल सकता था। इसलिये वह सदैव प्रशा विरोधी देशों को मित्र बनाने का प्रयत्न करेगा एवं युद्ध करने को तत्पर होगा।

प्रश्न–(4) 'कुल्टर काम्फ' से आप क्या समझते हैं?

उत्तर– बिस्मार्क यद्यपि 1866 से ही रोमन चर्च के कैथोलिकों से नाराज था परंतु जर्मनी के एकीकरण के संघर्ष और आस्ट्रिया तथा फ्रांस से युद्ध के कारण वह कैथोलिकों के प्रति कूटनीतिक मौन धारण किये रहा। जर्मनी के 1871 में एकीकरण पूर्ण हो जाने एवं आस्ट्रिया और फ्रांस की पराजयों के पश्चात् बिस्मार्क में रोमन कैथोलिकों के विरूद्ध संघर्ष आरंभ किया। इसी संघर्ष को जर्मनी के एक संघर्ष में सक्रिय वैज्ञानिक डॉ. वर्चाऊ ने कुल्टर काम्फ की संज्ञा प्रदान की थी। बिस्मार्क कहा करता था कि 'जर्मनी में (विशेषकर प्रशा में) इतना और कोई शक्तिशाली नहीं है जितना यह विदेशी (रोमन चर्च) बिस्मार्क का उससे कभी संघर्ष नहीं होता यदि रोमन चर्च या पोप के निर्देश राष्ट्र विरोधी नहीं होते।'

प्रश्न–(5) कैसर विलियम के व्यक्तित्व पर एक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– कैसर विलियम अति महत्वाकांक्षी व्यक्ति था जो स्वयं को और प्रशिया को विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न व्यक्ति और राष्ट्र बनाना चाहता था। उसकी विदेश–नीति का दूसरा पहलू यह था कि इस उद्देश्य से कम पर न तो वह समझौता करने को तैयार था, न झुकने को तैयार था। इसके लिये वह विजय और पराजय को भी स्वीकार करने को तत्पर था। उसने कभी भी पूर्वजों के कष्टों, जर्मनी की प्रगति और विनाश की चिंता नहीं की। अतः उसकी नीति 'विश्व–शक्ति या पतन' की थी।

विलियम स्वयं को इतना योग्य, कुशल एवं दूरदर्शी मानता था कि वह अपने मंत्रियों से भी परामर्श करना उचित नहीं समझता था और असम्भव कार्यों में संलग्न हो जाता था। कैसर विलियम न प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके न साम्राज्य विस्तार कर सके और न स्वयं की रक्षा ही कर सके। उसने अपनी नीति से स्वयं को यूरोप का और विश्व का शत्रु बना लिया और स्वयं अकेला हो गया। उसकी नीति ने विश्व को महायुद्ध के संकट में डाल दिया।

इकाई-2

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. पूर्वी समस्या और रूस तुर्की (टर्की) युद्ध एवं उनकी परिस्थितियों का विवेचन कीजिये।

अथवा

पूर्वी समस्या क्या है? सेनस्टीफेनो की संधि तक इसका वर्णन कीजिये।

अथवा

पूर्वी समस्या में इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया और रूस की भूमिकाओं को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– विशाल तुर्की (टर्की) साम्राज्य के पतन के साथ यूरोप के पूर्व में उसके आधीन बाल्कन राज्यों के ईसाई राज्यों और इस्लामी सरकार के मध्य समस्यायें उत्पन्न हो गईं तथा शक्तिशाली यूरोपीय देश अपने आर्थिक और सैनिक स्वार्थों को पूरा करने के लिये तुर्की के भू–भाग को हड़पने का प्रयत्न करने लगे जैसे– जीवित स्वस्थ हाथी से दूर भागने वाले सामान्य पशु उसके रोगी और असमर्थ होते ही उसके मांस–भक्षण के लालच से उसे चारों ओर से घेरकर उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हों तथा उसकी मृत्यु के उपाय और नोंचने के प्रयत्न करने लगें जिससे उसका माँस भक्षण करने को मिल सके।

समस्यायें– पूर्वी–प्रश्न अथवा बाल्कन राज्यों की समस्या अथवा तुर्की की समस्या निम्न प्रकार से थीं–

1. ईसाई प्रजा पर इस्लामी राज्य के अत्याचार और आधीन बनाये रखने की समस्या।
2. बाल्कन के सभी राज्यों में आपसी राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक संघर्ष की समस्या के साथ–साथ स्वराष्ट्रीय प्रदेशों की एकता और स्वतंत्रता की समस्या।
3. ईसाई राज्यों की तुर्की से मुक्त होने की अभिलाषा तथा संयुक्त प्रयास की सफलता।
4. रूस, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, फ्रांस, जर्मनी के द्वारा बाल्कन राज्यों को जातीय, धार्मिक या आर्थिक आधारों पर समर्थन देने या विरोध करने तथा स्वयं के द्वारा तुर्की पर प्रभाव जमाने की अभिलाषा से उत्पन्न समस्या।

1789 से 1870 तक रूसी मदद से सर्बिया तथा मॉन्टीनीग्रो तुर्की के नियंत्रण से मुक्त हो चुके थे। रूमानिया भी स्वतंत्र हो गया था। क्रीमियाँ युद्ध में पराजित रूस ने 1856 की पेरिस संधि को भंग करना आरम्भ कर दिया था। उसने अखिल स्लाव एकीकरण को राज्य में जागृत किया और समर्थन दिया तथा तुर्की को समस्त स्लाव जाति को एक जाति के रूप में मान्य करने को विवश किया। इसके साथ ही तुर्की ने अपनी अन्य ईसाई प्रजा के साथ पेरिस संधि में यूरोपीय देशों को उदार शासन और धार्मिक स्वतंत्रता देने का वचन भी दिया था।

समस्या का पुनः आरम्भ– पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में 1774 में कुजुक केनार्जी संधि, बुखारेस्ट संधि 1812 और पेरिस की संधियों से पूर्वी समस्या का कोई समाधान नहीं हुआ अतः उपरोक्त समस्यायें 1856 के बाद पुनः उठना आरम्भ हो गईं।

1. सर्व स्लाववादी आन्दोलन– बाल्कन राज्यों में राष्ट्रीय संघर्ष का आरम्भ सर्व स्लाववादी आन्दोलन के परिणामस्वरूप हुआ। बोस्निया, हर्जेगोविना स्लाव प्रधान राज्य थे तथा सर्बिया और रूस उनके समर्थक थे। 1867 में मास्को में एक विराट सर्वस्लाव समर्थक महासम्मेलन हुआ था और इसमें एक केन्द्रीय सर्व स्लाववादी समिति की स्थापना हुई जिसका प्रमुख कार्यालय मास्को में था। इसकी उप–समिति बुखारेस्ट में रखी गई। इसकी योजना के अनुसार सर्बिया, बोस्निया, मोंटीनीग्रो और बल्गेरिया में गुप्त समितियों का जाल बिछाया गया। 1870 में तुर्की की स्थिति बहुत खराब हो गई, इसका लाभ उठाकर बाल्कन राज्यों में स्लाव संघर्ष का नेतृत्व सर्बिया ने किया। यहाँ के राजकुमार मिलोश ऑब्रीनोविश तृतीय ने भारी प्रयत्न करके सर्बिया, बोस्निया और हर्जेगोविना को एक सूत्र में बांधा। उसने क्रोशिया, बल्गेरिया, यूनान के नेताओं से गुप्त समझौते किये। परन्तु 1868 में राजकुमार की हत्या हो गई इससे इस आन्दोलन को भारी हानि उठानी पड़ी।

2. हर्जेगोविना का संघर्ष– राजकुमार की हत्या से सर्व स्लाववादी आन्दोलन को भारी झटका लगा था परन्तु राष्ट्रीय भावना समाप्त नहीं हुई थी। सन् 1875 तक बल्गेरिया की प्रतिद्वन्द्विता, आस्ट्रिया–हंगरी के हित और जर्मन शक्ति सर्बिया और यूगोस्लाव संघ के बीच में अवरोध बनकर खड़े हो गये। अब सर्बिया की आशा निराशा में बदली अतः उसने युद्ध का निश्चय किया। यद्यपि 1875–76 में प्रतीत होता है कि संघर्ष का आरम्भ सर्बिया ने नहीं किया परन्तु उससे प्रेरणा पाकर ही बोस्निया और हर्जेगोविना ने संघर्ष को आरम्भ किया। इनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और राष्ट्रीय सभी प्रकार के असन्तोष व्याप्त थे। कठोर जागीरदार, निर्दयी तुर्की अधिकारी तथा परिवर्तित नवीन मुसलमान राक्षसी कृत्य करने में जुटे थे। हर्जेगोविना इन्हें सहन नहीं कर सका। अतः 1875 में कर वसूल करने आये तुर्की सैनिकों को हर्जेगोविना के नागरिकों ने मार भगाया। शीघ्र ही संघर्ष की आग बढ़ गई। मोंटीनीग्रो और डाल्मेशिया मदद के लिये हर्जेगोविना पहुँच गये। यह समाचार पाकर तुर्की

सुल्तान रिक्त राजकोष के कारण घबरा गया। यूरोपीय देश स्वार्थपूर्ण शान्ति के लिये वार्ता करने लगे। तुर्की सुल्तान सुधार और उदार शासन के झूठे प्रलोभन देने लगा। इसी समय सलोनिका में फ्रांस और जर्मनी के वाणिज्य–दूतों की हत्या के फलस्वरूप समझौता और भी कठिन हो गया।

3. अन्य बाल्कन राज्य भी संघर्ष में शामिल हुये– मई 1875 में बोस्निया में भी संघर्ष आरम्भ हो गया, जून में सर्बिया और मॉन्टीनीग्रो ने तुर्की के खिलाफ युद्ध घोषणा कर दी। दूसरी ओर बल्गेरिया ने भी तुर्की के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। बल्गेरियनों ने 1870 तक अपने चर्च को ग्रीक चर्च से मुक्त कर लिया था यह तुर्कों के लिये युद्ध का एक संकेत था। 1876 में यहाँ भयंकर संघर्ष आरम्भ हो गया तथा 100 से अधिक तुर्की के अधिकारी मार डाले गये।

4. बल्गेरिया का प्रतिरोध– तुर्की ने प्रतिशोध लेने के लिये 18,000 तुर्की सैनिक भेजे जिन्होंने बल्गेरिया में कत्ल–ए–आम किया, लूटा, बलात्कार किये। इस कत्ल–ए–आम की सूचना जब यूरोपीय देशों में पहुंची तो उत्तेजना की लहर दौड़ पड़ी। ग्लेडस्टन जो राजनीति से अवकाश ले चुके थे पुनः राजनीति में आ गये। उन्होंने कहा कि तुर्कों को अपने जुल्मों के कारण स्वयं बल्गेरिया से भाग जाना पड़ेगा। तुर्की के जालिम अधिकारियों जिनमें जोप्टे, मुडीर, बिम्बासी, यज्वाशी, कैमरून और वाशा प्रमुख हैं अन्य अधिकारियों सहित बल्गेरिया से सदैव के लिये जाना ही होगा जिसको उन्होंने निर्जन बना दिया है और नृशंसता से अपवित्र कर दिया है। इससे तुर्क साम्राज्य को बर्लिन स्मृति पत्र के द्वारा बाल्कन राज्यों में सुधार न करने पर सशस्त्र हस्तक्षेप की धमकी दी गई। इंग्लैण्ड का जनमत तुर्की के खिलाफ सक्रिय कदम उठाना चाहता था और सरकार इस जनमत के खिलाफ थी अतः उसने इस दिशा में कुछ नहीं किया।

5. इंग्लैण्ड की निष्क्रियता– इस समय इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री डिजरैली था, ग्लेडस्टन नहीं। डिजरैली ने बल्गेरिया की मदद के लिये कोई कार्य नहीं किया, क्योंकि उसने भारत से होने वाले आर्थिक लाभ को अधिक महत्व दिया, ईसाई प्रेम को नहीं। दो वर्ष पूर्व ही उसने स्वेज नहर के खेदीव के प्रदेशों को खरीदा था। 1876 में प्रिंस ऑफ वेल्स को प्रथम बार भारत भेज रहा था। जनवरी 1877 में भारत में शानदार उत्सव आयोजित किया गया था जिसमें विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित करना था। तुर्की भारत का शत्रु नहीं था और न कुछ करने ही लायक था, जबकि रूस अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। इसके अतिरिक्त डिजरैली एक यहूदी था और ग्लेडस्टन कट्टर ईसाई और ईसाई समर्थक था। अतः डिजरैली ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता था जिससे भारत का व्यापार खतरे में पड़े। रूस इंग्लैण्ड को 2 नवम्बर, 1876 को वचन दे चुका था कि वह बल्गेरिया और कुस्तुनतुनिया को अपने साम्राज्य में नहीं मिलायेगा।

रूस–तुर्की युद्ध

विशाल तुर्की साम्राज्य क्रमशः पतनशील होता जा रहा था। उसके पतन से यह समस्या उत्पन्न हुई कि उसके विशाल भू–प्रदेश का बंटवारा विभिन्न शक्तिशाली देशों में कब और कैसे हो। इस्लामी शासकों के दमन और अत्याचारों से पीड़ित ईसाई राज्य परस्पर कैसे एक हों और तुर्की से शीघ्रातिशीघ्र कैसे मुक्त हों। विभिन्न शक्तिशाली यूरोपीय देश बाल्कन राज्यों में हस्तक्षेप कर अथवा तुर्की को मदद देकर या उस पर आक्रमण कर अपने–अपने स्वार्थों की सिद्धि करना चाहते थे। इससे पूर्वी समस्या और भी अधिक जटिल हो चुकी थी। इसी के परिणामस्वरूप रूस–तुर्की युद्ध 24 अप्रैल, 1877 को सम्पन्न हुआ।

युद्ध के कारण– तुर्की की समस्या का आरम्भ पूर्व में भी बाल्कन राज्यों के राष्ट्रीय संघर्ष और यूरोपीय देशों के हस्तक्षेप से हुआ था 1870 में भी इसका आरम्भ इसी प्रकार हुआ। पूर्व में किये गये सभी संधि–समझौते पूर्वी प्रश्न को हल करने में असफल रहे तथा जब यूरोप में राष्ट्रीय संघर्ष आरम्भ हुये तथा क्रीमियाँ में रूस की और सेडोवा में आस्ट्रिया की पराजय हुई तो उसके साथ ही बाल्कन राज्यों में भी निम्न कारणों से राष्ट्रीय भावना का संचार हुआ और तुर्की से युद्ध हुआ जिसके निम्न कारण थे–

1. सर्व स्लाववादी आन्दोलन– पेरिस सम्मेलन में रूस की असफलता के पश्चात् रूस ने अपने लिये समुद्री मार्ग पाने के उद्देश्य से तुर्की के आधीन स्लाव राज्यों में 'सर्वस्लाववाद' के आन्दोलन को आरम्भ करवाया। इसके लिये रूस ने झूठे नाम से 1867 में मास्को में एक विराट सम्मेलन किया। इसका प्रमुख कार्यालय मास्को में और उपसमिति का कार्यालय बुखारेस्ट में स्थापित किये गये। इसका तथाकथित नाम 'विज्ञान सम्मेलन' जैसा था परन्तु इसका उद्देश्य और कार्य 'अखिल स्लाव आन्दोलन' की उत्पत्ति और उसका प्रचार और प्रसार करना था। शीघ्र ही तुर्की के आधीन स्लाव राज्य (सर्बिया, बोस्निया और हर्जेगोविना) आदि इसमें शामिल हो गये। इसमें अन्य बाल्कन राज्यों से भी सहयोग मिला। इस आन्दोलन के कारण बाल्कन के स्लाव राज्यों ने तुर्की के खिलाफ संघर्ष किये।

2. बोस्निया और हर्जेगोविना के द्वारा संघर्ष– स्लाव राज्यों में सर्बिया पहले ही स्वतंत्र हो चुका था उससे और रूस का समर्थन पाकर बोस्निया और हर्जेगोविना भी स्लाव एकीकरण में शामिल होने के लिये तथा तुर्की से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील थे। सर्बिया के राजकुमार ने (मिलोश ऑब्रीनोविश तृतीय) ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता से सर्बिया, बोस्निया और हर्जेगोविना को एक सूत्र में बाँधा था परन्तु 1868 में उसकी हत्या से इस आन्दोलन को भारी क्षति उठाना पड़ी। इस बीच आस्ट्रिया, जर्मनी ने इस आन्दोलन में अनेक बाधायें खड़ी कर दीं।

बोस्निया, हर्जेगोविना की निराशा ने तुर्की के खिलाफ पुनः 1875–76 में राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दिया, क्योंकि यहाँ सभी प्रकार के अत्याचार तुर्की निरन्तर करता चला आ रहा था। मांटीनीग्रो, डाल्मेशिया और फिर सर्बिया भी इनकी मदद को आ गये। सालोनिका द्वीप में फ्रांस और जर्मनी के वाणिज्यदूतों की हत्या के कारण भी तुर्की और आन्दोलनकारियों में समझौता नहीं हो पाया।

3. तुर्की के अत्याचार– इस्लामी आक्रमण का इतिहास इस बात के लिये प्रत्येक स्थान पर कुख्यात रहा है कि जहाँ भी वे गये एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर गये। इस्लाम के धर्मान्ध सेनापतियों ने गैर इस्लामी देशों में जाकर आक्रमण किये, अत्यधिक लूट–पाट की, जमीन छीनी, बच्चों–वृद्धों की हत्यायें की, विधर्मी स्त्रियों के अपहरण किये तथा उनके साथ अमानुषिक कृत्य किये। बोस्निया, हर्जेगोविना, सर्बिया, मांटीनीग्रो, बल्गेरिया के कत्लेआमों का यही निष्कर्ष था। तुर्की के जालिम अधिकारियों ने जिनमें जोप्टे, मुडीर, बिम्बासी, यज्वाशी, कैमकम और पाशा अधिक प्रसिद्ध हुये। इन अत्याचारों के कारण यूरोप का जनमत तुर्की के खिलाफ हो गया और युद्ध की माँग करने लगा। इसमें इंग्लैण्ड ने भले ही सहयोग नहीं दिया, परन्तु इससे बाल्कन राज्यों को एक–दूसरे को सहयोग करने का अवसर और प्रेरणा मिली तथा रूस ने इसमें रुचि ली जिससे रूस–तुर्की युद्ध हुआ।

4. बल्गेरिया का प्रतिरोध– मई 1875 में बोस्निया–हर्जेगोविना के संघर्ष में बल्गेरिया ने भी सहयोग प्रदान किया। जून में सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो ने तुर्की के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी थी। ठीक इसी समय बल्गेरिया ने अपने राष्ट्रीय संघर्ष को आरम्भ कर दिया तथा 1876 में उन्होंने 100 से अधिक अत्याचारी तुर्की अधिकारी मार दिये।

अतः तुर्की ने बल्गेरिया को 18,000 तुर्की सैनिक भेजकर कत्लेआम किया। जिनके कारण ग्लेडस्टन ने तुर्की के विरोध में राजनीति से संन्यास को त्याग दिया। इन अत्याचारों से विश्व जनमत तुर्की के खिलाफ हो गया। अतः जब रूस तुर्की पर आक्रमण करने बढ़ा तो आस्ट्रिया सशर्त सहयोगी बन गया और अन्य देश तटस्थ बने रहे।

5. आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण– तुर्की पर आक्रमण के पूर्व रूस ने 1856 की पेरिस संधि को तोड़कर बेसेरेविया की ओर बढ़ने लगा तथा 1876 में यूरोपीय देशों की प्रतिक्रिया जानने के लिये कुछ समय प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु जब उसने देखा कि वे एक मत नहीं हैं तथा उनके द्वारा व्यक्तिगत या संयुक्त प्रयास नहीं है तब रूस ने 1877 जनवरी में आस्ट्रिया के साथ रीशटॉग की संधि करके और रूमानिया से भी संधि कर तुर्की पर आक्रमण का निश्चय किया। रूस ने आस्ट्रिया को बोस्निया तथा हर्जेगोविना में सहायता के बदले अपना प्रभाव बढ़ाने की छूट दे दी थी।

इंग्लैण्ड इस समय युद्ध तत्पर नहीं था। बल्गेरिया के प्रश्न पर जनमत सरकार के खिलाफ था और अब रूस निरन्तर आगे बढ़ रहा था फिर भी डिजरैली सरकार मौन रही। इसका प्रमुख कारण थे कि डिजरैली एक यहूदी था ईसाई नहीं। उसमें ईसाईयों के प्रति वह प्रेम नहीं था जो ग्लेडस्टन के मन में था। उसने दो वर्ष पूर्व ही स्वेज नहर के खेदीव प्रदेशों को खरीदा था। सन् 1876 में वह प्रिंस ऑफ वेल्स को प्रथम बार भारत भेज रहा था। जनवरी 1877 में भारत में एक शानदार आयोजन किया जा रहा था जिसमें महारानी विक्टोरिया को 'भारत सम्राज्ञी' की उपाधि देने की घोषणा की जाने वाली थी। तुर्की भारत का शत्रु नहीं था परन्तु रूस के अफगानिस्तान में प्रभाव बढ़ने का खतरा था। इसके अतिरिक्त रूस–तुर्की युद्ध में दोनों की शक्ति का विनाश होने से इंग्लैण्ड को भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा और तुर्की में प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिलता अतः इंग्लैण्ड ने बल्गेरिया के कत्लेआम को सहन कर तटस्थ रूप धारण कर लिया। वह कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता था कि जिससे भारत के व्यापार को खतरा पहुंचे। आस्ट्रिया के सहयोग और डिजरैली के मौन ने रूस को यह अवसर प्रदान कर दिया कि वह तुर्की पर आक्रमण कर दे।

युद्ध घोषणा और संधि– 1877 के जून के अन्त में रूस ने तुर्की के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी तथा उसकी सेनायें रूमानिया होकर कुस्तुनतुनियां की ओर बढ़ीं उन्होंने डेन्यूब को पार कर लिया। इसी समय मॉन्टीनीग्रो ने भी तुर्की के खिलाफ युद्ध आरम्भ कर दिया और दिसम्बर में सर्बिया ने युद्ध आरम्भ कर दिया। जून 1877 से 1878 के मध्य रूस और तुर्की में भयंकर युद्ध हुआ। बेसेरेविया में रूस को असफलता परन्तु अन्य स्थानों पर सफलता मिली। प्लेवना, सेबास्तोपोल, सेफिया और 20 जनवरी, 1878 को एड्रियानोपुल पर रूसी अधिकार हो गया। नवम्बर में काकेशस और कार्स में तुर्की को समर्पण करना पड़ा।

सेनस्टीफेनो की संधि– रूस ने सेनस्टीफेनो की संधि में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यही नहीं उसने उन राज्यों की संधि में उपेक्षा की जिन्होंने उसे मदद दी थी। यह तथ्य संधि की धाराओं से स्पष्ट होता है।

धारायें– तुर्की तथा रूस के मध्य 3 मार्च, 1878 को निम्न शर्तों पर संधि सम्पन्न हुई–

1. सर्बिया तथा मॉन्टीनीग्रो को स्वतंत्र राज्य मान लिया गया तथा दोनों को कुछ और प्रदेश भी दिये गये। सर्बिया को निश और मॉन्टीनीग्रो को बोस्निया का कुछ भाग और एड्रियाटिक सागर के तीन बन्दरगाह दिये।
2. तुर्की ने स्वीकार किया कि बोस्निया और हर्जेगोविना में रूस और आस्ट्रिया की देखरेख में सुधार करवाना होंगे तथा स्वशासन देना तुर्की ने मान्य किया।

3. डेन्यूब नदी के किनारे के तुर्की दुर्गों को गिरा दिया जायेगा।
4. आरमिया में सुधारों का वचन तुर्की ने दिया।
5. तुर्की ने रूस को एशिया में वाटूम, कार्स, अदाहिन और बायजिद के प्रदेश रूस को प्रदान किये। इसके अतिरिक्त रूमानिया से बेसेरेविया का कुछ भाग दिलवाया गया तथा बाद में क्षतिपूर्ति की कम राशि देने पर दो ब्रूजा के कुछ भाग भी दिये।
6. रूमानिया को तुर्की के कुछ भाग दिलवाकर स्वतंत्र मान्य किया गया।
7. तुर्की रूस को 14 करोड़ पौण्ड क्षतिपूर्ति में देगा यदि वह ऐसा न करे तो दो ब्रूजा का प्रदेश और 3 करोड़ पौण्ड देगा (बाद में दो ब्रूजा दिया)।
8. बल्गेरिया की सीमा दक्षिण में काले सागर से इजीयन सागर तक और पश्चिम में अल्बानिया तक तथा उत्तर में डेन्यूब नदी तक विस्तृत करने तथा वहाँ स्वायत्त शासन देना तुर्की ने स्वीकार किया।

समीक्षा एवं परिणाम– प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत तो यही हुआ कि रूस ने पेरिस संधि के प्रभाव को समाप्त कर बाल्कन क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और वह यूरोप की महान शक्ति बन गया। इस संधि ने यूरोप के मानचित्र से तुर्की साम्राज्य को हटा दिया तथा उसके समस्त यूरोपीय भाग पर रूस का नियंत्रण हो गया।

रूस की शक्ति, प्रभाव और नियन्त्रण में अभूतपूर्व वृद्धि होने से यूरोप और बाल्कन राज्यों में भी असन्तोष व्याप्त हो गया। इनमें अनेक रूस के समर्थनकर्ता राज्य भी थे। सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो, ग्रीक, रूमानिया, आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि इनमें प्रमुख थे। रूमानिया असन्तुष्ट था क्योंकि रूस ने उससे संधि कर कुस्तुनतुनियां पहुँचने का मार्ग प्राप्त किया परन्तु संधि में बेसेरेविया उससे छीन लिया तथा जो प्रदेश दिये उस पर भी उससे परामर्श नहीं किया। मॉन्टीनीग्रो ने भी रूस को प्रत्यक्ष युद्ध में भाग लेकर सहायता दी परन्तु संधि में उसके निकट विशाल बल्गेरिया का निर्माण उसे अच्छा नहीं लगा। ग्रीक की नाराजी का भी यही कारण था। आस्ट्रिया की अप्रसन्नता का कारण थे, आस्ट्रिया–रूस की संधि की उपेक्षा और उसकी शर्तों की अवहेलना। जर्मनी रूस की अपेक्षा आस्ट्रिया को अधिक महत्व देता था अतः आस्ट्रिया के विरोधी होने से जर्मनी भी रूस विरोधी था। इंग्लैण्ड ने जून 1877 के पूर्व ही इंग्लैण्ड ने रूस से आक्रमण के समय अनेक आश्वासन ले लिये थे। किन्तु रूस ने विजय प्राप्त करने के बाद उन्हें पूरा नहीं किया अतः इंग्लैण्ड भी रूस से असन्तुष्ट था। यद्यपि तुर्की के असन्तोष का प्रश्न नहीं था फिर भी रूस के द्वारा उसके साम्राज्य का विनाश असन्तोष का कारण था।

प्रश्न–2. बर्लिन संधि (कांग्रेस) में रूस के खिलाफ आस्ट्रिया की प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख कीजिये।

अथवा

सेनस्टीफेनो संधि के बाद बर्लिन संधि के कारण और परिणामों का विवेचन कीजिये।

उत्तर– रूस–तुर्की युद्ध के परिणामस्वरूप पराजित और असमर्थ तुर्की को विवश होकर सेनस्टीफेनो की संधि रूस के साथ करना पड़ी। इस संधि में प्रमुख धाराओं का निर्धारणकर्ता रूस था। जिसने अपने स्वार्थों को ध्यान में रखकर शर्तें निश्चित की थीं। इससे रूस और बल्गेरिया को भारी सुविधायें ही नहीं बाल्कन राज्य में प्रभुत्व शक्ति स्थापित करने का पूर्ण अवसर मिल गया। जिससे बाल्कन राज्यों, यूरोपीय देशों और तुर्की में चिन्ता और भय की लहर दौड गई।

सेनस्टीफेनो की संधि का विरोध– बाल्कन राज्यों और यूरोपीय देशों (इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया आदि)का मत रूस के खिलाफ हो गया और सभी ने सेनस्टीफेनो की संधि पर पुनर्विचार करने

तथा नवीन संधि करने पर जोर दिया परिणामस्वरूप बर्लिन संधि सम्पन्न हुई। अतः बर्लिन संधि के निम्न प्रमुख कारण थे–

1. रूस के प्रभाव में वृद्धि– सेनस्टीफेनो की संधि के अनुसार रूस के बाल्कन और यूरोप में अभूतपूर्व प्रभाव की वृद्धि हो गई। संधि की धारा के अनुसार–

1. सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो को स्वतंत्रता तथा अन्य स्लाव राज्य दिये गये।
2. बोस्निया तथा हर्जेगोविना के स्लाव राज्य में रूस और आस्ट्रिया की देखरेख में सुधार करने का वचन तुर्की ने दिया था।
3. डेन्यूब के किनारे तुर्की के दुर्ग गिरा देने से उसमें रूस से लड़ने की क्षमता नहीं रही।
4. तुर्की से रूस को एशिया में वाटूम, कार्स, अदाहिन और वायजिद के प्रदेश मिलने से रूसी विस्तार हुआ। रूमानिया सेद्रोबुजा मिला तथा बेसेरेविया का कुछ भाग भी दिया गया।
5. रूस ने तुर्की से क्षतिपूर्ति में तीन करोड़ पौण्ड लिया गया।
6. सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो और रूमानिया की स्वतंत्रता रूसी मदद से मिली थी अतः रूस बाल्कन राज्यों में स्वयं को नेता मानने लगा था।
7. बल्गेरिया के विशाल राज्य का निर्माण कर उसे स्वायत्त शासन दिलवाने में रूस ने सफलता प्राप्त कर यूरोपीय जनमत को प्रभावित किया था।

उपरोक्त शर्तों में रूस ने पेरिस संधि के अपमान और पराजय को धो दिया तथा उसने यूरोप के मानचित्र से तुर्की साम्राज्य को समाप्त कर दिया। उसके समस्त यूरोपीय भाग पर रूस का नियन्त्रण हो गया। वह यूरोप की ही नहीं एशिया की भी महान शक्ति बन गया। रूस ने यह सभी सफलतायें स्वयं ही पाई थीं तथा किसी ने कोई सफलता यदि पाई भी तो वह नगण्य थी। इस प्रतिष्ठा और शक्ति वृद्धि से प्रतिद्वन्दी राष्ट्र और अपनी मदद के उपलक्ष्य में उपेक्षा पाने वाले बाल्कन राज्य असन्तुष्ट हुये। उन्होंने बर्लिन कांग्रेस की मांग की।

2. बाल्कन राज्यों में असन्तोष– बाल्कन राज्यों ने रूस को तुर्की के आक्रमणों में मदद दी थी। रूमानिया ने रूस के साथ संधि करके 1877 में रूस रूमानिया से होकर ही कुस्तुनतुनियां की ओर बढ़ सका था। परन्तु सेनस्टीफेनो की संधि में उससे परामर्श किये बिना उससे बेसेरेविया का कुछ भाग रूस ने स्वयं ले लिया। इस क्षति की पूर्ति में तुर्की के कुछ भाग भी उसे दिला दिये और उसे स्वतंत्र भी घोषित करवा दिया। परन्तु स्वतंत्रता के अतिरिक्त उसकी राष्ट्रीय भावना और एकीकरण की उपेक्षा की। मॉन्टीनीग्रो तो युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष करने के लिये उपस्थित हुआ। सेनस्टीफेनो संधि में उसे भी स्वतंत्र घोषित किया गया परन्तु उसी की सीमा पर विशाल बल्गेरिया के निर्माण से वह असन्तुष्ट हुआ। ग्रीक की नाराजी का भी यही कारण था। सर्बिया में घोर असन्तोष था कि बोस्नियां और हर्जेगोविना में आस्ट्रिया की देखरेख में सुधार कार्य करने का अधिकार दिया गया था जो उसका शत्रु था। दोनों की राष्ट्रीय भावना का भी ध्यान नहीं रखा तथा उनके प्रदेशों को मनमाने तरीके से बांटा गया। उपरोक्त सभी राज्य बल्गेरिया राज्य के निर्माण से नाराज थे। रूस ने स्वयं तुर्की से क्षतिपूर्ति वसूल की परन्तु तुर्की के भयंकर दमन, अत्याचार और आर्थिक क्षति की पूर्ति नहीं करवाई। इन असन्तोषों के कारण जब सेनस्टीफेनो संधि पर पुनर्विचार की मांग की गई तो किसी ने भी रूस का समर्थन नहीं किया और न रूस ने इनका समर्थन लेने की कोशिश की। तुर्की भी सेनस्टीफेनो से नाराज था क्योंकि इससे उसका विनाश हो रहा था।

3. यूरोपीय राष्ट्रों की मांग– रूस ने 1877 में आस्ट्रिया से रीशटॉग की संधि करके और यूरोपीय राष्ट्र की प्रतीक्षा करके तथा इंग्लैण्ड को यह आश्वासन देकर कि 'रूस

कुस्तुनतुनियां और संकीर्ण मार्ग पर अधिकार नहीं करेगा तथा मिस्र में और स्वेज नहर में ब्रिटिश हितों का ध्यान रखेगा।' इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री डर्बी ने संधि के पूर्व (जनवरी 1878) यह भी कहा कि 'यदि वह रूस और तुर्की के बीच कोई ऐसी संधि करेगा जिसके द्वारा 1856 या 1871 की व्यवस्थाओं में गड़बड़ी होगी तो, ऐसी कोई भी संधि उस समय तक मान्य नहीं होगी जब तक कि उक्त संधि पर 1856 और 1871 पर हस्ताक्षर कर्ता देश अनुमति न देंगे।' वास्तव में आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड रूस के बाल्कन प्रदेश में और तुर्की पर प्रभाव को रोकने के लिये कृतसंकल्प थे। रूसी प्रभाव से दोनों को खतरा था। आस्ट्रिया की मित्रता को जर्मनी अधिक कीमती समझता था अतः उसने आस्ट्रिया का समर्थन किया। अतः इन्होंने बर्लिन कांग्रेस की मांग की।

4. तात्कालिक कारण– इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री डिजरैली ने आस्ट्रिया द्वारा प्रस्तुत पुनर्विचार के प्रस्ताव का समर्थन करते हुये घोषणा की कि– 'रूस-तुर्की के मध्य सेनस्टीफेनो संधि में जितने भी प्रश्नों का निर्णय हुआ है उन सभी विषयों पर यूरोपीय राष्ट्रों की सभा में विचार होगा।' डिजरैली ने इस घोषणा के शीघ्र बाद 17,000 भारतीय सैनिक माल्टा में उतार देने की घोषणा भी की। युद्ध और आन्तरिक अराजकता के कारण रूस इतनी जल्दी दूसरे युद्ध के लिये समर्थ नहीं था। जब रूस ने देखा कि आस्ट्रिया, फ्रांस और जर्मनी भी इंग्लैण्ड का साथ दे रहे हैं और अन्य देश इटली और फ्रांस भी रूस के साथ नहीं थे। बाल्कन राज्यों में भी रूस के प्रति असन्तोष था अतः इस एकाकीपन के कारण रूस ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया, फ्रांस, तुर्की, जर्मनी, इटली, यूनान तथा रूमानिया ने भाग लिया।

बर्लिन संधि (कांग्रेस) की धारायें– 13 जुलाई, 1878 को जर्मनी की राजधानी बर्लिन में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ तथा संधि पर विस्मार्क की अध्यक्षता में हस्ताक्षर हुये। इसकी धारायें निम्नांकित थीं–

1. बोस्नियां तथा हर्जेगोविना को तुर्की के नाममात्र आधीन बनाया तथा इनमें शासन का अधिकार आस्ट्रिया को दिया गया जबकि सेनस्टीफेनो में रूस को भी यह अधिकार था जो छिन गया।
2. सर्बिया तथा मॉन्टीनीग्रो को स्वतंत्र बनाया गया था परन्तु बर्लिन संधि में यहां भी शासन एवं सुधारों का अधिकार आस्ट्रिया को दिया गया। यहीं के मध्यवर्ती प्रान्त नोवी बाजार के संजक प्रदेश में आस्ट्रिया को सैनिक रखने का अधिकार दिया। रूस को यहां से निकाल दिया गया।
3. सर्बिया की स्वतंत्रता पूर्ववत रही तथा उसे निश और बल्गेरिया का पश्चिमी प्रदेश दिया गया था जबकि पूर्व में बल्गेरिया का कोई भाग नहीं दिया गया था।
4. मॉन्टीनीग्रो को पूर्व के समान स्वतंत्र माना गया और एड्रियाटिक सागर में केवल उसे आंतिवारी बन्दरगाह दिया गया जबकि पहले बोस्निया का कुछ प्रदेश दिया गया था। उससे 'स्पिजा' बन्दरगाह आस्ट्रिया को और 'दल सिगनो' बन्दरगाह तुर्की को दिलवाया गया।
5. रुमानिया को स्वतंत्र तो पहले जैसा माना परन्तु बेसेरेविया उससे छीन कर उसे बल्गेरिया से दो ब्रूजा दिलवाया गया (पहले के समान)।
6. इंग्लैण्ड को साइप्रस के साथ आरमीनियां में शासन सुधार के अधिकार दिये गये। इसका सेनस्टीफेनो में कोई उल्लेख नहीं था।

7. यूनान को क्रीट, एपिरस, थैसली और अल्बानिया से दो प्रदेश नहीं मिले। परन्तु सुल्तान ने यहाँ ईसाई जनता को धार्मिक स्वतंत्रता और शासन सुधार के वचन दिये।
8. फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार करने की छूट दी गई जबकि पूर्व में उसे कुछ भी नहीं मिला था।
9. रूस से एशिया का बायजीद तुर्की ने पुनः वापिस ले लिया। किन्तु कार्स, वाटूम और अदाहिन पर रूस का अधिकार पूर्ववत् रहेगा तथा यूरोप में केवल बेसेरेविया का कुछ भाग ही दिया गया।
10. वृहत् बल्गेरिया को तीन भागों में बांटा गया–

(अ) मैसीडोनिया, (ब) पूर्वी रुमेलिया और (स) बल्गेरिया। मैसीडोनिया तुर्की को दे दिया गया। पूर्वी रुमेलिया को तुर्की के आधीन परन्तु ईसाई गवर्नर को शासक बनाया गया तथा तुर्की इसे मनोनीत करेगा। बल्गेरिया तुर्की के नाममात्र आधीन था परन्तु उसे अपना राजा चुनने का और स्थानीय स्वशासन का अधिकार दिया गया। इससे रूस द्वारा निर्मित विशाल बल्गेरिया बहुत छोटा राज्य बनकर रह गया।

बर्लिन संधि (कांग्रेस) का मूल्यांकन– बर्लिन संधि पर और उसके परिणामों पर अनेक समीक्षात्मक विचार हैं। डॉ. गूच के अनुसार यह संधि स्थाई समाधान नहीं बल्कि अस्थाई समझौता मात्र थी क्योंकि इसके सदस्य बर्लिन से गहरी निराशा के साथ लौटे थे। तुर्की अपने आधे से अधिक भाग खो चुका था रूमानिया बेसेरेविया छिनने से क्षुब्ध था। बल्गेरिया के विभाजन से वहां संघर्ष की ज्वाला उठ रही थी। मॉन्टीनीग्रो बहुत पाकर भी अधिक न पाने से असन्तुष्ट था। सर्बिया को भारी आघात् लगा जब बोस्निया और हर्जेगोविना का शासन और उसे हड़पने का अधिकार आस्ट्रिया को दिया गया। ग्रीक को भारी दुख था कि उसे झूठे आश्वासन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला जबकि उसके शत्रु भारी मात्रा में लाभान्वित हुये थे।

रूस के सम्पूर्ण संघर्ष, बलिदानों और आर्थिक लाभों को उसकी शक्ति और प्रभावों सहित समाप्त कर दिया गया। उससे रूस और जर्मनी में शत्रुता और अधिक बढ़ गई। इसी कारण हस्ताक्षरकर्ता देश इसकी उपेक्षा निकट भविष्य में करने का विचार कर रहे थे अतः यह अस्थाई सिद्ध हुई।

1. राष्ट्रीयता तथा जनमत का अपमान– यूरोप में 1871 में राष्ट्रीय एकीकरणों का काल था जर्मनी, इटली के एकीकरण सम्पन्न हो चुके थे। बाल्कन राज्यों में भी राष्ट्रीय एकता, स्वतंत्रता और स्वशासन के लिये संघर्ष चल रहे थे। परन्तु बर्लिन संधि में जर्मनी, इटली और इंग्लैण्ड के राष्ट्रीयता के समर्थक कहलाने वाले विस्मार्क, विक्टर इमेनुएल और डिजरैली राष्ट्रीयता का हनन करने से नहीं चूके। ईसाई रक्षक कहलाने पर भी ईसाईयों पर तुर्की के अत्याचार सहन करते रहे। बल्गेरिया, सर्बिया, बोस्निया, यूनान के साथ ऐसा ही हुआ। इतना ही नहीं यूरोपीय देश तुर्की के प्रदेश, बन्दरगाह और उपनिवेशों को परस्पर बांटने में जुट गये। आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, रूस, जर्मनी और फ्रांस ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये जनमत की उपेक्षा की। परिणामस्वरूप जनता ने इनके खिलाफ भी संघर्ष किये। इसलिये आस्ट्रियन राजकुमार, सर्बिया में मारा गया।

2. रूस और बल्गेरिया में असन्तोष– सेनस्टीफेनो की संधि में रूस ने जो कुछ भी प्राप्त किया था लगभग सभी उसे छोड़ने को विवश कर दिया गया था एशिया में अवश्य कुछ प्रदेश उसके पास रहे क्योंकि वहां यूरोपीय शक्तियाँ उसे निकालने में असमर्थ रहीं। फिर भी रूस की काले सागर, डेन्यूब तथा बाल्कन प्रदेश में आकर भू-मध्य सागर में आने की और व्यापार करने की आकाक्षांयें समाप्त हो गईं। इतना ही नहीं उसने जो सारा श्रम, कूटनीति, संघर्ष और

धन लगाया था, वह व्यर्थ गया। इसके अतिरिक्त बाल्कन राज्य जिनमें, स्लाव राज्य भी थे रूस पर भरोसा नहीं करने की स्थिति में पहुँच गये। इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, फ्रांस युद्ध के पूर्व ईसाईयों को बचाने तो आये नहीं किन्तु अब रूस को प्राप्त लाभों को छीनने के लिये एक हो गये। यह सभी कुछ रूस के लिये भारी असन्तोष का कारण था।

बल्गेरिया, अपने विभाजन और तीन अवस्थाओं से भारी नाराज था अतः वह तो निकट भविष्य में युद्ध करने का विचार करने लगा। सन् 1885 में उसने ऐसा कर भी डाला और सफलता प्राप्त कर ली। बल्गेरियन प्रदेश मैसीडोनिया को तुर्की को लौटाने से "ईसाई प्रेमियों" की पोल खुल गई। मेसीडोनियन जनता ने बल्गेरिया के साथ एकीकरण के लिये तुरन्त संघर्ष आरम्भ कर दिया। बल्गेरिया के राजकुमार और रूस के सम्बन्ध समाप्त हो गये।

3. **रूमानिया का असन्तोष–** रूमानिया के द्वारा रूस–तुर्की युद्ध में मदद देने पर उसे कुछ नहीं मिला था परन्तु बर्लिन संधि ने भी उसे शान्त और सन्तुष्ट करने के लिये कुछ नहीं किया तथा रूस–बर्लिन सम्मेलन में उसके समर्थन में एक शब्द भी नहीं बोला। अतः उसने रूस से सम्बन्ध समाप्त कर जर्मनी से जोड़ लिये।

4. **तुर्की के विनाश पर रोक–** रूस और बाल्कन राज्य तो तुर्की को समाप्त करने पर तुले थे। बर्लिन ने तुर्की के विघटन पर रोक लगाने का कार्य किया। उसे पुनः उसका 20 हजार वर्ग मील का क्षेत्र मिल गया। बाल्कन राज्यों पर उसकी आधीनता स्वीकार की गई। परन्तु अधिक समय तक उसका विघटन रोका नहीं जा सका।

5. **अखिल स्लाववाद को आघात्–** अखिल स्लाववादी आन्दोलन का जन्मदाता, संरक्षक और मददगार रूस था इसे तुर्की की पराजय से बल मिला था परन्तु सेनस्टीफेनो में रूस की अदूरदर्शिता से इसमें एक–दूसरे पर सन्देह उत्पन्न हुये तथा बर्लिन संधि ने बोस्निया–हर्जेगोविना को आस्ट्रिया के नियंत्रण में रखकर इस आन्दोलन पर प्रत्यक्ष रूप से आघात् किया। बर्लिन का यह निर्णय बहुत बड़ी भूल और प्रथम विश्व युद्ध का कारण सिद्ध हुई। इससे सर्विया भी भारी असन्तुष्ट था।

6. **इंग्लैण्ड की प्रधानता और रूस से मतभेद–** बर्लिन कांग्रेस में दो व्यक्ति सर्वप्रधान थे। प्रथम था, ईमानदार दलाल के रूप में बेईमानी करने वाला विस्मार्क जो सम्मेलन का अध्यक्ष था जिसने सदैव आस्ट्रिया के हितों का संरक्षण किया तथा दूसरा था, प्रधानमंत्री जिसने इसके निर्णयों को सर्वाधिक प्रभावित किया। डिजरैली रूस को रोकने में, ब्रिटिश व्यापार को सुरक्षित करने में और साइप्रस को प्राप्त करने में सफल रहा। उसने तुर्की पर से रूस का नियन्त्रण हटाकर उसकी रक्षा की। परन्तु उसकी आन्तरिक स्थिति को न सुधार कर "उसके रोग को लम्बा करने" में मदद की। फिशर के अनुसार डिजरैली ने "बाल्कन देशों का नक्शा रूसी सिद्धान्तों पर नहीं अपितु आंग्ल–आस्ट्रियाई सिद्धान्तों पर तैयार किया था।" इस कारण रूस की इंग्लैण्ड से शत्रुता या मतभेद होना स्वभाविक था क्योंकि सेनस्टीफेनो की रूस को मिली समस्त सुविधाओं को समाप्त करने के लिये वही (इंग्लैण्ड) जिम्मेवार था।

7. **आस्ट्रिया तथा जर्मनी से रूस के सम्बन्ध खराब होना–** बर्लिन में विस्मार्क की शैली, आस्ट्रिया और डिजरैली के व्यवहार से रूस क्षुब्ध था क्योंकि विस्मार्क ने निष्पक्षता का आश्वासन दिया था परन्तु वह निष्पक्ष नहीं रहा। उसने रूसी हितों की उपेक्षा की तथा उसको मिली समस्त सुविधाओं को समाप्त करवाने में मदद दी। इसके विपरीत आस्ट्रिया को बोस्निया में प्रशासन और भविष्य में उसे हड़पने का परोक्ष अधिकार दिलाया। जिसकी विस्मार्क के बाद जर्मनी और आस्ट्रिया को भारी कीमत चुकाना पड़ी तथा दोनों यूरोप में अकेले रह गये शेष सभी देश इनके खिलाफ संधियों में बंध गये।

8. **बाल्कन राज्यों को स्वतंत्रता–** बर्लिन कांग्रेस ने सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो को स्वतंत्र मान लिया तथा इनके साथ ही रूमानिया तथा बल्गेरिया के एक भाग में स्वायत्त शासन देकर राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के लिये संघर्ष की प्रेरणा, जोश और क्रोध प्रदान किया जो शीघ्र ही बाल्कन युद्धों का कारण बना।

9. **युद्धों की जनक संधि–** बर्लिन संधि में भावी युद्धों के बीज बोये गये थे। तुर्की को मैसीडोनिया देने के कारण प्रथम बाल्कन युद्ध 1912 हुआ। बल्गेरिया को हटा देने से द्वितीय बाल्कन युद्ध 1913 में हो गया। आस्ट्रिया को बोस्निया–हर्जेगोविना में प्रशासनिक अधिकार देकर 1914 का युद्ध आरम्भ करवा दिया। सर्बिया–बल्गेरिया का 1885 में युद्ध हुआ। ग्रीक–तुर्की युद्ध 1897 में हुआ। आर्मीनिया में 1896 में तुर्की द्वारा कत्लेआम किया गया। स्वयं तुर्की भी आन्तरिक संघर्ष और गृह युद्ध से नहीं बचा। 1808 में तुर्की ने युवा तुर्क आन्दोलन के अन्तर्गत रूढ़ीवादी तुर्की की सत्ता तथा विदेशियों के खिलाफ संघर्ष आरम्भ कर दिये। इटली और तुर्की में ट्रिपोली के अधिकार के लिये युद्ध हुआ।

बर्लिन संधि (कांग्रेस) का निष्कर्ष– डिजरैली ने कहा था कि 'बर्लिन से सम्मानजनक शान्ति लाया हूँ' परन्तु उसकी यह गर्वोक्ति पूर्णतः असत्य निकली इतना ही नहीं इस संधि के कारण हुये अधिकांश संघर्षों के लिये वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी था। बर्लिन तुर्की, बाल्कन राज्यों, आस्ट्रिया, जर्मनी, रूस और स्वयं इंग्लैण्ड के लिये भी हानिकारक सिद्ध हुई। टेलर ने लिखा है कि– "बर्लिन के पूर्व 30 वर्ष तक युद्ध और विद्रोह होते रहे इसके बाद 35 वर्ष तक शान्ति बनी रही।" परन्तु यह भी पूर्णतः असत्य कथन है। टेलर ने 1885 से 1914 के सम्पूर्ण युद्धों को इतना गौण मान लिया कि उनका उल्लेख किये बिना 35 वर्ष शान्ति बने रहने की बात कह दी जबकि इन सभी युद्ध का मार्ग और दिशा 1914 के प्रथम विश्व युद्ध की ओर थी। इसमें विलियम, आस्ट्रिया और रूस का भी दायित्व था। इसलिये बर्लिन संधि अभी तक सम्पन्न हुई संधियों में सबसे अधिक व्यर्थ और असफल संधि थी।

प्रश्न–3. युवा तुर्क से क्या तात्पर्य है? तुर्की में युवा तुर्क क्रांति (आन्दोलन) के कारणों, घटनाओं, विशेषताओं और परिणामों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर– यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया में विशाल तुर्की का विस्तृत साम्राज्य 18वीं शताब्दि में पतनशील हुआ। उसके आधीन राज्यों में राष्ट्रीय भावनाओं ने जन्म लिया तथा उन्होंने तुर्की के धर्मान्ध तथा विधर्मी अत्याचारों और उसकी दासता से मुक्त होने के लिये संघर्ष आरम्भ किया। 1828 से 1856 तक तुर्की को अनेक विदेशी युद्धों, आन्तरिक विद्रोहों और राष्ट्रीय संघर्षों का सामना करना पड़ा। इसमें सर्बिया, यूनान और मॉन्टीनीग्रो उसके हाथ से निकल कर स्वतंत्र हो गये तथा भावी युद्धों की तैयारी करने लगे। रूस–तुर्की युद्ध (1828) में तो तुर्की का विनाश हो जाता परन्तु लन्दन संधि 1840 ने उसे जीवन दान किया। परन्तु निर्बल, धर्मान्ध, अदूरदर्शी तथा अयोग्य तुर्की के सुल्तानों ने क्रीमिया युद्ध में रूस की पराजय से कोई लाभ नहीं उठाया।

विनाश और विघटन की यह लीला उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम वर्षों में अत्यन्त तीव्र हो गई। इस काल में बाल्कन राज्यों में स्लाव, यूनानी, बल्गेरिया राज्यों ने तुर्की से संघर्ष जारी रखे। सन् 1877 में रूस–तुर्की युद्ध पुनः हुआ सेनस्टीफेनो संधि में तुर्की की पूर्ण समाप्ति को पुनः रोकने का कार्य बर्लिन संधि ने पहले के समान किया। फिर भी उसका विघटन रूका नहीं इस काल में सम्पूर्ण बल्गेरिया, सम्पूर्ण यूनानी प्रदेश तुर्की के लिये अपमान, पराजय, विनाश तथा विघटन की शताब्दि थी।

युवा तुर्क आन्दोलन का आरम्भ– तुर्की के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक विनाश से तुर्की के युवकों मे क्षोभ उत्पन्न हुआ। यह युग यूरोप और विश्व में राष्ट्रीय जागरण और लोक सत्तावाद का युग था। तुर्की के नवयुवकों में ईसाई राज्यों की एकता, स्वतंत्रता तथा उन्नति को देखकर और पश्चिमी ज्ञान प्राप्त करने के कारण राष्ट्रीय भावनायें उत्पन्न हुईं। अतः अपने देश के निरंकुश शासन का अन्त करके लोकतंत्रीय शासन की स्थापना का निश्चय कुछ नवयुवकों ने किया। इनमें मिदहत पाशा प्रमुख था। ये नवयुवक अपने देश को विदेशी दासता से मुक्त करना चाहते थे। अतः उन्होंने इसके लिये एक आन्दोलन को आरम्भ किया इसी को युवा तुर्क क्रांति कहते हैं।

युवा तुर्क क्रांति (आन्दोलन) के कारण– युवा तुर्क क्रांति का आरम्भ 1891 में हुआ परन्तु इसने 1908 में उग्र रूप धारण किया। इस क्रांति के निम्न प्रमुख कारण थे–

1. राष्ट्रीय भावना का प्रसार–प्रचार– अठारहवीं शताब्दि प्रजातंत्र और राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इस काल में अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम, फ्रांस की क्रांति, जर्मनी का एकीकरण और इटली के एकीकरण सम्पन्न हुये। इनसे प्रभावित होकर बाल्कन राज्यों में भी राष्ट्रीय भावनायें न केवल जाग्रत हुईं बल्कि मॉन्टीनीग्रो, बल्गेरिया आदि ने स्वतंत्रता भी प्राप्त कर ली थी तथा सर्बिया–तुर्की, बल्गेरिया–तुर्की और यूनान–तुर्की युद्ध हुये। अतः निरन्तर संघर्षों के कारण तुर्की का सर्वांगीण पतन हुआ। देशभक्त नवयुवक तुर्कों को अपने साम्राज्य का विनाश सहन नहीं हुआ अतः उन्होंने 1891 में जेनेवा में 'यंग तुर्क' नामक दल बनाया। यह दल गुप्त रूप में कार्य करता था। इसकी एक सहायक संस्था थी 'कमेटी ऑफ यूनियन एण्ड प्रोग्रेस' जिनके नेतृत्व में राष्ट्रवादी युवा तुर्क अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संघर्ष करने लगे।

2. अयोग्य सुल्तान और भ्रष्ट शासन– 1891 के पूर्व युवा तुर्कों ने अयोग्य शासक अब्दुल अजीज, फिर मुराद पंचम और अब्दुल हमीद प्रथम को विद्रोह कर पद्च्युत कर दिया। सुल्तानों की अयोग्यता का प्रमाण यह भी था कि सुल्तान लगभग सभी छोटे–बड़े युद्धों में पराजित होते रहे तथा अपने ही राज्यों, राज्यपालों तथा विदेशियों के सम्मुख अपमानजनक तरीके से झुकते रहे, उनकी अनुचित शर्तें मानते रहे परन्तु उन्होंने प्रशासन, सेना, युद्ध प्रणाली में कोई सुधार नहीं किये। उन्होंने कभी किसी समस्या का हल दूरदर्शिता और विवेक से नहीं किया। वे तो हर समस्या का हल कत्लेआम, लूट, अमानुषिक अत्याचारों से करते रहे और विधर्मी तथा स्वधर्मी जनता में असन्तोष और प्रतिक्रिया को जगाते रहे। अब्दुल हमीद चालाक और निर्दयी शासक था फिर भी वह युवा क्रांति को रोकने में असफल रहा बल्कि उसके आगमन से क्रांति ने उग्र रूप धारण कर लिया।

3. विदेशी हस्तक्षेप– आस्ट्रिया, रूस, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण एक ओर तो बाल्कन राज्यों में हस्तक्षेप कर उन्हें परस्पर लड़ाते रहे तथा उनमें अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे तथा आस्ट्रिया और रूस दोनों ही काले सागर, एजियन सागर और भू–मध्य सागर में आकर व्यापार करना चाहते थे। दूसरी ओर इंग्लैण्ड इन्हें अपने व्यापार में बाधक मानकर रोकना चाहता था। अतः तीनों तुर्की पर दबाव डालते रहते थे और तुर्की सदैव शक्तिशाली के सम्मुख झुकता रहा। यह क्रम बहुत पुराना था। 1828 में तुर्की रूस से पराजित होकर उन्कियार स्कैलैसी की संधि के लिये और उसके अनुसार अपनी भूमि, धन और रूस को सुविधा देने को तैयार हो गया। जब लन्दन सम्मेलन में यूरोपीय देशों ने रूस के साथ संधि बदलने के लिये जोर डाला तो उनके सामने झुक गया। यही इतिहास 1877 में तुर्की ने सेनस्टीफनो संधि स्वीकार कर और बर्लिन संधि में उसे

परिवर्तित कर दोहराया। बाल्कन राज्यों के निर्णय सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो या बल्गेरिया अथवा यूनान के निर्णय विदेशी हस्तक्षेपों से होने लगे थे। किसी स्वतंत्र देश के लिये यह अपमानजनक था। युवा तुर्क इस हस्तक्षेप को समाप्त कर तुर्की को एक स्वतंत्र और सार्वभौम राज्य बनाना चाहते थे।

4. पश्चिमी शिक्षा– तुर्की के नवयुवक पश्चिमी देशों में गये तथा उन्होंने वहाँ की राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया तथा राष्ट्रीय भावनाओं से और पश्चिमी स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व के आदर्शों से प्रभावित हुये। उन्होंने अपने देश में लौटकर इन आदर्शों को प्रस्थापित करने का तथा प्रजातंत्र सरकार स्थापित करने का प्रयत्न किया।

क्रांतिकारी घटनायें– 1873 में अब्दुल हमीद द्वितीय तुर्की का सुल्तान बना। यह बहुत चालाक तथा अवसर से लाभ उठाने वाला सुल्तान था। इसने सदैव अपनी निरंकुश सत्ता को बनाये रखने का प्रयत्न किया। परन्तु वह यह भी जानता था कि पूर्व के तीन सुल्तानों को क्रान्तिकारियों ने हटा दिया था। अतः जब उसे क्रांतिकारी प्रबल होते दिखाई दिये तो उसने उदार, शासन संविधान और संसद निर्माण की घोषणायें कर दीं और जैसे ही अवसर मिला उसने इन तीनों ही माँगों को कुचलने के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। परन्तु उसने तुर्की को कभी एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखा। उसने कभी लोक–कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया। वह जनता की अशिक्षा, अन्धविश्वास और फूट का लाभ उठाकर अपनी सत्ता को दृढ़ करने में लगा रहा।

1. संविधान का निर्माण और समाप्ति– युवा तुर्क दल ने 1876 में प्रथम क्रांतिकारी कार्य यह किया कि सुल्तान अब्दुल अजीज और मुराद पंचम को पद्च्युत कर अब्दुल हमीद द्वितीय को सुल्तान बनवाया। परन्तु तुर्क नेता मिद्हत पाशा ने अब्दुल हमीद से लोकतंत्र की स्थापना, संविधान और संसद के निर्माण का वचन ले लिया था। इस घोषणा के अनुसार उसने संविधान, सीनेट, प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन और प्रतिनिधि सभा के प्रति मंत्रिमण्डल के उत्तरदायित्व की व्यवस्था की गई।

परन्तु अब्दुल हमीद ने जब देखा कि जनता अशिक्षित है और लोकतंत्र, निर्वाचन, प्रतिनिधि शासन आदि को नहीं समझती तथा युवा तुर्कों को उसे समझाने में भारी कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है तो इसका लाभ उठाकर नवयुवक क्रांतिकारियों को सुल्तान ने बन्दी बना लिया, अनेकों को निर्वासित कर दिया तथा उनके द्वारा नियुक्त मंत्रियों को हटाकर अपने विश्वास प्राप्त और निर्दयी मंत्री अत्याचार और दमन करने के लिये नियुक्त कर दिये। सारे देश में सैनिक, पुलिस और गुप्तचरों का जाल बिछाकर, नवजात लोकतंत्र इसके पहले कि चलना सीखे, उसकी हत्या कर दी गई।

2. क्रांतिकारी संगठन– अब्दुल हमीद द्वितीय ने 30 वर्ष तक संविधान को समाप्त कर निरंकुश शासन का संचालन किया। इस काल में उसने रूस से पराजित होकर सेनस्टीफेनो की संधि और फिर बर्लिन संधि को 1878 में स्वीकार किया। पराजय से देश में अराजकता, भ्रष्टाचार, राष्ट्रीय संघर्ष फैल गये। सर्बिया, बोस्निया–हर्जेगोविना, बल्गेरिया, रूमानिया, मॉन्टीनीग्रो, यूनान सभी अपने राष्ट्रीय एकीकरण में लगे थे। इसके परिणामस्वरूप सुल्तान को सर्बिया–तुर्की, बल्गेरिया–सर्बिया, यूनान, तुर्की युद्धों का सामना करना पड़ा। इससे युवा तुर्कों को तुर्की के अपमान, विदेशों पर निर्भरता और निर्बलता से अपार पीड़ा हुई। सेनस्टीफेनो संधि यदि कार्यान्वित हो जाती तो तुर्की यूरोप के मानचित्र में कहीं नहीं होता। बर्लिन संधि ने उसके अस्तित्व की रक्षा की, परन्तु विघटन को नहीं रोका।

अतः राष्ट्रवादी उदार युवा-तुर्कों ने 1891 में जेनेवा में 'युवा तुर्क' दल का गुप्त रूप से निर्माण किया तथा राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार-प्रसार आरम्भ किया। परन्तु सुल्तान को इस केन्द्र का पता चल गया अतः क्रांतिकारियों ने अपना कार्यालय सालोनिका में स्थानान्तरित कर दिया तथा इन्होंने क्रांतिकारी गुप्त संस्था 'कमेटी ऑफ यूनियन एण्ड प्रोग्रेस' स्थापित कर भ्रष्टाचारी सुल्तान और विदेशी शक्तियों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इसमें परोक्ष रूप में रूस का भी प्रोत्साहन था तथा अन्य ईसाई, मुस्लिम, स्लाव, बल्गेरिया, यूनानी जातियों का भी उन्हें सहयोग प्राप्त था। 'यूनियन एण्ड प्रोग्रेस' कमेटी ने अपना भेद खुलते ही 1908 में क्रान्ति करने का निश्चय कर लिया, क्योंकि उनके नेता अनवर बे और नियाजी बे मैसीडोनिया की तृतीय पैदल सेना को अपनी ओर मिला लिया था तथा इसके लिये हजारों स्वयंसेवकों को शिक्षित कर लिया था। दोनों नेता मुनास्तर पहुंचे तथा उन्होंने 1876 के संविधान को लागू करने की घोषणा कर दी। इसके पश्चात् इन्होंने सुल्तान को चुनौती दी कि वह शीघ्र आत्मसमर्पण कर दे, नहीं तो वे इस्म्बूल पर आक्रमण कर देंगे।

3. 1908 की क्रांति और उसकी विशेषता– अवसरवादी और पद-लोभी अब्दुल हमीद ने जब देखा कि क्रांतिकारियों को दबाना बहुत कठिन है तो उसने संविधान को लागू करने और सुधार करने की मांगों को स्वीकार कर लिया तथा प्रजातंत्रवादी और क्रांतिकारी कियामील पाशा को महामंत्री बना दिया। इस प्रकार तुर्की सुल्तानों की दीर्घकालीन निरंकुशता का अन्त कर दिया गया। इस क्रांति की निम्न विशेषतायें थीं–

(i) यह क्रांति पाश्चात्य विचारों से प्रभावित थी।
(ii) यह एक सैनिक क्रांति थी।
(iii) सामान्य रूप से यह रक्त-हीन क्रांति थी।
(iv) इसका उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना और निरंकुश शासन की समाप्ति था।
(v) तुर्की-साम्राज्य की प्रायः सभी जातियों, राष्ट्रीयताओं और धर्मों के व्यक्तियों ने इसका स्वागत और समर्थन किया था। इसमें मुस्लिम, ईसाई, सर्व, यूनानी, बल्गर, आर्मीनियन, अल्बानियन आदि प्रमुख थे।

4. निम्न और उच्च सदन का निर्माण– संविधान की घोषणा के बाद 1908 में संसद के निम्न सदन का निर्वाचन द्वारा निर्माण किया और उच्च सदन को सुल्तान ने मनोनीत किया।

5. प्रति क्रांति और युवा तुर्कों की सफलता– अब्दुल हमीद अवसर देख रहा था कि क्रांतिकारी या प्रजातंत्रवादी संविधान और संसद को कब भंग करे। 13 अप्रैल, 1903 तक उसने संविधान के पालन का ढोंग किया तथा गुप्त रूप से संविधान के शत्रुओं का और सुल्तान की निरंकुशता के समर्थकों का संगठन किया। उसके प्रोत्साहन और आर्थिक मदद से इन्होंने कुस्तुनतुनियाँ में हजारों सैनिकों ने क्रांतिकारियों के खिलाफ विद्रोह कर दिया और संविधान की समाप्ति की माँग की तथा किआमिल पाशा को अपदस्थ करने को कहा। सुल्तान ने तत्काल कदम उठाया और प्रधानमंत्री को हटा दिया।

क्रांतिकारी नेता अब्दुल हमीद की चालाकी और गद्दारी को समझ गये अब उन्होंने भी सैनिक तैयारी की और अपनी सेनाओं को सालोनिका और एड्रियानोपल से कुस्तुनतुनियाँ को भेजकर संघर्ष किया। अतः अब्दुल हमीद के किराये के समर्थकों ने शीघ्र ही शस्त्र डाल दिये। इसके पश्चात् युवा तुर्कों ने अब्दुल हमीद द्वितीय को 27 अप्रैल, 1809 को पदच्युत कर दिया और उसके स्थान पर उसके भाई मुहम्मद पंचम को सुल्तान बना दिया।

महत्व एवं परिणाम– प्रथम बार तुर्की में क्रांतिकारियों ने तुर्की साम्राज्य में समस्त जातियों को समानता और स्वतंत्रता देने की घोषणा की। अतः क्रांति में सभी का सहयोग मिला। परन्तु

युवा तुर्कों ने शासन पर एकाधिकार प्राप्त करके आतंकवादी, हिंसक, स्वेच्छाचारी तथा पक्षपातपूर्ण शासन स्थापित कर दिया तथा वे अब्दुल हमीद से भी अधिक निर्दयी और बुरे सिद्ध हुये। उनमें शासन करने की योग्यता नहीं थी। अतः वे समस्त जनता पर अत्याचार करने लगे। इस प्रकार उन्होंने स्वयं क्रांति का गला घोंट डाला और असफल हो गये। संक्षेप में उनकी असफलता के कारण निम्न थे–

1. वे स्वेच्छाचारी, आतंकवादी एवं अत्याचारी निकले।
2. तुर्कों ने न्याय को आधार नहीं, जातियता के भेदों को आधार बनाया।
3. तुर्की विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं और संस्कृति का समूह था। अतः सहिष्णुता की अपेक्षा थी, तुर्कों में यह नहीं थी।
4. तुर्कों ने राज्य की आन्तरिक अवस्था में सुधार नहीं किये।
5. तुर्कीकरण और इस्लामीकरण की नीति बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।
6. इसके अनेक दूरगामी और हानिकारक परिणाम हुये।

इस क्रांति के कारण बल्गेरिया को 3 अक्टूबर, 1908 को स्वतंत्रता की घोषणा का अवसर मिल गया तथा 1909 में तुर्की ने उसकी स्वतंत्रता को मान्य कर लिया। तुर्की की निर्बलता से लाभ उठाकर आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोविना पर अधिकार कर लिया (7 अक्टूबर, 1908) इसका सर्बिया ने विरोध किया जिसके कारण बाद में प्रथम विश्व युद्ध हुआ। जर्मनी, आस्ट्रिया ने तुर्की को रूस के विरुद्ध उत्तेजित किया। उधर तुर्की के आधीन अफ्रीका में ट्रिपोली पर इटली ने आक्रमण कर 25 सितम्बर, 1911 को अधिकार कर लिया। तुर्की के सुल्तान ने विवश होकर इटली से लासेन की संधि करनी पड़ी। युवा तुर्क क्रांति ने बाल्कन संघ का निर्माण कर तुर्की को पराजित करने में सफलता प्राप्त की तथा आपस में द्वितीय बाल्कन युद्ध हुआ। अन्त में सर्बिया के स्लाव प्रदेश सेराजेवों में आस्ट्रियन राजकुमार की हत्या से प्रथम विश्वयुद्ध का आरम्भ हो गया।

संक्षेप में यह कहना होगा कि युवा तुर्क क्रांति ने तुर्की को ही नहीं बल्कि विश्व को अनेक युद्धों में और कठिनाईयों में ढकेलकर प्रथम विश्व युद्ध करवा दिया। यदि युवा तुर्क रचनात्मक कार्य करते तो तुर्की का स्वरूप अधिक उन्नत, विकसित और शक्तिशाली होता।

प्रश्न–4. प्रथम बाल्कन युद्ध के कारण, घटना और विश्व युद्ध में भूमिका को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

तुर्की के युवा तुर्कों को मदद देने वाले बाल्कन राज्यों ने तुर्की पर क्यों आक्रमण किया? उसके क्या परिणाम हुये?

उत्तर– प्रथम बाल्कन युद्ध– मैसीडोनिया पर तुर्की के अत्याचारों ने बाल्कन लीग की स्थापना को मूर्तरूप दिया और ग्रीकों की युद्ध घोषणा ने प्रथम बाल्कन युद्ध का आरम्भ कर दिया। तुर्की में जब युवा तुर्कों ने स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर लोकतंत्र की स्थापना का निश्चय किया तो उन्होंने तुर्की साम्राज्य की ईसाई तथा मुस्लिम जनता अथवा विभिन्न प्रजातीय तत्वों के साथ समानता और सहिष्णुता का व्यवहार करने की घोषणा की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सर्व, स्लाव, यूनानी, बल्गेरियन, ईसाई तथा मुस्लिम आदि ने युवा तुर्क क्रांति का स्वागत किया और उसको मदद दी तथा शासन पर युवा तुर्कों का अधिकार हो गया। परन्तु फिर भी बाल्कन राज्यों ने तुर्की पर संयुक्त आक्रमण किया। अतः यह विचारणीय प्रश्न है कि इसके लिये कौन-से कारण जिम्मेवार थे।

प्रथम बाल्कन युद्ध के कारण– तुर्की के विरुद्ध बल्गेरिया, सर्बिया, यूनान और मॉन्टीनीग्रो ने मिलकर युद्ध आरम्भ किया। इसके लिये ये परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं–

1. तुर्की में विभिन्न प्रजातियाँ– तुर्की साम्राज्य के आधीन विभिन्न भाषाओं, धर्मों, संस्कृतियों और राष्ट्रीयता की प्रजातियाँ निवास करती थीं। इन पर तुर्की के धर्मान्ध, निर्दयी सुल्तानों ने तथा सैनिक अधिकारियों ने सदैव अमानुषिक अत्याचार और कत्लेआम किये थे। तुर्की की आधीनता और अत्याचारों से मुक्त होने की भावना तथा अपने-अपने प्रजाति बन्धुओं से मिलकर स्वतंत्रता प्राप्त करने की आकांक्षा ने इन्हें तुर्की पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। इसके पूर्व विश्व के अन्य देशों के राष्ट्रीय एकीकरण, स्वतंत्रता और स्वतंत्र देशों की स्थापना और बाल्कन राज्यों में सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो एवं रूमानिया की स्वतंत्रताओं तथा सर्वस्लाववाद ने भी इनमें राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण कर राष्ट्रीय संघर्ष की प्रेरणा दी अतः बाल्कन युद्ध हुआ।

2. युवा तुर्क आन्दोलन से निराशा– युवा तुर्कों ने क्रांति करते समय सभी धर्मों और जातियों से सहयोग प्राप्त किया था और उनके साथ सहिष्णुता तथा उदारता का व्यवहार करने के पश्चात् युवा तुर्क भी असहिष्णु हो गये तथा उन्होंने अमुस्लिम राज्यों के तुर्कीकरण की नीति को आरम्भ किया अतः ईसाई राज्यों पर पुनः मुस्लिम अत्याचार होने लगे। युवा तुर्क अब्दुल हमीद द्वितीय से भी खराब सिद्ध हुये। अतः बाल्कन राज्यों की राष्ट्रीयताओं में उग्रता और विवेक उत्पन्न होने लगा। उन्होंने युवा तुर्कों की अनुभवहीनता, अयोग्यता से शासन का संचालन किया। हजारों आर्मीनियनों, यूनान के मैसीडोनिया में यूनानियों, अल्बानिया के मुसलमानों, बल्गेरियनों और सर्वो का युवा तुर्कों ने कत्ल कर दिया इससे इन प्रदेशों में रोष और युद्ध की भावना उत्पन्न हो गई।

3. विदेशी राष्ट्रों के स्वार्थ– पूर्वी समस्याओं में यूरोपीय देश इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, जर्मनी, फ्रांस और रूस अपने औपनिवेशिक स्वार्थों के कारण परस्पर विरोधी तथा बाल्कन राज्यों की समस्या में हस्तक्षेप करने वाले थे। रूस और सर्बिया, बोस्निया-हर्जेगोविना स्लाव् जाति के कारण धर्म, जाति, राष्ट्रीयता से एक थे। इंग्लैण्ड तुर्की को रूसी प्रभाव से मुक्त रखकर अपने व्यापार की बाधा को रोकना चाहता था। आस्ट्रिया-जर्मनी तुर्की से मित्रता कर रूस को रोकना चाहते थे। अतः बाल्कन राज्यों की साधारण सी समस्या भी जटिल हो जाती थी और युद्धों में परिवर्तित हो जाती थी। प्रथम बाल्कन युद्ध के समय भी ऐसा ही हुआ। मैसीडोनिया की घटना या समस्या आस्ट्रिया-रूस और इंग्लैण्ड के कारण और धमकी से उलझ गई अतः सर्बिया, बल्गेरिया, मॉन्टीनीग्रो, यूनान के सम्मुख युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहा।

4. बाल्कन लीग की स्थापना– बाल्कन लीग की स्थापना का प्रयत्न 1878 से 1891 तक हो चुका था। परन्तु बल्गेरिया के विस्तारवादी प्रयत्नों, सर्बिया-बल्गेरिया युद्ध, बल्गेरिया की आस्ट्रिया और जर्मनी से मित्रता, मैसीडोनिया के प्रश्न पर विवाद और संघर्षों तथा परस्पर राष्ट्रीय विद्वेषों के कारण वार्तायें सफल नहीं हुईं। यूनान के 1891 के सभी प्रयत्न और उद्देश्य विफल हो गये। जब युवा तुर्कों ने मैसीडोनियन जनता के सर्व, बल्गर, ग्रीक आदि सभी जातियों पर भयंकर कत्ल-ए-आम किया तो सभी प्रजातीय तत्व प्रभावित हुये। इन सभी तत्वों में एक बात सभी में समान थी और वह यह थी कि सभी तुर्की के दासत्व से मुक्त होना चाहते थे। अतः उनमें एकता के पुनः प्रयत्न हुये।

1910 में मॉन्टीनीग्रो की राजधानी में राजा पीटर की जयंती पर बल्गेरिया का राजा फर्डीनेण्ड, सर्बिया, यूनान के प्रतिनिधियों ने आपस में मधुर सम्बन्ध बनाये। इसका परिणाम यह हुआ कि 13 मार्च, 1912 में बल्गेरिया-सर्बिया में रक्षात्मक संधि हो गई। इसके बाद 22 सितम्बर, 1912 में यूनान-बल्गेरिया ने भी एक संधि पर हस्ताक्षर किये। अब यूनानी प्रधानमंत्री वॉनेजेलोस ने पुनः प्रयत्न कर यूनान, बल्गेरिया, सर्बिया और मॉन्टीनीग्रो की एक बाल्कन लीग का मई 1912 में ही निर्माण किया। बाल्कन लीग के उद्देश्यों में तुर्की के खिलाफ संयुक्त रूप से कार्य करना और बाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया एवं जर्मनी के बढ़ते प्रभाव को रोकना प्रमुख थे।

5. यूरोपीय व्यवस्था की असफलता– तुर्की द्वारा ईसाई बाल्कन राज्यों पर अत्याचारों की ओर यूरोप का ध्यान पहले ही आकर्षित हुआ था, अतः उन्होंने अनेक बार तुर्की के सुल्तान को चेतावनी दी कि वह ईसाईयों के साथ उदार व्यवहार करें। तुर्की ने भी हर बार इन प्रदेशों में सुधारों के आश्वासन दिये थे परन्तु उसने इन्हें कभी पूरा नहीं किया। अतः 1903 में यूरोपीय देशों ने मिलकर तुर्की से पुनः सुधारों को अवश्य करने का आश्वासन लिया परन्तु सुधारों को लागू करवाने का उत्तरदायित्व आस्ट्रिया और रूस को दिया। इन्होंने समझौता कर मैसीडोनिया पर संयुक्त रूप से अधिकार कर लिया। इस पर भी उपरोक्त सभी प्रदेशों में आस्ट्रिया की स्वार्थी नीति के कारण कोई सुधार नहीं हो पाये और यह व्यवस्था असफल हो गई। इसके असफल होने का कारण मोरक्को के प्रश्न पर जर्मनी और फ्रांस में युद्ध का वातावरण बन रहा था अतः इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी और आस्ट्रिया नई समस्या में उलझकर धन और सेना का अपव्यय नहीं करना चाहते थे। इस कारण बाल्कन लीग के सदस्यों ने इन्हें धैर्य रखने को कहा तथा धमकी दी कि तुर्की में कोई भी प्रादेशिक परिवर्तन वे स्वीकार नहीं करेंगे। परन्तु तुर्की को सुधार करने के लिये और अत्याचार बन्द करने को नहीं कहा अतः बाल्कन लीग के सदस्य राज्य यूरोपीय देशों से असन्तुष्ट थे अतः उन्होंने उनकी धमकी की चिन्ता नहीं की और युद्ध का आरम्भ किया।

6. इटली, ग्रीक के तुर्की पर आक्रमण– इटली ने तुर्की पर आक्रमण कर तुर्की को पराजित कर दिया। एक माह के युद्ध में तुर्की की दशा बहुत खराब हो गई। उसी समय अल्बानिया के विद्रोह ने उसे इटली से लासेन की संधि करने को और ट्रिपोली पर इटली के अधिकार को मान्य करने पर विवश कर दिया। ठीक इसी समय 18 अक्टूबर, 1912 को ग्रीक ने तुर्की के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। इस पर तुर्की पहले से ही पराजित था और अब ग्रीक भी अकेला नहीं था। उसके साथ संगठित बाल्कन लीग के सदस्य थे जो उसे मदद के लिये तत्पर थे।

घटनायें– बाल्कन लीग के चारों सदस्यों ने तुर्की पर चारों दिशाओं से आक्रमण किये। बल्गेरिया ग्रेस पर आक्रमण करता हुआ एड्रियानोपल तक पहुंच गया तथा तुर्की की सेनाओं को राजधानी में शरण लेना पड़ी। सर्बिया नौवीबाजार के संजक पर अधिकार करती हुई मोनिस्टर और अल्बानिया तक पहुँची एड्रियाटिक समुद्री बन्दरगाह डुराजो पर अधिकार कर लिया। मॉन्टीनीग्रो ने भी अल्बानिया पर और ग्रीक ने थैसली और सालोनिका पर अधिकार कर लिया। ग्रीक के बेड़े ने तुर्की के बन्दरगाहों और द्वीपों को छीनकर तुर्की के लिये उन्हें प्रतिबन्धित कर दिया। डेढ़ महिने में तुर्की ने बुरी तरह से पराजित होकर कोन्सटेन्टिनोपल, एड्रियानोपल, जनीना और अल्बानिया का स्कूटरी छोड़कर सब कुछ खो दिया। अतः उसने यूरोपीय शक्तियों से रक्षा की प्रार्थना की।

संधि के प्रयास– बाल्कन राज्यों की विजय से जर्मनी, आस्ट्रिया और तुर्की जरा भी प्रसन्न नहीं थे। तुर्की की पराजय से रूस की नीति सफल होती दिख रही थी। अतः आस्ट्रिया-हंगरी और इटली रूस को रोकना चाहते थे। इंग्लैण्ड और फ्रांस को आस्ट्रिया और रूस में युद्ध हो जाने का खतरा था अतः दोनों बाल्कन युद्ध को बढ़ने से रोकना चाहते थे। अतः सभी यूरोपीय देशों ने लीग के सदस्यों को लन्दन बुलाकर युद्ध विराम के लिये बाध्य कर दिया। इस समय आस्ट्रिया, सर्बिया को एड्रियाटिक सागर से दूर रखने की शर्त पर ही शामिल हुआ था।

वार्ता में सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो तथा ग्रीक अल्बानिया को आपस में (तीन भागों) बाँटना चाहते थे। परन्तु आस्ट्रिया इसके लिये तैयार नहीं था। तुर्की के पास जो नगर थे उन पर भी विवाद उत्पन्न हो गया। सम्मेलन ने निर्णय किया कि एड्रियानोपल को छोड़कर शेष राज्य तुर्की के पास ही रहेंगे। परन्तु इसे युवा तुर्कों ने स्वीकार नहीं किया और इस भय से कि उनकी सरकार इसे स्वीकार न कर ले, उन्होंने सरकार को ही पलट दिया। अतः संधि वार्ता टूट गई और पुनः युद्ध आरम्भ हो गया।

अब तुर्की के पास जो कुछ बचा था वह भी छिन गया। बल्गारों और सर्वो ने एड्रियानोपल छीन लिया। ग्रीकों ने जनीना पर अधिकार कर लिया। मॉन्टीनीग्रो तथा सर्बिया ने स्कूटरी पर कब्जा कर लिया। आस्ट्रिया ने स्कूटरी पर सर्वो के अधिकार को सहन नहीं किया अतः उसे छीनकर अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के हाथों में सौंप दिया। जब तुर्की के पास केवल कोन्सटेन्टिनोपल ही बचा और उसके भी जाने का भय लगा तो वह संधि करने के लिये विवश हो गया।

लन्दन संधि– 30 मई, 1913 को पुनः लन्दन में संधि सम्पन्न हुई जिसके अनुसार–

1. तुर्की के पास कोन्सटेन्टिनोपल तथा उसके पश्चिम में इजीयन सागर पर ईनॉस से काले सागर पर मिडिया तक के भाग रहे।
2. उपरोक्त रेखा के पश्चिम के समस्त भाग छीनकर यूरोपीय मित्रों ने बाल्कन राज्यों को आपस में बांटने के लिये दे दिये।
3. क्रीट को ग्रीक के साथ मिलने की अनुमति दे दी गई।
4. अल्बानिया को स्वतंत्र मान लिया।

संधि का परिणाम– सर्बिया और मॉन्टीनीग्रो अल्बानिया को परस्पर बाँट लेना चाहते थे परन्तु ऐसा न होने से वे नाराज थे। आस्ट्रिया ने इस बंटवारे का विरोध किया था अतः उनके आस्ट्रिया से भी सम्बन्ध कटु हो गये। इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस इस समय जर्मनी और आस्ट्रिया विरोधी थे और सर्बिया की ओर झुके हुये थे। इस समय तक फ्रांस, रूस, इंग्लैण्ड–फ्रांस और इंग्लैण्ड–रूस संधियों में बंध चुके थे तथा मोरक्को में तीनों जर्मन–विरोधी थे। इस कारण आस्ट्रिया बाल्कन प्रदेश में युद्ध भड़काने में लगा था परन्तु उसका मित्र जर्मनी यूरोप में अकेला हो चुका था अतः उसने आस्ट्रिया को धैर्य रखने को कहा। इंग्लैण्ड भी शान्ति बनाये तो रखना चाहता था परन्तु उसके लिये आस्ट्रिया को सन्तुष्ट करना आवश्यक था जो बहुत कठिन कार्य था।

प्रथम विश्व युद्ध का दायित्व– अतः टेम्परले का यह कथन उचित है कि प्रथम विश्व युद्ध के लिये अन्य कोई घटना इतनी उत्तरदायी नहीं है जितनी कि बाल्कन युद्ध। तुर्की के पतन से शक्ति संतुलन बिगड़ गया। फिशर ने लिखा कि बाल्कन युद्ध के पश्चात् सम्पन्न हुई संधियाँ अस्थाई और युद्धों के बीजों का पोषण करने वाली थीं। अन्त में कहना होगा कि यूरोपीय विद्वान दोनों युद्धों का शक्ति संतुलन अथवा अपने लाभ–हानि के आधार पर मूल्यांकन करते हैं परन्तु यह उचित लगता है कि यदि तुर्की तलवार और कुरान के आधार पर विशाल साम्राज्य, अत्याचार या कत्ल–ए–आम नहीं करता तो बाल्कन राज्यों में तुर्की के प्रति शत्रुता होती ही नहीं, उसका इन राज्यों पर आक्रमण यदि अप्राकृतिक था तो बाल्कन राज्यों के स्वतंत्रता संग्राम पूर्णतः प्राकृतिक (स्वभाविक) थे तथा यूरोपीय देशों तथा रूस के हस्तक्षेप स्वार्थपूर्ण थे। यह अच्छा ही था कि एक क्रूर, धर्मान्ध, अत्याचारी साम्राज्य जितनी शीघ्रता से विश्व में फैला उससे भी अधिक गति से समाप्त हो गया।

प्रश्न–5. द्वितीय बाल्कन युद्ध के कारण, घटनायें तथा परिणामों का विवेचन कीजिये।

उत्तर– द्वितीय बाल्कन युद्ध– यूरोपीय शक्तियों के दबाव से प्रथम बाल्कन युद्ध के पश्चात् लन्दन की शक्ति तो सम्पन्न हो गई। परन्तु तुर्की राज्य की लूट और विशेषकर मैसीडोनिया के बंटवारे पर बाल्कन राज्यों में मनमुटाव पैदा हो गया। इसके अनेक कारण थे–

1. बाल्कन राज्यों के मतभेद– सर्बिया, यूनान, मॉन्टीनीग्रो तथा बल्गेरिया बाल्कन लीग के सदस्य और तुर्की पर संयुक्त आक्रमण में साथ थे। युद्ध के बाद उसने मैसीडोनिया पर वहाँ बसी अधिकांश बल्गर जनसंख्या के आधार पर माँग की। उसने सेनस्टीफेन और धन तथा जन के सर्वाधिक विनाश का तर्क दिया। सर्बिया वहाँ बसे स्लावों के कारण अधिकार करना चाहता था। यूनान प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण मैसीडोनिया की माँग कर रहा था। इसी कारण दूसरा बाल्कन युद्ध लूट के माल के लिये हुआ। आस्ट्रिया ने बल्गेरिया को संघर्ष के लिये प्रोत्साहित किया।

2. अल्बानिया की स्वतंत्रता– लूट के माल के विभाजन पर बाल्कन राज्यों में मतभेदों के लिये आस्ट्रिया–हंगरी विशेष रूप से उत्तरदायी था। उसने अल्बानिया के विभाजन का विरोध कर उसे स्वतंत्र राज्य बनाने पर जोर डाला। स्वतंत्र अल्बानिया, बल्गेरिया के समुद्र तट तक पहुँचने में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध होता। इसलिये बल्गेरिया और सर्बिया में प्रथम बाल्कन युद्ध के पूर्व ही यह संधि हो चुकी थी कि मैसीडोनिया का विशाल भाग बल्गेरिया लेगा और सर्विया को मैसीडोनिया का पश्चिमी भाग मिलेगा जिसमें एड्रियाटिक का समुद्री तट भी होगा। दूसरी ओर मैसीडोनिया बल्गेरियन अधिकार होने से सर्बिया को समुद्र तट नहीं मिलता। आस्ट्रिया स्लाव विरोधी होने से बल्गेरिया को सर्बिया के विरुद्ध भड़का रहा था।

3. बल्गेरियन विस्तार नीति– सर्बिया ने बल्गेरिया से माँग की कि उसे अल्बानिया (एड्रियाटिक समुद्री तट) के बदले मैसीडोनिया में अधिक प्रदेश दिये जायें। परन्तु बल्गेरिया ने उसकी माँग अस्वीकार करते हुये पूर्व समझौते के अनुसार ही पश्चिमी भाग देने को कहा। बल्गेरिया इस समय अपनी विजय के घमण्ड में चूर था तथा आस्ट्रिया का उसे समर्थन था। इसी से उत्साहित होकर उसने सर्बिया और यूनान पर आक्रमण कर दिया।

द्वितीय बाल्कन युद्ध के कारण– लन्दन संधि अस्थाई सिद्ध हुई, क्योंकि तुर्की के प्रदेशों की लूट के बंटवारे के प्रश्न पर बाल्कन राज्यों में पुनः संघर्ष आरम्भ हो गये। इसका प्रमुख कारण था मैसीडोनिया का विवाद। मैसीडोनिया में ग्रीक, स्लाव और बल्गर रहते थे। ग्रीक मैसीडोनिया को प्राचीन, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सम्बन्धों के कारण प्राप्त करना चाहता था। सर्बिया अल्बानिया के बदले में उसकी माँग कर रहा था। बल्गेरिया वहाँ पर अधिकांश बल्गर नागरिक होने से माँग कर रहा था। सेनस्टीफेनो की संधि में एक बार ऐसा माना भी जा चुका था। आस्ट्रिया भी बल्गेरिया को युद्ध के लिये प्रोत्साहित कर रहा था। मैसीडोनिया में अधिकांश भागों में ग्रीक तथा सर्बिया की सेनायें मौजूद थीं उन्होंने बल्गेरियन आक्रमण से उसकी रक्षा के लिये दोनों ने परस्पर गुप्त संधि कर ली थी। समस्या के समाधान के लिये रूस ने मध्यस्थता का प्रस्ताव किया जिसे सर्बिया ने तो मान लिया परन्तु बल्गेरिया ने इसे अस्वीकार कर दिया। वास्तव में वह अपनी इच्छानुसार बंटवारा चाहता था। इसके अतिरिक्त बल्गेरिया को अपनी विजय का अत्यधिक विश्वास और सर्बिया तथा ग्रीक से घृणा थी।

द्वितीय बाल्कन युद्ध की घटनायें– बल्गेरिया ने अपनी विजयों के मद में तथा सर्व जाति से घृणा के कारण 29 जून, 1813 को सर्बिया पर आक्रमण किया। यूनान सर्बिया की मदद को आ गया। दोनों की सेनाओं ने बल्गेरिया को प्रथम बार में ही पराजित कर दिया। इसी समय रूमानिया और तुर्की ने भी बल्गेरिया पर आक्रमण कर दिये। अवसर देखकर तुर्की ने अपने खोये हुये प्रदेशों पर पुनः अधिकार कर लिया। तुर्की के सेनापति अनवर बे ने

एड्रियानोपल को जीतकर तुर्की राज्य में मिला लिया। इस प्रकार बल्गेरिया इस युद्ध में पूर्ण रूप से एकाकी पड़ गया। अन्त में उसे विवश होकर संधि की याचना करना पड़ी।

बुखारेस्ट संधि– बल्गेरिया को शीघ्र ही समझ आ गया कि उसने बाल्कन लीग का साथ छोड़कर और आस्ट्रिया पर विश्वास कर भारी भूल की थी, क्योंकि सर्बिया को परोक्ष रूप में रूस ने मदद दी थी। अतः 10 अगस्त, 1913 को बल्गेरिया, सर्बिया, यूनान, मॉन्टीनीग्रो, रूमानिया तुर्की के मध्य बुखारेस्ट की संधि हो गई। जिसके अनुसार–

1. बल्गेरिया को सिलिस्ट्रिया तथा दो ब्रूजा के जिले छोड़ना पड़े तथा यह दोनों रूमानिया को दिलवाये गये।
2. मैसीडोनिया को बल्गेरिया से छीनकर सर्बिया, यूनान और मॉन्टीनीग्रो ने आपस में बाँट लिया। सर्बिया को मध्य, मॉन्टीनीग्रो को पश्चिमी मैसीडोनिया तथा यूनान को दक्षिणी मैसीडोनिया, सालोनिका, ऐपिरस तथा पूर्व में मेस्टा तक समुद्री तट दिया गया।
3. तुर्की को एड्रियानोपल, डेमार्टिका और कर्क किलिसी पुनः मिल गये।
4. बल्गेरिया को समुद्र तक जाने के लिये डेडीगैच बन्दरगाह के निकट एक संकरा मार्ग प्रदान किया गया।
5. अल्बानिया को स्वतंत्र रखा गया यद्यपि उसका विभाजन हो गया था।

बुखारेस्ट संधि के परिणाम– लन्दन संधि की शर्तों पर यदि ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि बुखारेस्ट संधि ने उसकी शर्तों को पूर्ण रूप से उलट दिया। इसमें यूनान, सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो, रूमानिया और तुर्की को अधिक लाभ मिले। सर्बिया को इसमें अनेक प्रकार से सर्वाधिक लाभ मिले। उसे मध्य मैसीडोनिया, आधा नोवीबाजार और प्राचीन सर्बिया मिल गया परन्तु उसे आस्ट्रिया–इटली के विरोध के कारण एड्रियाटिक समुद्री नहीं मिल पाया। यूनान को कवाला, सालोनिका, एपिरस और अन्य दुर्गों पर अधिकार मिला। परन्तु वह असन्तुष्ट बना रहा। इसी प्रकार मॉन्टीनीग्रो को नोवीबाजार का पश्चिमी भाग तो मिला परन्तु स्कूटरी बन्दरगाह न मिलने से वह भी असन्तुष्ट रहा। रूमानिया सिलीस्ट्रिया और दो ब्रूजा प्रदेश मिले जबकि इन पर उसको कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इसके कारण रूमानिया का नवीन महत्वपूर्ण राज्य बन गया। परन्तु ट्रांसिल्वानिया, बेसेरेविया तथा बुकोनिना न मिलने से वह भी नाराज था। इस युद्ध के परिणामस्वरूप तुर्की को उसके कुछ प्रदेश उसे मिल गये परन्तु अधिकांश प्रदेश छिन जाने से वह इंग्लैण्ड, रूस आदि से रूष्ट हो गया तथा उसने जर्मनी से मित्रता कर ली। इसी से युवा–तुर्कों का आदर्शवाद सिद्धान्तहीन, अवसरवादी सिद्ध हुये तथा ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्होंने सत्ता पाने के लिये ही बाल्कन जातियों को झूठे आश्वासन दिये थे। अल्बानिया को स्वतंत्र राज्य बनाने से– (1) आस्ट्रिया, हंगरी और इटली की आकांक्षाओं पर रोक लग गई। (2) उत्तरी एपिरस पर यूनानी दावे को लम्बित कर दिया गया। (3) इससे दक्षिण स्लावों को एड्रियाटिक समुद्र तक नहीं पहुँचने दिया गया। (4) इससे कुछ लाभ जर्मनी को यह मिला कि बाल्कन लीग के बनने से जर्मनी की योजना की बाधायें दूर हो गईं।

इस युद्ध में सर्वाधिक हानि बल्गेरिया को उठानी पड़ी। विशाल अथवा एकीकृत बल्गेरिया की आकांक्षा पूरी नहीं हुई। उसे जो प्रदेश प्रथम बाल्कन युद्ध के बाद प्राप्त हुये थे सर्बिया, यूनान और मॉन्टीनीग्रो ने छीन लिये। इससे वहाँ की जनता में अत्यधिक असन्तोष बना रहा।

प्रथम एवं द्वितीय बाल्कन युद्धों का महत्व (निष्कर्ष)– प्रथम एवं द्वितीय बाल्कन युद्ध क्रमशः राष्ट्रीय एकीकरण और स्वतंत्रता के लिये और तुर्की के प्रदेशों के बंटवारे के लिये हुये। इसमें

प्रायः सभी राज्य जिन्हें थोड़े या अत्यधिक लाभ हुये और जिन्हें पर्याप्त हानि उठाना पड़ी सभी किसी न किसी कारण से नाराज बने रहे। यही नाराजी या असन्तोष 1914 के प्रथम विश्व युद्ध के आधार बने। युवा तुर्क क्रांति से आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया के साथ युद्ध की घोषणा तक बाल्कन समस्या का विकासक्रम अत्यन्त घातक था। सबसे अधिक घातक रुख था तुर्की तथा यूरोपीय देशों और रूस के द्वारा विभिन्न राष्ट्रीयताओं और सांस्कृतिक तत्वों की अस्वीकृति। जैसे इस्लाम के अन्तर्गत ईसाई जनता अप्राकृतिक थी वैसे ही स्लाव प्रदेशों को आस्ट्रिया की आधीनता में देना अप्राकृतिक था। बल्गेरिया का विभाजन भी अप्राकृतिक था। परन्तु इनका ध्यान युवा तुर्कों ने तो रखा ही नहीं स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के पक्षधर इंग्लैण्ड ने भी नहीं रखा। इतिहास साक्षी है कि अप्राकृतिक घटनायें सदैव घातक ही सिद्ध हुई हैं।

प्रश्न–6. 1905 की रूसी क्रांति के कारणों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– 1855 में क्रीमिया–युद्ध के बाद से रूस की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ और जारों की निरंकुशता द्वितीय और तृतीय को इसमें कोई सफलता नहीं मिली। उसके पश्चात् सन् 1894 में निकोलस द्वितीय जार बना परन्तु इसमें भी समय और परिस्थिति को समझने की क्षमता नहीं थी।

निकोलस के राज्यारोहण से निराशा– एलेक्जेण्डर तृतीय का 26 वर्षीय पुत्र निकोलस स्वेच्छाचरित और निरंकुशता में पूर्ण विश्वास रखता था। इसने अपने राज्यारोहण के समय मूर्खतापूर्ण घोषणा करके जनता को विश्वास दिला दिया कि भविष्य में उन पर महान संकट आने वाला है और जिससे बचने का संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। उसने अपनी घोषणा में कहा था कि, "मैं एक तंत्र स्वेच्छाचारी शासन के सिद्धान्तों का उसी तरह पालन करुंगा जैसा कि मेरे पूर्वज करते आये हैं।"

स्वतंत्रता की भावना का दमन– पूर्व के जारों के शासनकाल में शून्यवादी और हिंसात्मक आन्दोलन बहुत उग्र हो चुके थे और अब औद्योगिक उन्नति के कारण देश में समाजवाद और प्रजातंत्र की भावनायें भी बढ़ चुकी थीं और श्रमिक आन्दोलन भी आरम्भ हो चुके थे तथा संवैधानिक सरकार की मांग की जा रही थी। जार के विरोध में उन्होंने 5 लाख हस्ताक्षर एकत्रित करवाये परन्तु जार ने इस तरह की मांगों का दमन किया जिसके कारण देश में अराजकता छा रही थी। इसी समय चीन में मंचूरिया और कोरिया पर अधिकार करने के प्रश्न पर जापान में संघर्ष हो गया।

रूस–जापान युद्ध (1904–1905)– जापान ने कोरिया और चीन में साम्राज्यवादी नीति अपनाई जिसका सन् 1892 में रूस ने विरोध किया था और इस विरोध में जर्मनी और इंग्लैण्ड ने भी साथ दिया अतः शिमोनास्कि की संधि में कोरिया और लियोतुंग छोड़ने पड़े थे। अतः चीन एवं जापान रूस का शत्रु था। उसने सन् 1902 में इंग्लैण्ड से आंग्ल–जापान संधि करके सन् 1904 में जापान ने रूस पर आक्रमण कर दिया जिसमें रूस की पराजय हो गयी और जापान के साथ उसे अपमानजनक संधि करना पड़ी और बहुत से चीनी प्रदेशों पर उसके अधिकार को मान्य करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि रूसी जार की शक्तिहीनता का जनता को पता चला। इससे देश में हिंसात्मक आन्दोलन फैलने लगे तथा एक संसद की मांग की गई। सैनिक इस समय बिना वेतन और भूख तथा अभाव में थे। मजदूरों में भी बेकारी और भुखमरी फैल गई।

सन् 1905 की क्रान्ति– उपरोक्त कारणों से और जार के दमनचक्र के कारण 22 जनवरी, 1905 में जनता की भीड़ ने राजमहल को घेर लिया। जार ने न शिकायतें सुनीं और न उनसे मिला। जार ने सेना को जनता पर आक्रमण करने के लिये आदेश दे दिये।

क्रान्तिकारियों ने भी हिंसात्मक प्रतिरोध किया। जागीरदारों के भवन जलाये जाने लगे। नौसेना और सेना ने विद्रोह कर दिये। प्रतिक्रिया इतनी उग्र थी कि इसे "खूनी रविवार" की संज्ञा दी गई। कारखानों, रेल्वे, गैस, बिजली, न्यायालयों में हड़तालें हो गईं। इसके कारण पोलैण्ड, आर्मीया, जार्जिया में विद्रोह हो गये। फिनलैण्ड और लिथूआनियां ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। परन्तु जार इस क्रान्ति का दमन करने में असफल रहा।

जार के द्वारा विश्वासघात– जार ने जब देखा कि दमन और प्रतिक्रियावादी नीति सफल नहीं हो रही है और जनता में से राज्य का आतंक समाप्त हो गया है। अतः उसने ड्यूमा (राज्यसभा) को बुलाने का निश्चय किया। यह मात्र एक परामर्शदात्री संस्था थी। परन्तु इससे कोई असर नहीं हुआ अतः उसने 30 अक्टूबर, 1905 को नागरिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को स्वीकार किया और आश्वासन दिया कि ड्यूमा की अनुमति के बिना कोई कानून लागू नहीं करेगा। निर्वाचन करवाने, मतदान के क्षेत्र में वृद्धि करने, अधिकारियों के कार्यों की जांच के अधिकार प्रतिनिधियों को देने तथा निष्पक्ष न्याय और प्रेस की स्वतंत्रता का अधिकार देने की बात स्वीकार कर ली तथा उदारवादी काउन्टविट को प्रधानमंत्री भी बना दिया।

क्रांतिकारियों का जार पर विश्वास नहीं था। वे जानते थे कि जार कभी भी इन अधिकारियों को समाप्त कर निरंकुश बन सकता था। अतः उन्होंने संविधान निर्माण करने की मांग की और अपनी मांगों के समर्थन में हड़ताल आदि करते रहे, गृहयुद्ध बन्द नहीं हुआ। जार एक ओर तो उदारवाद को स्वीकार कर रहा था, दूसरी ओर वह अत्याचार भी करता रहा। जार ने संविधान निर्माण करने की भी कोई प्रक्रिया आरम्भ नहीं की।

ड्यूमाओं को आमन्त्रण और भंग करना– सन् 1906 में 10 मई को ड्यूमा को आमंत्रित किया गया और जार ने एक साम्राज्य परिषद् का निर्माण करने को कहा। यह सदन द्वितीय सदन का कार्य करेगा। प्रस्ताव में दोनों सदनों में पास करवाना आवश्यक माना गया। यद्यपि इसका स्वरूप प्रतिक्रियावादी था परन्तु अप्रैल, 1906 में-इसके चुनाव में 524 सदस्य जो 50 प्रतिशत से अधिक थे, विजयी हुये। इन्होंने पुनः संविधान, उत्तरदायी शासन, साम्राज्य परिषद् के अधिकार कम करने, चर्च की सम्पत्ति किसानों को देने, मृत्युदण्ड समाप्त करने तथा क्रान्तिकारियों को बन्दीगृह से छोड़ने की मांग की। इस कारण जार ने इस ड्यूमा को दिनांक 20 जुलाई, 1906 में भंग कर दिया।

नवीन ड्यूमा के चुनावों में पुनः प्रजातंत्रवादी अधिक जीते। अब इन्होंने पुरानी मांगों के साथ-साथ जागीर जब्त करने, फौजी न्यायालय भंग करने की मांग की। अतः जार ने इसे पुनः भंग कर दिया। तृतीय ड्यूमा का निर्वाचन मताधिकार सीमित करके करवाया गया। अतः अब ड्यूमा भी जमींदारों और जागीरदारों के निर्वाचन से प्रतिक्रियावादी बनी। इस कारण रूस की स्थिति प्रथम महायुद्ध में बहुत खराब हो गई जिसके परिणामस्वरूप 1917 की रूसी क्रान्ति हो गई।

जार निकोलस का क्रान्ति में दायित्व– जार एलेक्जेण्डर द्वितीय और तृतीय के काल से क्रान्ति के आगमन का स्पष्ट पता चल रहा था परन्तु जार ने इसे अपनी प्रतिक्रियावादी घोषणा और नीतियों से और अधिक बढ़ा दिया। उसने स्थिति को सम्हालने का प्रयत्न नहीं किया तथा वह निरन्तर दमन करता रहा। उसने क्रांति स्वीकार की परन्तु यह भी एक धोखा मात्र था। रूस-जापान युद्ध में पराजय के लिये और सैनिक अराजकता के लिये वह जिम्मेदार था। वह चाहता तो जमींदारों और भू-स्वामियों को नियन्त्रित कर सकता था। शासन में सुधार कर जनता की सहानुभूति प्राप्त कर सकता था, परन्तु उसने बदले की भावना से कार्य किया। उसने उद्योगपतियों तथा मुनाफाखोरों को नहीं रोका। दूसरी ओर अकाल तथा प्रथम विश्वयुद्ध ने

रूस की हालत खराब ही नहीं की बल्कि बोल्शेविक क्रांति की गति को तेज कर दिया तथा उसे 14 मार्च, 1917 को राजसिंहासन छोड़ना पड़ा। यदि यह कहा जाये कि जार निकोलस न केवल 1905 की क्रान्ति के लिये जिम्मेवार था बल्कि 1917 की क्रान्ति के लिये भी जिम्मेवार था तो अनुचित न होगा।

लघुउत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न–(1) पूर्वी समस्या क्या थी? टिप्पणी कीजिये।

उत्तर– पूर्वी समस्या– विशाल तुर्की साम्राज्य के पतन के साथ यूरोप के पूर्व में उसके अधीन बाल्कन राज्यों के ईसाई राज्यों और इस्लामी सरकार के मध्य समस्यायें उत्पन्न हो गईं।

समस्यायें– पूर्वी प्रश्न अथवा बाल्कन राज्यों की समस्या अथवा तुर्की की समस्या निम्न प्रकार से थीं–

(1) ईसाई प्रजा पर इस्लामी राज्य के अत्याचार और अधीन बनाये रखने की समस्या।

(2) बाल्कन के सभी राज्यों में आपसी राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक संघर्ष की समस्या के साथ-साथ स्वराष्ट्रीय प्रदेशों की एकता और स्वतंत्रता की समस्या।

(3) ईसाई राज्यों की तुर्की से मुक्त होने की अभिलाषा तथा संयुक्त प्रयास की सफलता।

(4) रूस, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, फ्रांस, जर्मनी के द्वारा बाल्कन राज्यों को जातीय, धार्मिक या आर्थिक आधारों पर समर्थन देने या विरोध करने तथा स्वयं के द्वारा तुर्की पर प्रभाव जमाने की अभिलाषा से उत्पन्न समस्या।

पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में 1774 में कुजुक केनार्जी संधि, बुखारेस्ट संधि 1812 और पैरिस की संधियों से पूर्वी समस्या का कोई समाधान नहीं हुआ अतः उपरोक्त समस्यायें 1856 के बाद पुनः उठना आरम्भ हो गईं।

प्रश्न–(2) युवा तुर्कों के उत्थान के कारण संक्षेप में बताइये।

अथवा

युवा तुर्क आन्दोलन से क्या अभिप्राय है?

उत्तर– तुर्की के नवयुवकों में ईसाई राज्यों की एकता, स्वतंत्रता एवं उन्नति को देखकर तथा पश्चिमी ज्ञान प्राप्त करने के कारण राष्ट्रीय भावनायें जाग्रत हुईं। ये नवयुवक अपने देश को विदेशी दासता से मुक्त करना चाहते थे फलस्वरूप उन्होंने इसके लिये एक आन्दोलन को आरम्भ किया इसी को युवा तुर्क क्रान्ति कहते हैं। इस क्रान्ति के निम्न प्रमुख कारण थे–

(1) **राष्ट्रीय भावना का प्रचार-प्रसार–** अठारहवीं सदी प्रजातंत्र और राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थी। इस युग में अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम, फ्रांस की क्रान्ति, जर्मनी का एकीकरण तथा इटली के एकीकरण संपन्न हुये।

(2) **विदेशी हस्तक्षेप–** आस्ट्रिया, रूस, हस्तक्षेप इंग्लैण्ड इत्यादि अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण एक ओर तो बाल्कन राज्यों में हस्तक्षेप कर उन्हें परस्पर लड़ाते रहे एवं उनमें अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करते रहे एवं आस्ट्रिया और रूस दोनों ही काले सागर, एनियन सागर तथा भू-मध्य सागर में आकर व्यापार करना चाहते थे।

(3) **अयोग्य सुल्तान तथा भ्रष्ट शासन–** इस समय के सुल्तान अयोग्य थे तथा उनका शासन भी भ्रष्ट था जिसके कारण आन्दोलन हुये।

प्रश्न–(3) युवा तुर्कों के पतन के कारण संक्षेप में लिखिये।

उत्तर– यूवा तुर्कों ने शासन पर एकाधिकार प्राप्त करके आतंकवादी, हिंसक, स्वेच्छाचारी तथा पक्षपातपूर्ण शासन स्थापित कर दिया तथा वे अब्दुल हमीद से भी अधिक निर्दयी व बुरे

सिद्ध हुये। उनमें शासन करने की योग्यता नहीं थी। अतः वे समस्त जनता पर अत्याचार करने लगे। युवा तुर्कों के पतन के निम्नलिखित कारण थे–

(1) वे स्वेच्छाचारी, आतंकवादी एवं अत्याचारी निकले।
(2) तुर्कों ने न्याय को आधार नहीं, जातीयता के भेदों को आधार बनाया।
(3) तुर्की विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं और संस्कृति का समूह था। अतः सहिष्णुता की अपेक्षा थी, तुर्कों में यह नहीं थी।
(4) तुर्कों ने राज्य की आन्तरिक अवस्था में सुधार नहीं किये।
(5) तुर्कीकरण और इस्लामीकरण की नीति बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।
(6) इसके अनेक दूरगामी और हानिकारक परिणाम हुये।

प्रश्न–(4) बाल्कन युद्ध पर टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– प्रथम बाल्कन युद्ध– मैसीडोनिया पर तुर्की के अत्याचारों ने बाल्कन लीग की स्थापना को मूर्तरूप दिया और ग्रीकों की युद्ध घोषणा ने प्रथम बाल्कन युद्ध का आरम्भ कर दिया। डेढ़ महीने में तुर्की ने बुरी तरह से पराजित होकर कोन्स टेन्टिनोपल, एड्रिया–नोपल, जनीना और अल्बानिया का स्कूटरी छोड़कर सब कुछ खो दिया। अतः उसने यूरोपीय शक्तियों से रक्षा की प्रार्थना की। बाल्कन राज्यों की विजय से जर्मनी, आस्ट्रिया और तुर्की जरा भी प्रसन्न नहीं थे। तुर्की के पराजय से रूस की नीति सफल होती दिख रही थी। इंग्लैण्ड और फ्रांस को आस्ट्रिया और रूस में युद्ध हो जाने का खतरा था अतः दोनों बाल्कन युद्ध को बढ़ने से रोकना चाहते थे।

द्वितीय बाल्कन युद्ध– यूरोपीय शक्तियों के दवाव से प्रथम बाल्कन युद्ध के पश्चात् लन्दन की शक्ति तो सम्पन्न हो गई परन्तु तुर्की राज्य की लूट और विशेषकर मैसोडोनिया के बँटवारे पर बाल्कन राज्यों में मनमुटाव पैदा हो गया। सर्बिया, यूनान, मॉन्टीनीग्रो तथा बल्गेरिया बाल्कन लीग के सदस्य और तुर्की पर संयुक्त आक्रमण में साथ थे।

इकाई-3

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. प्रथम विश्वयुद्ध (महायुद्ध) के कारणों का वर्णन कीजिये।

अथवा

प्रथम विश्वयुद्ध के कारणों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

अथवा

प्रथम विश्वयुद्ध के कारणों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– प्रथम विश्व युद्ध के कारण– सभी राष्ट्र परस्पर एक–दूसरे की सीमाओं, हितों को स्वीकार करें तो युद्ध का कोई कारण उपस्थित नहीं हो सकता। परन्तु इसके अभाव में निम्न कारण उत्पन्न हुये–

1. **गुप्त अभिसन्धियाँ–** बिस्मार्क से (1865) लेकर 1914 तक गुप्त संधियों, प्रति–संधियों ने विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सदैव आशंकाओं और युद्ध का भय बनाये रखा। जैसे बिस्मार्क ने फ्रांस को एकाकी रखने के लिये द्विवर्गीय, त्रिवर्गीय, त्रिसम्राट संधियाँ कीं फिर कैसर विलियम ने त्रिवर्गीय, जर्मन–तुर्की संधियाँ कीं, इसकी प्रतिक्रिया में फ्रांस–रूस, फ्रांस–इंग्लैण्ड, इंग्लैण्ड–रूस संधियाँ कीं। यही कार्य बाल्कन प्रदेशों में भी किया गया। जैसे– यूनान–सर्बिया संधि जिससे बल्गेरिया–सर्बिया युद्ध हुआ। ऐसी और भी सन्धियाँ थीं! अतः यूरोप में प्रतिद्वन्द्वी गुट बनना आरम्भ हो गये।

2. **सैन्यवाद–** फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद सैनिकवादी प्रवृत्ति ने विशेष जोर पकड़ा। वैसे यूरोप में जर्मनी ने इस प्रवृत्ति को आरम्भ किया था। परन्तु इसका दायित्व इंग्लैण्ड पर भी था, जिसकी जल सेना विश्व में प्रथम कोटि की सेना थी। इसी के कारण वह अन्य राष्ट्रों का अपमान करता था दूसरों को व्यापार करने से रोकता था। अतः फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया अपनी सैन्य–शक्ति से जर्मन राज्यों और इटली के राज्यों को अपने शोषण का शिकार बनाये हुये था और सैन्यवाद से ही आस्ट्रिया और फ्रांस 1870 तक पराजित हुये थे। अब फ्रांस भी इसका प्रतिशोध सैन्य बल के द्वारा लेना चाहता था। आस्ट्रिया ने सर्बिया आदि अपनी सैन्य–शक्ति से दबाने का यत्न किया। कैसर विलियम ने भी सैन्य शक्ति का प्रयोग किया। बाल्कन राज्यों ने भी स्वाधीनता संग्राम हो या अपने हितों की पूर्ति हो सैन्य शक्ति से ही की। अतः सैन्यवाद द्वितीय महत्वपूर्ण कारण था।

3. **साम्राज्यवाद और उग्र राष्ट्रीयता–** सैनिक साम्राज्यवाद तुर्की की, आर्थिक, उत्पीड़क साम्राज्यवाद इंग्लैण्ड की तथा उग्र राष्ट्रवाद जर्मनी की देन है। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति उससे उत्पन्न उपनिवेशवाद की उत्पत्ति तथा उनका आर्थिक शोषण उन पर राजनीतिक, आर्थिक अधिकार करने की आकांक्षा ने यूरोप के अन्य देशों में भी यह प्रतियोगिता जाग्रत कर दी। इसी में उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा भी जुड़ गई जिससे अपने राष्ट्र की समृद्धि, शक्ति और अन्य राष्ट्रों से घृणा का भाव जागा। आस्ट्रिया से जर्मनी और इटली को नाराजगी, सर्बिया से बल्गेरिया की शत्रुता और बाल्कन में इंग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया, जर्मनी की प्रतियोगिता के पीछे यही कारण उत्तरदायी थे। बाल्कन युद्धों तथा बोस्नियाँ में आस्ट्रियन राजकुमार की हत्या में उग्र राष्ट्रीयता और आस्ट्रिया की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति जिम्मेवार थी जिससे युद्ध आरम्भ हुआ।

4. **फ्रांस का असन्तोष–** प्रशा द्वारा फ्रांस की पराजय, फ्रेंकफर्ट में बिस्मार्क का कठोर और अपमानजनक व्यवहार, खनिज–पदार्थों के बाहुल्य से सम्पन्न अल्सेस–लॉरेन का छीना जाना, भारी क्षतिपूर्ति राशि और सेना की उपस्थिति, फ्रांसीसी देशभक्त नेता और नागरिक प्रशा से प्रतिशोध और अल्सेस–लॉरेन लेने के लिये कुछ भी करने को तैयार थे। फ्रेंकफर्ट के बाद बिस्मार्क के द्वारा आस्ट्रिया, रूस, इटली के साथ गुप्त संधि समझौता से फ्रांस को सदैव अपने खिलाफ षड्यंत्र और आक्रमण का भय लगा रहा। इस कारण फ्रांस और भी अधिक सैनिक तैयारी में और अपने मित्रों की खोज में लगा रहा। विलियम ने भी फ्रांस को नगण्य माना परन्तु रूस को भी उपेक्षित रखा। अतः शीघ्र ही फ्रांस–रूस संधि हो गई उसके पश्चात् 1904 में इंग्लैण्ड से फ्रांस ने सम्बन्ध सुधार कर उससे भी संधि कर ली बाद में रूस और इटली भी फ्रांस–इंग्लैण्ड के साथ हो गये। इस प्रकार एक सशक्त गुट तैयार हो गया। अतः फ्रांस के असंतोष और बिस्मार्क तथा कैसर विलियम ने प्रथम विश्व युद्ध के लिये फ्रांस को विवश कर दिया।

5. **बाल्कन राज्यों की समस्यायें–** बर्लिन कांग्रेस (1778) ने बोस्नियां और हर्जेगोविना में स्लाव विरोधी आस्ट्रिया को प्रशासनिक अधिकार यूरोपीय राष्ट्रों ने सौंपे थे। यद्यपि उनका उद्देश्य रूस को दूर रखना था परन्तु उन्होंने उनकी राष्ट्रीयता का ध्यान नहीं रखा। आस्ट्रिया को अधिकार देने से वे नाराज हुये और तुर्की के आधीन रखे जाने से उनका धैर्य समाप्त हो गया। 1908 में आस्ट्रिया ने उनके और यूरोपीय देशों तथा तुर्की के साथ विश्वासघात करके दोनों प्रदेशों पर आस्ट्रिया ने कब्जा कर लिया। स्लाव जाति के मुखिया सर्बिया और रूस को यह बहुत बुरा लगा अतः आस्ट्रिया–सर्बिया में कटुता उत्पन्न होने से युद्ध का प्रमुख कारण बन गया।

6. मोरक्को संकट से तनाव वृद्धि– 1904 की आंग्ल-फ्रांसीसी मैत्री के पश्चात् दोनों ही देशों में नहीं रूस, इटली, अमेरिका में ऐसी घनिष्ठ मित्रता स्थापित हो गई कि जर्मनी और आस्ट्रिया एकाकी हो गये। जर्मनी ने मोरक्को में 1905, 1908 और 1911 में फ्रांस के विरुद्ध अनेक आरोप लगाये। युद्ध की धमकी दी, मोरक्को के सुल्तान को सैनिक मदद दी परन्तु हर बार जर्मनी को मुंह की खानी पड़ी। इसके दो परिणाम हुये, जर्मन विरोधी संघ में आत्मविश्वास जागृत हुआ तथा कैसर विलियम द्वितीय ने इसे अपना अपमान माना। अतः वह विरोधी संघ को तोड़ने और पराजित करने में लग गया। परन्तु उसे तब यह नहीं मालूम था कि वह विश्व युद्ध को आमंत्रित कर रहा है, क्योंकि मोरक्को ने शत्रुओं में घनिष्ठता उत्पन्न कर दी थी।

तात्कालिक कारण

7. राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या– 28 जून, 1914 को आस्ट्रिया का राजकुमार अपनी पत्नी के साथ प्रशासन व्यवस्था का निरीक्षण करने बोस्नियां की राजधानी सेराजेवा पहुंचा। यहाँ राष्ट्रवादी क्रांतिकारी पहले से ही आस्ट्रिया को अपना शत्रु समझते थे। अतः किसी स्लाव क्रांतिकारी ने राजकुमार पर बम फेंक दिया जिसमें उसकी मृत्यु हो गई। अतः 23 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया ने 48 घण्टे का बोस्नियां को अल्टीमेटम देते हुये अपमानजनक शर्तें मानने के लिये कहा। परन्तु इसी समय रूसी विदेश मंत्री ने घोषणा कर दी कि, सर्बिया पर आस्ट्रिया का आक्रमण रूस कभी भी सहन नहीं करेगा। इसके साथ ही उसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की माँग की। परन्तु आस्ट्रिया युद्ध के लिये कृतसंकल्प था अतः रूसी धमकी पर ध्यान न देकर 28 जुलाई, 1914 को सर्बिया पर आक्रमण की घोषणा कर दी और यहीं से विभिन्न देश इसमें शामिल हो गये तथा आस्ट्रिया-सर्बिया युद्ध; प्रथम व युद्ध बन गया।

प्रथम विश्व युद्ध– प्रथम विश्व युद्ध का आरम्भ 28 जुलाई, 1914 को हुआ तथा 11 नवम्बर, 1918 को विराम संधि हुई। इसमें सर्बिया का पक्ष लेकर रूस और जर्मनी ने आस्ट्रिया के खिलाफ क्रमशः 1 अगस्त और 3 अगस्त को युद्ध की घोषणा की। यह एक राष्ट्रीयता का भी युद्ध था जिसमें फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूमानिया, बेल्जियम, इटली भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध में आ गये। इसी समय जब जर्मनी-आस्ट्रिया, मित्र देशों से पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों में लड़ रहे थे और उनका ध्यान इटली-आस्ट्रिया युद्ध की ओर लगा था तुर्की और बल्गेरिया ने मिस्र पर अधिकार करने के लिये आक्रमण किया परन्तु दोनों ही इंग्लैण्ड से हार गये। इसी समय सुदूरपूर्व में जापान ने चीन को 21 अपमानजनक शर्तों को मानने के लिये विवश किया परन्तु अन्त में जापान भी पराजित हो गया। इस युद्ध की रोमांचक घटनाओं में पनडुब्बियों का युद्ध, हवाई युद्ध अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। अन्त में सभी मित्र देश जीत गये।

प्रथम विश्व युद्ध का दायित्व– युद्ध का दायित्व किस पर है? इस प्रश्न पर दो विचार प्रमुख हैं- प्रथम है आरम्भकर्त्ता देश कौन है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि आस्ट्रिया और बोस्नियां परन्तु द्वितीय प्रश्न है कि युद्ध का वास्तविक दायित्व किसका है? इसके सम्बन्ध में संक्षिप्त विवादों का वर्णन निम्नवत् है-

इंग्लैण्ड का दायित्व– सर्वप्रथम बात तो इंग्लैण्ड पर विश्व युद्ध के दायित्व होने की है। इस सम्बन्ध में यह तर्क दिये जाते हैं कि इंग्लैण्ड अन्य देशों के भू-मध्य सागर में आने के अपने जैसे ही अधिकार रूस अथवा आस्ट्रिया के समझता तो युद्ध नहीं होता परन्तु वह सदैव काले सागर में रूस के आने का विरोधी था। द्वितीय कारण इंग्लैण्ड अपने अफ्रीका और भारत के व्यापार की रक्षा के लिये अत्यन्त सतर्क और संवेदनशील था। इसी को ध्यान में रखकर उसने

संधि और समझौते किये। उसने फ्रांस और आस्ट्रिया की प्रशा से पराजय की कभी चिंता नहीं की परन्तु जब जर्मनी से उसके व्यापार के लिये और तुर्की पर उसके प्रभाव से खतरा दिखा तो उसने फ्रांस, रूस से मतभेद भुलाकर संधियाँ कर लीं और 1914 में जर्मनी को अकेला बना दिया। इंग्लैण्ड धन, जलसेना, विस्तृत और बड़ी संख्या में उपनिवेश अन्य देशों के लिये द्वेष के कारण बने और इंग्लैण्ड का व्यवहार संघर्ष का कारण बना। सन् 1902 में इंग्लैण्ड रूस से संधि न करता और जापान से रूस 1905 में पराजित नहीं होता तो जापान का 1914 में उत्साह नहीं बढ़ता और वह युद्ध में न आता। इंग्लैण्ड सर्बिया के पक्ष में या विरोध में युद्ध एवं तटस्थता की यदि स्पष्ट घोषणा करता तो आस्ट्रिया, रूस और सर्बिया रुक सकते थे और यदि युद्ध होता तो विश्व युद्ध का रूप धारण नहीं कर पाता। जर्मन चांसलर ने ब्रिटेन की विदेश नीति को युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहराया है। उसकी विदेश नीति ने ही द्विराष्ट्रीय गुट को सैनिक मदद का आश्वासन देकर उन्हें विश्व युद्ध के लिये सक्षम बनाया था।

रूस का दायित्व– जर्मन विद्वान फे ने रूस को उत्तरदायी बताया। उसके अनुसार जब जर्मनी रूस को शान्ति के लिये तैयार कर रहा था रूस ने सर्बिया के पक्ष में युद्ध की घोषणा करके आस्ट्रिया को युद्ध के लिये विवश कर दिया। फे का यह मत सत्य को छिपाने वाला है, क्योंकि आस्ट्रिया 28 जुलाई को युद्ध घोषणा कर चुका था और रूस ने एक अगस्त को घोषणा की। अतः लगता है कि आस्ट्रिया युद्ध के लिये कृतसंकल्प था और जर्मनी कुछ समय रूस को अलग रखकर आस्ट्रिया को उसे शीघ्र पराजित करने का अवसर देना चाहता था। अतः युद्ध का रूस पर दायित्व यह था कि यदि वह सर्बिया की मदद नहीं करता तो सर्बिया में क्षमता नहीं थी कि वह आस्ट्रिया का सामना करता। परन्तु रूस ने ऐसा न कर सर्बिया पर उसके बलात् अधिकार को रोकने का प्रयत्न किया।

विलियम का दायित्व– प्रथम विश्व युद्ध के लिये सबसे अधिक दायित्व कैसर विलियम की नीति थी। बाल्कन राज्यों में हस्तक्षेप, तुर्की से मित्रता, विश्व साम्राज्य की प्राप्ति, बर्लिन, बगदाद रेल्वे, रूस से मन-मुटाव, इंग्लैण्ड से प्रतिद्वन्द्विता, फ्रांस का अपमान आदि सभी नीतियों ने विलियम को विश्व का शत्रु बना दिया। अतः युद्ध की तात्कालिक घटना तो मात्र एक बहाना थी इसकी पृष्ठभूमि में 1870 से संचित प्रतिशोध और शत्रुता की भावना थी जिसकी वृद्धि के लिये विशेषकर कैसर विलियम उत्तरदायी था। जर्मन चांसलर **बेथमैन** के शब्दों कि- "हम युद्ध में पवित्र आत्मा से प्रवेश कर रहे हैं। वर्षों से किये जाने वाले श्रम का फल प्राप्त करने का अवसर हमें मिल रहा है.....हमारी नौसेना युद्ध के लिये तैयार है और हमारी स्थल सेना तो पहले से ही युद्ध भूमि में पहुँच चुकी है।" युद्ध के लिये जर्मनी के दायित्व को स्पष्ट कर देते हैं। यदि जर्मनी आस्ट्रिया का मित्र नहीं होता तो आस्ट्रिया युद्ध का साहस नहीं करता।

आस्ट्रिया का दायित्व– आस्ट्रिया ने बोस्नियां एवं बाल्कन राज्यों में अनुचित हस्तक्षेप कर राजकुमार की हत्या जैसी घटना को आमंत्रित कर युद्ध को आरम्भ किया तथा उसमें अपने मित्र जर्मनी को भी घसीट लिया। यह स्पष्ट था कि उसमें अकेले युद्ध करने की क्षमता नहीं थी। वास्तव में यूरोपीय राष्ट्रों का क्रोध जर्मनी के प्रति था और आस्ट्रिया उसका घनिष्ठ मित्र था। अतः जर्मनी की युद्ध घोषणा करते ही इंग्लैण्ड, फ्रांस ने भी युद्ध घोषणा कर दी। इस प्रकार आस्ट्रो-जर्मन मित्रता युद्ध के लिये उत्तरदायी बन गई।

निष्कर्ष– प्रथम विश्व युद्ध के कारण तो इंग्लैण्ड और जर्मनी की नीतियों के कारण संचित होते जा रहे थे परन्तु सेराजेवा के हत्याकाण्ड ने उसमें बारूद का कार्य किया। इसके लिये बाल्कन और यूरोपीय देशों की उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवादी नीतियाँ जिम्मेवार थीं परन्तु

सभी बड़ी शक्तियों की इसमें न्यूनाधिक भूमिका थी इनमें जर्मनी और इंग्लैण्ड सर्वाधिक रूप से उत्तरदायी थे।

प्रश्न–2. प्रथम विश्व–युद्ध पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।

अथवा

प्रथम विश्व–युद्ध के क्या परिणाम निकले? स्पष्ट कीजिए।

अथवा

प्रथम विश्व–युद्ध के क्या कारण थे? इसके प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर– *नोट– प्रथम विश्व–युद्ध के कारणों हेतु पिछले प्रश्न का अध्ययन करें।*

प्रथम विश्व–युद्ध के परिणाम या प्रभाव– सन् 1914–18 ई. का महायुद्ध इतिहास की एक बड़ी भयंकर विनाशकारी घटना थी। इस युद्ध में 36 राष्ट्रों ने भाग लिया था जिनमें 32 मित्र राष्ट्रों के साथ और चार केन्द्रीय शक्तियों के साथ थे। इस युद्ध में अत्यन्त भयंकर अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग हुआ, टैंक काम में लाये गये, विषैली गैसों का प्रयोग हुआ, हवाई जहाजों से गोले बरसाये गये, समुद्र में पनडुब्बियों ने भयंकर विनाश किया और शत्रुओं के प्रहार से असैनिक नागरिक जनता भी न बच सकी। इस युद्ध में संसार के सभी देशों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लिया। इस युद्ध में 36 राष्ट्रों के लगभग साढ़े छः करोड़ व्यक्तियों ने भाग लिया। इसमें विभिन्न राष्ट्रों की जनशक्ति और धनशक्ति का जो विनाश हुआ उसका आकलन किया गया है। इसका अध्ययन करने से हमें यह बात समझ में आ जायेगी कि इस युग के युद्ध कितने विनाशकारी हैं। इसके अलावा युद्ध के निम्नलिखित गंभीर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिणाम भी हुए–

(1) **जनशक्ति का विनाश–** इस युद्ध में कुल मिलाकर अस्सी लाख आदमी मारे गये। घायलों की संख्या दो करोड़ दस लाख थी, इनमें आठ लाख ऐसे व्यक्ति शामिल थे, जो कि पूर्णतः अपाहिज हो गये थे। इनमें जर्मनी तथा उनके साथी राष्ट्रों के तीन लाख व्यक्ति मारे गये और अस्सी लाख घायल हुए। मित्र राष्ट्रों के पचास लाख व्यक्ति मारे गये और एक करोड़ दस लाख घायल हुए। इनके अलावा सत्तर लाख से अधिक व्यक्ति ऐसे थे जो कि लापता हो गये। इस प्रकार युद्ध में तीन करोड़ चालीस लाख आदमी या तो जान से मारे गये या गुम हो गये या घायल हो गये। सैनिकों के अतिरिक्त नागरिकों को भी सामुद्रिक तथा हवाई युद्धों के कारण जान की भारी क्षति उठानी पड़ी। 1,912 अमेरिकी तथा 20,690 अंग्रेज समुद्रों में जहाजों के डुबोये जाने के कारण मारे गये। 1,270 ब्रिटिश नागरिक हवाई गोलीबारी से मारे गये। तुर्की लोगों ने अपने कई लाख ईसाई और यहूदी नागरिकों की युद्ध के दौरान हत्या कर दी। युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी की जो नाकेबन्दी की, उसमें कई लाख जर्मन, जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी शामिल थे, भूख से मर गये। युद्ध के पश्चात् यूरोप में जो महामारियाँ फैलीं, उनमें लगभग चालीस लाख व्यक्ति मारे गये। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि युद्ध में जवान लोग मारे गये, जिससे आगे चलकर यूरोप की भारी आर्थिक हानि हुई।

(2) **सामाजिक परिणाम–** प्रथम विश्व–युद्ध का महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम यह हुआ कि युद्ध के पश्चात् महिलाओं की स्वतंत्रता के आन्दोलन ने जोर पकड़ा। जब सभी देशों में लाखों की संख्या में पुरुष युद्ध में फँस गये तो उनके स्थान पर कारखानों, कार्यालयों आदि में महिलाओं को काम करने हेतु जाना पड़ा। इससे समाज में उनका महत्व बढ़ गया, उनके आत्मसम्मान में वृद्धि हुई और वे भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगीं।

(i) इस युद्ध में असंख्य पुरुषों की मृत्यु होने से सभी देशों में पुरुषों की संख्या कम हो गयी और उनकी अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बढ़ गयी, जिसका पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन पर बहुत ही अनिष्टकारी प्रभाव पड़ा।

(ii) स्त्रियों के समान मजदूरों को भी अपने महत्व की जागृति हुई, क्योंकि युद्ध के लिए अनेक प्रकार के कारखानों में अस्त्र–शस्त्रों तथा युद्ध की अन्य सामग्री तैयार करके उन्होंने भी युद्ध में अपना अति महत्वपूर्ण योगदान दिया था। मजदूर आन्दोलन पहले भी चल रहा था, किन्तु युद्ध के बाद उसने अधिक जोर पकड़ा और मजदूर–वर्ग अब व्यवसायों के संचालन में भाग लेने की माँग करने लगा और मजदूरी बढ़ाने तथा अन्य सुविधाओं की माँग को लेकर आन्दोलन भी करने लगा। रूस की क्रान्ति से भी मजदूर आन्दोलन को बड़ी प्रेरणा मिली।

(3) **आर्थिक परिणाम–** प्रथम विश्व–युद्ध में कितनी सम्पत्ति का नाश हुआ? इसका सही अनुमान लगाना अत्यधिक कठिन है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार युद्ध में साढ़े अट्ठावन हजार करोड़ रुपये खर्च हुए। इनमें से एक–तिहाई जर्मनी तथा उनके साथियों का तथा शेष दो–तिहाई मित्र राष्ट्रों का खर्च हुआ। इसके अलावा तेरह हजार दो सौ करोड़ की सम्पत्ति का विनाश हुआ। युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों पर कर्ज का भारी बोझ आ पड़ा। उदाहरणार्थ, युद्ध के अन्त तक इंग्लैण्ड का ऋण 7,080 लाख से बढ़कर 74,350 लाख पाउण्ड हो गया, फ्रांस का राष्ट्रीय ऋण 3,41,880 लाख से बढ़कर 14,7४,720 फ्रेंक हो गया। जर्मनी का ऋण 50,000 लाख से बढ़कर 16,06,000 लाख मार्क हो गया था। इसके अलावा अनेक यूरोपीय राष्ट्रों का सर्वनाश हो गया। जो प्रदेश शत्रुओं के अधिकार में रहे (जैसे– उत्तरी फ्रांस, बेल्जियम, उत्तरी इटली, रूस, पोलैण्ड, सर्बिया, ऑस्ट्रियन गेलेशिया आदि) उनका तो सर्वनाश ही कर दिया गया। इतने भारी आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। उपज बहुत कम हो गयी, कीमतें बढ़ने लगीं और मुद्रा का मूल्य गिर गया तथा व्यापार अस्त–व्यस्त हो गया।

(4) **राजनीतिक परिणाम– (i) राजतंत्र का ह्रास तथा गणतंत्र का उदय–** युद्ध के समय तक यूरोप तथा संसार के अन्य सभी भागों में सर्वत्र राजतंत्र का बोलबाला था। युद्ध के परिणामस्वरूप तीन प्राचीन राजवंश–ऑस्ट्रिया का हाप्सबर्ग, प्रशा का हॉहेनत्सोलर्न तथा रूस का जार राजवंश नष्ट हो गये। इसके साथ ही जर्मनी से अनेक छोटे–छोटे राजवंश तथा बुल्गारियों का राजवंश समाप्त हो गया। आगे चलकर 1923 ई. में टर्की के उस्मानी राजवंश का भी अन्त हो गया। ऑस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की, जर्मनी, रूस, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, लिथूनिया, लेटेविया, एस्थोनिया, फिनलैण्ड आदि में गणतंत्रीय शासन स्थापित हुए। इस प्रकार यूरोप में गणराज्यों की बाढ़–सी आ गयी। इंग्लैण्ड, स्पेन, ग्रीस, रूमानिया आदि जिन देशों में वंशानुगत राजा बने रहे, वहाँ भी जनतंत्र की बड़ी तेजी से प्रगति होने लगी।

(ii) अधिनायकतंत्र का उदय– युद्ध के परिणामस्वरूप राजतंत्रों का पतन हुआ, लेकिन इससे लोकतंत्र को प्रोत्साहन कम मिला। जो नये गणतंत्र स्थापित हुए वे अधिनायकवादी थे। वास्तव में युद्ध में लोकतंत्र विरोधी भावनाओं को बल दिया। उदाहरणार्थ, रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित हुआ। इसी प्रकार इटली, जर्मनी, तुर्की, पोलैण्ड आदि देशों में अधिनायकवादी सरकारों की स्थापना की गयी।

(iii) राष्ट्रीयता का तीव्र विकास– प्रथम विश्व–युद्ध ने राष्ट्रीयता की भावना को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने नारा लगाया था कि राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने यूरोप की नवीन राजनीतिक व्यवस्था को राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर खड़ा करने का प्रयास किया और उनके अनुसार आठ नये राज्यों की स्थापना की। ये चैकोस्लोवाकिया,

यूगोस्लाविया, हंगरी, पोलैण्ड, लिथूनिया, लेटेविया, एस्थोनिया तथा फिनलैण्ड थे। इस प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् सभी देशों में राष्ट्रीय भावना का तीव्र विकास हुआ।

(4) **साम्यवाद का उदय**– साम्यवाद कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर आधारित है। युद्ध के परिणामस्वरूप रूस में साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर लेनिन के नेतृत्व में क्रान्ति हुई, जिसमें जार के शासन का अन्त कर दिया गया और सर्वहारा वर्ग (कारखानों के मजदूर) का अधिनायकतंत्र स्थापित हुआ। इस अधिनायकतंत्र के अन्तर्गत एक नयी अर्थ-व्यवस्था स्थापित की गई। इस व्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों-भूमि, पूँजी (खान, कारखानों आदि), श्रम, प्रबंध आदि पर सारे समाज का स्वामित्व होता है। वे कुछ थोड़े-से व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति नहीं होती, जैसा कि पूँजीवादी व्यवस्था में होता है। इस नयी व्यवस्था ने विश्व के मजदूर-वर्ग में एक नवीन चेतना का संचार किया और उनमें शोषण के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा जागृत हुई, जिसके दूरगामी परिणाम हुए।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व-शान्ति के आदर्शों का उदय**– युद्ध की विभीषिका ने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना और विश्व-शान्ति के आदर्श को प्रोत्साहन दिया। यह युद्ध अत्यन्त ही विनाशकारी हुआ जिनमें जन-धन की अपार क्षति हुई। इससे विचारक, राजनीतिज्ञ तथा साधारणजन सभी आतंकित हो गये और यह अनुभव करने लगे थे कि मनुष्य जाति के लिए युद्ध भारी अभिशाप है। सर्वत्र यह आवाज उठाई जाने लगी कि संसार के सभी राष्ट्रों को परस्पर मिलकर और शान्तिपूर्वक रहना चाहिए। इसी भावना ने राष्ट्रसंघ को जन्म दिया। आगे चलकर यह भी प्रयास किये गये कि संसार के राष्ट्र अपनी-अपनी सेनाएँ कम कर दें और उन पर व्यय होने वाले धन को मनुष्यों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए व्यय करें। लेकिन इन सब प्रयासों को सफलता नहीं मिली और अन्त में द्वितीय विश्व-युद्ध हाकर ही रहा।

प्रश्न–3. 1917 की रूसी क्रांति के क्या कारण थे? समझाइये।

अथवा

रूस की 1917 की क्रांति के प्रमुख कारणों का वर्णन (विवेचना) कीजिये।

अथवा

रूस में बोल्शेविक क्रांति के कारणों का वर्णन कीजिये।

अथवा

'1917 की रूसी क्रांति के मूल कारण रूसी इतिहास में सन्निहित हैं।' इस कथन की विवेचना कीजिये।

उत्तर– विश्व में 1789 की फ्रांस की क्रांति का जो महत्व है वही महत्व रूस की 1917 की क्रांति का है। फ्रांस की क्रांति यदि निरंकुशता, भ्रष्ट शासन और विशेषाधिकारों के खिलाफ, स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के आदर्शों से प्रेरित मानव अधिकारों और लोकतंत्र की स्थापना के लिये थी तो बोल्शेविक क्रांति भी निरंकुशता और भ्रष्टाचार के खिलाफ थी, किन्तु इसमें नवीन तत्व यह था कि यह पूंजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी व्यवस्था को स्थापित करना चाहती थी जिसका आधार मार्क्स और संस्थापक लेनिन था।

रूसी क्रांति के कारण– रूसी क्रांति को मात्र एक प्रतिक्रिया अथवा केवल मार्क्स की देन नहीं माना जा सकता; इसमें अनेक तत्वों का अंशदान निहित था जिसके कारण बोल्शेविक क्रांति मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत सर्वप्रथम रूस में हुई।

1. औद्योगिक क्रांति– इंग्लैण्ड तथा यूरोप में अन्यत्र औद्योगिक प्रतियोगिता और विकास तीव्र गति से हो रहा था। पीटर और कैथरिन ने रूस में इससे प्रभावित होकर औद्योगिकीकरण की नींव डाल दी थी। परिणामस्वरूप रूस में अनेक कारखाने लग चुके थे। इसके कारण

ग्रामीण, पिछड़ी और निर्धन जनता काम और रोटी की तलाश में बड़ी संख्या में कारखानों की ओर आकर्षित हुई। कारखाने के स्वामियों ने भी सस्ते मजदूर और अधिक मुनाफा कमाने के लिये इन्हें आमंत्रित किया। इससे औद्योगिक शहर बने। इसी के साथ-साथ श्रमिक-पूंजीपति विवाद, श्रमिक-आवास, कार्य-दशा, पारिश्रमिक, जीवनस्तर आदि की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हो गईं। इससे साम्यवादियों को श्रमिक संगठन और साम्यवादी क्रांति करने का अवसर मिला।

रूसी क्रांति के कारण

1. औद्योगिक क्रांति
2. जारों की निरंकुशता
3. भ्रष्ट शासन और सामाजिक विषमता
4. युद्ध में रूस की पराजय
5. बौद्धिक जागरण
6. समाजवाद का प्रभाव
7. तात्कालिक कारण

2. जारों की निरंकुशता– निकोलस प्रथम, एलेक्जेण्डर द्वितीय, एलेक्जेण्डर तृतीय और जार निकोलस निरंकुश, स्वेच्छाचारी शासक था। इन सभी के शासन कालों (1825-1914) में यद्यपि कृषक दासों की मुक्ति, कानून-व्यवस्था में सुधार, शासन में अनेक उदार परिवर्तन किये गये। किन्तु इन्हें कार्यान्वित करने की जारों में योग्यता नहीं थी। अतः इनके सभी सुधार प्रतिक्रियावादी सिद्ध हुये तथा इनकी असफलताओं ने एक ओर तो जारों का दिमाग खराब कर दिया तथा वे पहले से अधिक निर्दयी और तानाशाह बन गये। दूसरी ओर जनता भी हिंसक उपायों के द्वारा जारों को हटाने और शासन में परिवर्तन का प्रयत्न करने लगी। शून्यवाद की उत्पत्ति, एलेक्जेण्डर द्वितीय और तृतीय की हत्यायें और निकोलस की अपदस्थतायें इसके स्पष्ट लक्षण थे। जार केवल निरंकुश ही नहीं भ्रष्ट और विलासी तथा चरित्रहीन थे। जारिना एलिक्स और रासपुटिन के सम्बन्धों को जनता ने सन्देह से देखा।

3. भ्रष्ट शासन और सामाजिक विषमता– जारों का शासन अत्यन्त भ्रष्ट था। रासपुटिन चर्च का पादरी था जो अत्यन्त चालाक और धूर्त था। इसने अपनी चालाकी से जार और जारिना पर अत्यधिक प्रभाव जमा लिया था, बाद में इसकी चालाकी की पोल खुल गई। इसके साथ ही रूस के समाज में अधिकार युक्त वर्ग था जिसमें राजा-रानी, सामन्त आदि वर्ग थे दूसरा वर्ग अधिकारहीन था इसमें किसान, मजदूर आदि थे। कुलीन वर्ग सदैव इन पर अत्याचार करता रहता था। सामान्य जनता निर्धनता, युद्धों और शोषण से पीड़ित थी। अतः उसने क्रांति के लिये सहयोग प्रदान किया।

4. युद्ध में रूस की पराजय– रूस को विगत् कालों में अनेक युद्ध करना पड़े परन्तु उनमें सैनिक सफलतायें मिलने पर भी राजनीतिक, आर्थिक लाभों से रूस को वंचित रहना पड़ा। इससे जनता में यह धारणा व्याप्त हो गई कि जारों की अयोग्यता और राजनीतिक सूझ-बूझ के अभाव में रूस सदैव राजनीतिक टेबिल पर हारता रहा। उन्नकियार स्कैलेसी और सेनस्टीफेनो में रूस को प्राप्त लाभों से क्रमशः लन्दन और बर्लिन में वंचित होना पड़ा। क्रीमियाँ युद्ध तो रूस के लिये अत्यधिक दूरगामी विनाशक युद्ध था। जापान ने 1904 में रूस को पराजित कर रूस की शक्ति, प्रतिष्ठा और जारों की निरंकुशता को बहुत ही निर्बल कर दिया। 1914 में रूस मित्र देशों की ओर से प्रथम विश्व युद्ध में लड़ा परन्तु उसे कोई विशेष सफलता भी नहीं मिली और युद्ध ने जनता को क्रांति का अवसर प्रदान कर दिया।

5. बौद्धिक जागरण– फ्रांस में बौद्धिक जागरण के समान रूस में भी एक बौद्धिक क्रांति हुई। इसका प्रमुख कारण रूस में पश्चिमी विचारों का प्रभाव और आगमन था। मध्यम वर्गीय रूसी इन विचारों से बहुत प्रभावित थे। टाल्सटॉय, तुर्गनेव, दांतोविस्की के उपन्यासों ने रूसी जनता में परिवर्तन की आकांक्षा और जागृति उत्पन्न की। कार्ल मार्क्स, मैक्सिम गोर्की तथा

बकुनिन के समाजवादी तथा अराजकतावादी विचारों ने रूसी समाज में भारी क्रांति उत्पन्न कर दी। शून्यवादी तो वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करने के लिये हिंसक आन्दोलन को चला रहे थे। इस प्रकार प्राचीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगा। बौद्धिक क्रांति में प्रेस का भी योगदान महत्वपूर्ण था।

6. समाजवाद का प्रभाव– मार्क्स से प्रभावित अनेक नवयुवकों ने रूस में निरंकुशता, पूंजीवाद को समाप्त करने तथा सर्वहारा वर्ग की सरकार स्थापित करने का प्रचार किया तथा उत्पादन एवं वितरण पर इस सरकार के नियंत्रण का पक्ष लिया। इन्होंने तात्कालिक रूप में सभी को भूमि, रोटी देने और युद्ध का अन्त करने के आश्वासन दिये। कारखाने यूरोप में भी थे और वहाँ पूंजीवादी सरकारों ने श्रमिकों के हित में भी काम किये थे अतः वहाँ साम्यवादी क्रांति नहीं हुई। रूस पिछड़ा देश था तथा जारों ने निर्धन श्रमिक जनता के लिये कुछ नहीं किया था बल्कि उनका पूरी शक्ति से दमन किया था। अतः रूस में साम्यवादी क्रांति सर्वप्रथम हो गई।

7. तात्कालिक कारण– निरंतर युद्धों, पराजयों, जारों की अयोग्यता, भ्रष्टाचार, अकाल आदि के कारण रूस में अनाज, कपड़े और ईंधन का अभाव हो गया। इनके मूल्य अत्यधिक बढ़ गये। सामान्य निर्धन जनता को रोटी के लिये लम्बी कतार लगाना पड़ती थी। अतः अभाव, भूख और शोषण ने जारों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया।

निष्कर्ष (आर्थिक विस्फोट)– लिप्सन ने रूस की बोल्शेविक क्रांति के लिये तात्कालिक प्रमुख कारण 'खाद्य सामग्री की कमी तथा जन असंतोष बताया है।' यह सत्य भी है 7 मार्च, 1917 को भूखे-प्यासे, सर्दी से कांपते, असहाय मजदूरों ने पेट्रोग्राड की सड़कों पर एक विशाल जुलूस निकाला। दुकानों में रोटियों के ढेर थे परन्तु उन्हें खरीदने के लिये मजदूरों के पास धन नहीं था। जनता ने इन्हें लूट लिया, इसे देखकर जार निकोलस ने समस्या को बुद्धिमतापूर्वक सुलझाने के बजाये जनता पर गोली चलाने के आदेश दे दिये। इससे जनता और अधिक उत्तेजित हो गई। रूसी सैनिकों ने भी जनता की दुर्दशा को देखकर गोली चलाने से मना कर दिया तथा वह भी जनता के साथ मिल गये। सैनिक भी जारों की निरंकुशता, अयोग्यता, सैनिक सामग्री व सैनिकों को वेतन के अभाव से परिचित थे। अपना सब कुछ दाँव पर लगा देने के बाद भी वह भूखे और असुरक्षित थे। जैसे-जैसे जनक्रांति उग्र होती गई निकोलस का व्यवहार भी निर्दयी और निरंकुश होता गया, उसने बारम्बार ड्यूमाओं (संसद) को भंग करके इसका परिचय दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि संसद में होने वाला संघर्ष भी सड़कों पर होने लगा। इस प्रकार जनता के आर्थिक कष्टों ने फ्रांस की क्रांति के समान रूसी क्रांति का विस्फोट किया और जारों की निरंकुशता, अदूरदर्शिता ने क्रांति को उग्र और व्यापक बनने का अवसर प्रदान किया।

प्रश्न–4. 1917 की रूस की क्रांति के परिणाम एवं प्रभावों का वर्णन कीजिये।

अथवा

सन् 1917 की रूसी क्रांति के कारणों तथा परिणामों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– *नोट– रूसी क्रांति के कारणों हेतु पिछले प्रश्न का उत्तर देखिये।*

बोल्शेविक क्रांति के प्रभाव– रूस में प्रथम क्रांति मई, 1917 में हुई और प्रिंस ल्वोव ने अस्थायी सरकार बनाई परन्तु वह असफल हुई तथा रूसी जनता ने इसके खिलाफ संघर्ष जारी रखा केरेन्स्की भी अपनी सरकार को बचा नहीं सका। इसी समय बोल्शेविकों को अवसर मिला तथा उन्होंने पुनः द्वितीय क्रांति कर सत्ता पर अधिकार कर लिया। सत्ता पर अधिकार करके उन्होंने रूस में अनेक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन किये। इनका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव पड़ा।

(अ) राजनीतिक प्रभाव– सर्वप्रथम राजनीतिक राष्ट्रीय प्रभाव तो यह पड़ा कि किसानों, मजदूरों और सैनिकों की लोकप्रिय सरकार स्थापित हुई। बोल्शेविकों ने जो संविधान बनाया उसमें जार समर्थकों, राजतंत्रवादियों तथा पुराने कर्मचारियों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया तथा केवल श्रमिकों, किसानों और सैनिकों की अधिनायकवादी सरकार स्थापित कर दी गई।

1. केन्द्रीय शासन– इस संविधान में यह सिद्धान्त अपनाया गया कि समस्त सत्ता पर ग्रामों, नगरों, जिलों और उद्योगों की सोवियतों का अधिकार हो। इस प्रकार कुलीन तंत्र और जमींदारों के राजनीतिक प्रभुत्व को समाप्त कर दिया गया। सर्वोच्च अखिल रूसी सोवियत संस्था में स्थानीय सोवियतों के प्रतिनिधि थे। रूस में एक प्रशासक संस्था थी जो कानून बनाती थी तथा तीसरी संस्था प्रेसीडियम थी जो सर्वोच्च सोवियत के अवकाश काल में कार्य करती थी।

2. गृहकलह– बोल्शेविक क्रांति के कारण अनेक पूंजीपति, सम्पत्तिधारी साम्यवाद विरोधी, पादरी, मेन्शेविक आदि सभी बोल्शेविकों के विरुद्ध कार्य करने लगे। अतः बोल्शेविकों ने इनके खिलाफ 1917 से 1920 तक भयंकर संघर्ष किया। आरम्भ में बोल्शेविक क्रांति जितनी अधिक रक्तहीन थी अब पूरी तरह से रक्तपूर्ण हो गई। बोल्शेविकों ने उपरोक्त सभी विरोधियों का दमन करना आरम्भ कर दिया। जुलाई, 1918 में जार निकोलस की हत्या कर दी गई। क्रांतिकारी न्यायालय के द्वारा क्रांति विरोधियों को पराजित कर दिया गया।

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रभाव– यूरोपीय देश इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका आदि को यह भय लगने लगा कि रूसी क्रांति शीघ्र ही यूरोपीय पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिये सक्रिय हो जायेगी। रूस ने जर्मनी से संधि करके युद्ध बंद कर दिया था इससे मित्र देश नाराज हुये, क्योंकि इस संधि से जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चिंत होकर दक्षिणी मोर्चे पर अधिक सक्रिय हो गया। मित्र देशों की रूस से नाराजी का कारण यह भी था कि वे एक पूर्वी मोर्चा बनाना चाहते थे और रूस उसमें शामिल नहीं हो रहा था। अतः मित्र देश साम्यवाद विरोधी देशों को और रूस में साम्यवाद विरोधियों को मदद देने में लगे थे।

(ब) उद्योग और आर्थिक प्रभाव– साम्यवादी संविधान में इस सिद्धान्त को अपनाया गया था कि समस्त सत्ता पर कृषकों एवं श्रमिकों तथा सैनिकों का अधिकार हो। इसके अतिरिक्त सभी पूंजीवादियों, राजतंत्रवादियों एवं गैर साम्यवादियों को सत्ता से मताधिकार और समस्त अधिकारों एवं सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया था। इसका प्रभाव रूस पर आर्थिक रूप में भी पड़ा। लेनिन ने क्रांति के बाद मार्क्सवाद के अनुसार रूस में आर्थिक व्यवस्था का पुनर्संगठन किया। देश में गृहयुद्ध, बाहरी आक्रमण और जारों के दमन के कारण रूस के कारखाने, कृषि, व्यापार, यातायात, बैंक आदि की दशा बहुत खराब थी। देश में अकाल और संघर्षों में 50 लाख रूसी मारे जा चुके थे। अतः आशंका थी कि शीघ्र ही इस दशा में सुधार नहीं हुआ तो पुनः साम्यवादियों के खिलाफ भी क्रांति हो जायेगी।

1. प्रथम असफल प्रयास– 1917 में लेनिन ने प्रत्येक बड़े उद्योग में श्रमिकों की सोवियत का निर्माण करवाया तथा उसकी कार्यकारिणी में केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि व्यवस्थापक के रूप में भेजा। परन्तु शीघ्र ही इन उद्योगों को और इनकी सम्पत्ति को राज्य के उद्योग और सम्पत्ति घोषित कर दिया गया। बाद में छोटे कारखानों के साथ भी यही नीति अपनाई गई। उद्योगों का विभाजन विशाल, मध्यम और लघु में किया गया। सरकार ने 1920 के आदेश के अनुसार तीन प्रकार के कारखाने अपने अधिकार में लिये– 1. विशाल उद्योग, 2. पाँच से अधिक मजदूरों वाले तथा यांत्रिकी शक्ति का प्रयोग करने वाले

उद्योग, 3. दस श्रमिकों वाले परन्तु यांत्रिकी का प्रयोग न करने वाले उद्योग। इस प्रकार उत्पादन एवं वितरण पर सरकार का नियंत्रण हो गया।

2. **नवीन व्यवस्था**– क्रांतिकारी व्यवस्था के तहत रूस में उत्पादन और कृषि का उत्पादन 1913 की तुलना में 1920 में केवल 13 प्रतिशत रह गया। एक बार देश में पुनः अराजकता, भुखमरी की स्थिति निर्मित हो गई। लेनिन को 1921 में साम्यवादी पार्टी के अधिवेशन में यह स्पष्ट कहना पड़ा कि, 'हम ऐसी दरिद्रता तथा ऐसे विनाश की अवस्था में पहुंच गये हैं कि हमें उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रत्येक आदर्श या सिद्धान्त की चर्चा को बिल्कुल अलग करके उत्पादन बढ़ाना चाहिये।' इसके लिये उसने साम्यवाद से पूंजीवाद की ओर जाने में भी संकोच नहीं किया। जनता और साम्यवादी दोनों ही इस अवस्था के कारणों को भलीभांति जानते थे। लेनिन ने भी 1921 के परिवर्तन को साम्यवाद से पलायन की अपेक्षा साम्यवाद की तैयारी के लिये पूरी शक्ति से आगे बढ़ना बताया। जैसे तेज दौड़ने के पूर्व पीछे हट्ा जाता है।

3. **विनिमय और लाभ**– देश में विदेशी पूंजी के अभाव को दूर करने के लिये विदेशी पूंजी को आकर्षित किया गया। कच्चा माल मुफ्त में देना बन्द कर दिया। देश में क्रय–विक्रय, मुद्रा का प्रयोग, बैंकों की स्थापना, उपभोग वस्तुओं को मुफ्त में देना बन्द करना आदि कार्य किये गये। श्रम की अनिवार्यता भी समाप्त हो गई। आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् शेष बची वस्तुओं को लेना बन्द कर दिया गया तथा इस पर उत्पादक का स्वामित्व स्वीकार किया गया तथा उन्हें बाजार में बेचने का एवं लाभ प्राप्त करने का अधिकार उत्पादक को दिया गया। देश में खुले व्यापार की प्रथा पुनः आरम्भ कर दी गई।

4. **लघु उद्योग**– औद्योगिक क्षेत्र में छोटे और निजी उद्योगों को, उत्पादन के लिये वस्तुओं का चुनाव, उसके क्रय–विक्रय, कच्चा माल, मशीनें आदि अब उत्पादक को स्वयं एकत्रित करना पड़ती थीं तथा उन्हें बाजार से क्रय करना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि निजी उद्योग, निजी लाभ की प्रेरणा ने रूस के हर प्रकार के उत्पादन में वृद्धि कर दी। यद्यपि आर्थिक व्यवस्था पर सरकारी नियंत्रण बना रहा।

(स) कृषि पर आर्थिक प्रभाव– वोल्शेविक क्रांति के पश्चात् रूस में कृषि व्यवस्था भी की गई। सर्वप्रथम तो जमींदारों तथा चर्च से जिस भूमि को छीना गया था उसमें से अधिकांश पर किसान पहले से ही लगान पर खेती करता था। अतः उस पर किसान का अधिकार मान्य कर लिया गया। परन्तु सरकार ने उस भूमि को अपने अधिकार में रखा जिस पर जमींदार अपने लिये खेती करते थे अथवा लगान पर किसान को नहीं देते थे। इससे किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।

1. **विनाशकारी कृषि नीति**– किसानों की जनसंख्या में वृद्धि, किसानों में भूमि का बंटवारा, खेतों का छोटे–छोटे भागों में बंटना। गृहयुद्ध के कारण सेना और सरकार उनसे शेष बचा अनाज छीन लेते थे। अतः उन्होंने उत्पादन कम कर दिया फिर कृषि की साम्यवादी व्यवस्था जिसमें बीज, साधन, आवास आदि सरकार देने लगी तथा आवश्यकता के अतिरिक्त अनाज सरकार लेने लगी। इससे निजी श्रम के निजी लाभ से किसान वंचित हो गये। इस कारण खाद्यान्नों के उत्पादन के गिरने का सिलसिला रुका नहीं। किसान, मजदूर, सैनिक, व्यापारी आदि भूखों मरने लगे।

2. **नवीन कृषि नीति**– लेनिन ने कृषिक्षेत्र में भी शीघ्र ही पूंजीवादी व्यवस्था आरम्भ की। अब पुनः आवश्यकता से अधिक अन्न को लेने के बजाये लगान लेना आरम्भ कर दिया। अब किसान अपनी बची हुई फसल को बाजार में बेचने लगा तथा अपनी आवश्यकता की चीजें

बाजार से खरीदने लगा। उसे अपने पास धन और अल्प मात्रा में सम्पत्ति रखने का अधिकार मिल गया। कृषि–सामग्री का खेरीज और थोक विक्रय और क्रय बाजार में होने लगा। परन्तु विदेशी खाद्यान्न के आयात पर सरकार ने नियंत्रण रखा। इस व्यवस्था के कारण कृषि–उत्पादन बढ़ने लगा।

3. **किसानों और नाविकों का विद्रोह**– वोल्शेविकों की आर्थिक नीतियों की असफलता और पूंजीवादी व्यवस्था के आंशिक कार्यान्वयन से देश में उत्पादन बढ़ा जिससे 1920–21 में किसानों ने अनेक स्थानों पर विद्रोह कर दिया। असन्तोष इतना अधिक व्यापक था कि लॉन स्टाट में स्थित सोवियत बेड़े के क्रांति समर्थक नाविकों ने भी क्रांति के प्रति विद्रोह कर दिया तथा नया संविधान एवं पुनः मुक्त व्यापार को अपनाने की माँग की।

(द) **सामाजिक प्रभाव**– विदेशी व्यापार, बैंक, वन, रेल्वे तथा विशाल कारखाने अभी भी सरकार के हाथों में थे। इससे देश में पूंजीवादी व्यवस्था आंशिक रूप में स्थापित तो हुई, परन्तु देश का अर्थतंत्र पूंजीपतियों के हाथ में नहीं गया। क्रांति के कारण वर्ग भावना और पूंजीपतियों के खिलाफ एक ऐसी चेतना उत्पन्न हो चुकी थी कि पूंजीपति और जमींदार सिर नहीं उठा सकें तथा किसान और श्रमिक उनके शोषण से और दमन से बच गये।

क्रांति के परिणामस्वरूप श्रमिकों, किसानों और सैनिकों का महत्व बढ़ा तथा आर्थिक व्यवस्था में उन्हें जहाँ एक ओर महत्वपूर्ण साधन माना गया वहीं दूसरी ओर उनका कल्याण भी राज्य का लक्ष्य निर्धारित किया गया अतः तीनों वर्गों के अतिरिक्त किसी को भी मताधिकार नहीं दिया गया। विश्व में पहली बार और रूस में सर्वप्रथम सर्वहारा वर्ग की साम्यवादी सरकार स्थापित हुई। शिक्षा संस्थानों में सर्वहारा वर्ग के बच्चों को मुफ्त शिक्षा, साम्यवादी विचारों का प्रचार–प्रसार, साहित्य, समाचार पत्र आदि की व्यवस्था की गई। साम्यवादी सरकार का यह प्रयत्न सर्वथा बना रहा कि पूंजीवादी शिक्षा, धार्मिक शिक्षा बन्द कर दी जाये।

निष्कर्ष– वोल्शेविक क्रांति विश्व के लिये एक आश्चर्यकारी घटना थी। विश्व में राजाओं के उत्थान और पतन तो होते रहे हैं परन्तु फ्रेंच क्रांति ने जैसे विश्व को स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के आदर्श प्रदान किये वैसे ही रूसी क्रांति ने साम्यवाद की विचारधारा तथा नवीन राजनीतिक, आर्थिक और समाज रचना की सर्वथा नवीन अवधारणा दी।

प्रश्न–5. पेरिस शान्ति सम्मेलन एवं वर्साय संधि के सन्दर्भ में विल्सन के चौदह सूत्रों (सिद्धान्तों) की विवेचना कीजिये।

अथवा

वर्साय संधि के सन्दर्भ में विल्सन के सूत्रों (सिद्धान्तों) की विवेचना कीजिये।

अथवा

'यह शांति–संधि नहीं, यह बीस वर्षों के लिये एक विराम संधि है।' मार्शल फाश के इन शब्दों की विल्सन के सूत्रों के सन्दर्भ में व्याख्या करिये।

उत्तर– प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व अनेक युद्ध हुये और सर्वाधिक दीर्घकालिक (30 एवं 100 वर्षीय) युद्ध भी हुये। परन्तु इतना अधिक विविध कोणीय विध्वंसक युद्ध नहीं हुआ जितना प्रथम विश्व युद्ध था। इसकी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विनाश लीला का आज तक सही–सही अनुमान लगाना कठिन है। और जैसा कि प्रत्येक यूरोपीय युद्ध के बाद होता आया है संधियाँ और व्यवस्थायें सम्पन्न हुईं तथा उनमें से असफलताओं के होते हुये भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अनुशासन की आकांक्षायें प्रगट हुईं। इन्हीं से प्रेरणा पाकर, इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा अमेरिका ने, विश्व को महाविनाश से बचाने के लिये पेरिस सम्मेलन या वर्साय संधि पर युद्ध काल में ही विचार आरम्भ कर दिया; इंग्लैण्ड और अमेरिकी राष्ट्रपति थेप्ट ने तो कुछ

योजनायें भी बना ली थीं। परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण योजना विल्सन के 14 सूत्रों की थी। साथ ही उसमें प्रबल इच्छाशक्ति भी थी। इस वर्साय संधि और विल्सन के सूत्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पेरिस सम्मेलन– पेरिस का शाँन्ति सम्मेलन 18 जनवरी 1919 को आरम्भ हुआ। यहां 27 देशों के 70 प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया परन्तु इसमें पराजित देशों को आमंत्रित नहीं किया। फ्रांस के राष्ट्रपति ने सम्मेलन के अध्यक्ष पद से प्रस्तावना भाषण में न्याय और आत्म–निर्णय के सिद्धान्त तथा राष्ट्र संघ की स्थापना पर जोर दिया। इसमें सर्वप्रथम महत्वपूर्ण और आदर्शवादी राजनीतिज्ञ अमेरिका का बुडरो विल्सन था। जो वास्तव में स्थाई शक्ति चाहता था और उसने विश्व मानवता, विश्व–नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय पर आधारित 14 सूत्रों का प्रतिपादन किया। द्वितीय महत्वपूर्ण व्यक्ति अवसरवादी, सिद्धान्तहीन व्यक्ति इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री लायड जॉर्ज था जो आम चुनाव में जर्मनी से प्रतिशोध लेने की भावना के आधार पर जीता था। पेरिस सम्मेलन में वह जर्मनी का घोर शत्रु तथा बाहर जर्मनी के प्रति सहानुभूति रखने वाला था जिससे वह उसके अधिक से अधिक जर्मन उपनिवेश हड़प सके। फिर भी यह कुशाग्र बुद्धि था। पेरिस सम्मेलन पूर्वाग्रह से ग्रस्त, प्रतिशोध भावना की अन्तिम सीमा पर पहुँचा हुआ, व्यवहार में अत्यन्त कठोर, अभद्र "बूढाशेर" था। प्रतिशोध भावना ने उसे लगभग पशु–तुल्य बना दिया था। ऑरलैण्डों केवल इटली के स्वार्थों के प्रति ही जागरूक था तथा वह अपनी शर्तें (फ्यूम पर अधिकार) यूरोप के द्वारा मानने पर सब कुछ करने को तैयार था।

आधार की खोज– विभिन्न प्रवृत्ति, स्वार्थों, प्रतिशोध तथा उदार तत्वों के पेरिस में एकत्रीकरण को "शाँन्ति सम्मेलन" कहना क्या उचित होगा? इसी के अन्तर्गत वर्साय संधि के साथ जो चार अन्य संधियां सम्पन्न हुईं उनका अध्ययन कर कुछ विद्वानों का मत है कि यह "प्रतिशोध सम्मेलन" है। इनसे ऊपर उठकर पेरिस सम्मेलन की आरम्भिक दशा पर ध्यान दिया जाय तो लगता है कि पेरिस सम्मेलन का उद्देश्य "उस आधार को खोजना था जिस पर शाँन्ति संधियां सम्पन्न हो सके।" विल्सन एवं जर्मन राजनीतिज्ञों का विचार था कि संधि का आधार विल्सन के 14 सूत्र (मानवीय और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय) होना चाहिये। जबकि इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली आदि का कहना था कि सन्धियों का आधार "युद्ध काल में इच्छा अथवा अनिच्छा से हुई संधियाँ होना चाहिये।" परन्तु जर्मन विद्वानों ने तो विल्सन के 14 सूत्रों के आधार पर ही युद्ध विराम पर 11 नवम्बर 1918 को जर्मनी ने हस्ताक्षर कर दिये।

विल्सन के सूत्र– अमेरिका विवश होकर युद्ध में कूद पड़ा था परन्तु विल्सन ने बारम्बार अपने भाषणों में युद्ध के पश्चात् न्याय और स्थाई शाँन्ति की व्यवस्था का निर्माण करने को कहा था जिसका मूल आधार सर्वसाधारण की निष्पक्ष इच्छा हो। किसी देश की सीमाओं में परिवर्तन यदि किया जाये तो सम्बन्धित देश की प्रजा की आकांक्षाओं के अनुसार किया जाये। विल्सन ने कहा– "हम चाहते हैं विश्व में विधि का शासन हो और उस शासन का आधार शासितों की स्वेच्छा हो तथा शासन समस्त विश्व के मानव समाज की इच्छाओं और आकांक्षाओं का दर्पण हो।" हम प्रत्येक देश और राष्ट्र के साथ ऐसा न्याय करना चाहते हैं जिसमें किसी को पक्षपात् या भेदभाव की शिकायत न हो। इसके पश्चात् उसने 8 जनवरी 1918 को सर्वप्रथम 14 सूत्रों का प्रतिपादन किया बाद में 11 फरवरी 1918 को चार सिद्धान्तों वाली घोषणा की फिर 4 जुलाई 1918 को चार परिणामों वाली प्रसिद्ध घोषणा की। 27 सितम्बर 1918 को पांच विवरण या स्पष्टीकरण दिये। इन तीनों का मूल आधार

14 सूत्र ही थे। जर्मनी को इन्हीं सूत्रों और 27 सितम्बर 1918 के वक्तव्य के आधार पर संधि की शर्तें रखने का आश्वासन दिया गया था। ये सूत्र निम्नलिखित थे–

1. गुप्त कूटनीति का परित्याग किया जाये तथा संधियां खुले रूप में की जायें। पूर्वसंधियों को स्पष्ट कर दिया जाये या समाप्त कर दिया जाये।
2. सभी समुद्रतटीय भागों को छोड़कर युद्ध अथवा शाँन्तिकाल में समुद्र में सभी जहाजों को आने–जाने की स्वतंत्रता हो।
3. आपसी व्यापार में चुंगियां यथा शक्ति कम की जायें।
4. आत्म–रक्षा के लिये आवश्यक मात्रा में ही अस्त्र–शस्त्र रखें जायें।
5. औपनिवेशिक प्रदेशों की शक्तियों के हितों का ध्यान रखते समय औपनिवेशिक जनता के हित और दावों का निष्पक्ष निर्णय करना।
6. रूस से सेनाओं को हटाया जाये और उसे स्वतंत्र माना जाये।
7. वेल्जियम को खाली कर स्वतंत्र माना जाये।
8. फ्रांस के सभी प्रदेशों को मुक्त कर दिया जाये (अल्सास लॉरेन भी)
9. इटली की राष्ट्रीयता के अनुसार उसका सीमा निर्धारण किया जाये।
10. आस्ट्रिया–हंगरी को विकास करने के साधन दिये जायें।
11. रोमानिया, सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो को खाली कर दिया जाये और सर्बिया को समुद्र तक जाने का गलियारा दिया जाये।
12. तुर्की साम्राज्य में रहने वाली अन्य जातियों को अपनी सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन दिया जाये। और डार्डेनलीज का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाये।
13. पोलैंड की सीमाओं का पुनः निर्धारण हो तथा जिन प्रदेशों में पोल बसे हैं वे पोलेंड के अन्तर्गत हों तथा उसकी राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता को स्वीकार किया जाये। उसे समुद्र तक जाने का मार्ग भी दिया जाये।
14. राष्ट्र संघ की स्थापना हो तथा उसमें सभी छोटे–छोटे राष्ट्रों को स्थान दिया जाये। जो शाँन्ति स्थापना के साथ सभी राष्ट्रों की राजनीतिक स्वाधीनता तथा प्रादेशिक अखण्डता को स्वीकार किया जाये।

14 सूत्रों का पालन और उल्लंघन– विल्सन के सूत्रों के आधार पर स्थाई शाँन्ति हो सकती थी या नहीं? उनका पालन किया गया या नहीं? वे सफल रहे या नहीं? यह प्रश्न आज भी बने हुये हैं तथा राजनीतिज्ञ आज भी इन पर विवाद करते हैं।

पूर्णतः पालन नहीं हुआ– मार्शल फाश ने वर्साय संधि की यह कहकर आलोचना की थी कि "यह शाँन्ति नहीं यह 20 वर्षों के लिये एक विराम संधि थी। इसका प्रमुख कारण यही था कि उसमें विल्सन के सूत्रों का पालन नहीं किया गया। बल्कि जर्मनी से सूत्रों के विपरीत तलवार के आधार पर हस्ताक्षर करवाये थे।" यही व्यवहार सभी पराजित राष्ट्रों के साथ भी किया गया। इनकी आलोचना के निम्न बिन्दु हैं–

1. प्रथम सूत्र का उल्लंघन तब हुआ जब विजेता देशों की वार्ता गुप्त थी, उसमें जर्मन प्रतिनिधियों को सुनने के लिये भी नहीं बुलाया। संधि के बाद भी गोपनीय संधियां बनी रहीं।
2. समुद्र की स्वतंत्रता को किसी देश ने नहीं माना अतः दूसरी शर्त नहीं मानी गई।
3. चुंगियों को कम नहीं करने से तीसरी शर्त भी टूट गई। कुछ जल मार्गों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण अवश्य हो गया।

4. पराजित देशों के निशस्त्रीकरण करवाये गये परन्तु विक्रेता देशों ने प्रयास के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। अतः चौथी शर्त भी अपालित रही।
5. उपनिवेशों में राष्ट्र संघीय संरक्षण विधि के अन्तर्गत रही परन्तु फिर भी वहां उपनिवेशों का ध्यान नही रखा गया विशेषकर एशिया में और अफ्रीका में।
6. रूस से जर्मन सेना तो हटा दी गई परन्तु मित्र राष्ट्रों ने उस पर संयुक्त आक्रमण कर दिया। अतः छठवीं शर्त का पालन नहीं हुआ।
7. बेल्जियम को स्वतंत्र कर दिया।
8. अल्सेस–लॉरेन फ्रांस को लौटा दिये।
9. इटली की सीमा पूर्णतः राष्ट्रीयता के आधार पर निर्धारित नहीं हुई। क्योंकि इसमें आस्ट्रियन और अन्य कुछ जातियां भी रहती थीं।
10. आस्ट्रिया को विकास के साधन दिये परन्तु अल्प संख्यकों के हितों का ध्यान नहीं रखा गया।
11. रुमानिया, सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो को स्वतंत्रा दी परन्तु समुद्र तट नहीं दिया।
12. तुर्की ने 12वें सूत्र के अनुसार अन्य ईसाई जनता की सुरक्षा नहीं की।
13. पोलैंड की शर्तों का पालन हुआ।
14. राष्ट्र संघ की स्थापना कर दी गई।

इस प्रकार सूत्र क्रमांक 7, 8, 11, 12, 13, 14 का पूर्ण पालन और सूत्र क्रमांक 3, 4, 5, 6, 9, 10 का आंशिक पालन हुआ। सूत्र क्रमांक 1, 2 का कहीं भी पालन नहीं हुआ। अतः इस मत के प्रतिपादक तो यह कहते थे कि विल्सन के सूत्रों का पालन नहीं हुआ इसी कारण वर्साय संधि भी एक विराम संधि थी।

सूत्रों का पालन किया गया– मित्र राष्ट्रों का यह विचार था कि विल्सन के 14 सूत्रों की प्रत्येक शर्त का पालन किया गया था। हार्डी इनमें प्रमुख है। विल्सन ने साइलेशिया, पोलैण्ड, फिनलेंड, चेकोस्लवाकिया, यूगोस्लाविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया तथा लिटविया में सूत्रों का पालन किया गया तथा इन्हें स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। इस व्याख्या में जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी में सूत्रों के पालन के भी तर्क दिये गये। विरोधी तो 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 2, 13 और 14 के सम्बन्ध में माना है कि इनमें से छह का पूर्ण और शेष का पालन किया गया। इस पक्ष के राजनीतिज्ञों का यह भी कथन था कि सम्पूर्ण सूत्रों का एक ही देश में पालन भले ही न हुआ हो परन्तु प्रत्येक का पालन कहीं न कहीं अवश्य हुआ था।

निष्कर्ष– दोनों पक्षों के तर्कों का अध्ययन करने के पश्चात् जर्मन विद्वानों का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं लगता कि विल्सन सूत्रों का पालन नहीं हुआ। तथा वर्साय का समझौता विल्सन के आदर्शवाद के भेष में साम्राज्यवादी समझौते को छिपाने का दोषी है एवं सूत्र पूर्णरूप से विकृत हो चुके थे।

मित्र राज्यों का भी यह कथन सत्य के विपरीत है कि सूत्रों का पूर्ण पालन किया गया। जब वे अनेक छोटे राज्यों को स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता आदि देने का और छोटे तथा पराजित राष्ट्रों के निशस्त्रीकरण के तर्क देते हैं तो उनके साथ असमान व्यवहार, गुप्तवार्तायें, समुद्र पर आवागमन की सभी को सुविधा, स्वयं के निशस्त्रीकरण आदि की चर्चा ही नहीं करते उस लूट की ओर संकेत भी नहीं करते जो उन्होंने की।

कुछ उत्तरदायित्व बुडरो विल्सन पर भी था क्योंकि वह स्वयं सिद्धान्तों में परिवर्तन के लिये तैयार हो गया। यदि विल्सन युद्ध से थके हुये बड़े देशों के साथ सख्ती करने का प्रयत्न करता तो सफलता मिलती परन्तु इसमें उसकी विवशता पर भी ध्यान देना होगा। अमेरिका

का जनमत पुनः युद्ध के लिये तैयार नहीं था। और यदि वह अधिक दबाव डालता तो ओरलैण्डो के समान उसे भी लौटना पड़ता। यह इस बात से भी स्पष्ट था कि अमेरिकी सीनेट ने विल्सन को राष्ट्र संघ का सदस्य बनने की अनुमति नहीं दी।

इन सबसे अलग बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि दोनों पक्षों ने सूत्रों का लाभ उठाने का राजनीतिक प्रयत्न किया। जर्मनी की युद्ध में दशा अत्यन्त जर्जर हो चुकी थी अतः उसने विल्सन के सूत्रों को तत्काल मानकर युद्ध विराम का अवसर प्राप्त कर लिया। दूसरी ओर मित्र देशों ने जर्मनी को विल्सन के सूत्रों को वर्साय संधि का आधार बनाने का आश्वासन देकर राजनीतिक विश्वासघात् किया। क्लोमेन्शो ने कहा था कि– "अब हमें बदला लेने का अवसर मिल गया है।" अथवा मित्र राष्ट्रों (इंग्लैण्ड) को यह कहा कि हम कैसर को फांसी दे देंगे तथा जर्मनी से युद्ध का पूरा हर्जाना वसूल करेंगे। अतः स्पष्ट है कि मित्र राज्यों ने सूत्रों का उपयोग अपनी हिंसक अथवा प्रतिशोध पूर्ण प्रवृत्ति को ढँकने के लिये किया। यदि सभी पक्ष मन से सूत्रों का पालन करते तो 14 सूत्र, राष्ट्र संघ और वर्साय संधि पूर्ण सफल होते। इन्हीं कारणों के कारण मार्शल फाश के अनुसार वर्साय संधि एक शांति संधि नहीं 20 वर्षों के लिये युद्ध विराम संधि सिद्ध हुई।

प्रश्न–6. पेरिस शान्ति सम्मेलन की उपलब्धियों का संक्षेप में मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

पेरिस शान्ति सम्मेलन में निर्णीत अन्य संधियों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– पेरिस शान्ति सम्मेलन और सन्धियां– जर्मनी के अतिरिक्त अन्य परास्त राज्यों के साथ सन्धि करने का निश्चय हुआ। इन सन्धियों की रूपरेखा का आधार वर्साय सन्धि की धारायें ही थीं। उनमें बहुत ही थोड़ा परिवर्तन किया गया था। फ्राँस, इंग्लैण्ड, इटली तथा अमेरिका ने सन्धि कार्य को सम्पन्न करने के लिये एक आयोग का निर्माण किया।

(1) **न्यूली की सन्धि–** यह सन्धि 27 नवम्बर, 1919 को न्यूली नामक स्थान पर सम्पन्न हुई। इस सन्धि के अनुसार बल्गेरिया को युद्ध काल में जीते हुये प्रदेशों को मित्र राष्ट्रों को वापिस करना पड़ा। पश्चिमी थेंस यूनान को, बादूजा रूमानिया को तथा मैसीडोनिया का अधिकांश भाग यूगोस्लाविया को प्रदान किया गया। इससे बल्गेरिया का अधिकांश भू–भाग उसके क्षेत्र से निकल गया और सीमा काफी घट गई। युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में उसे काफी धनराशि भी देनी पड़ी। उसकी सेना भी घटा दी गई तथा नौसेना को समाप्त कर दिया गया। उसे मछली पकड़ने तथा पुलिस दृष्टिकोण से प्रयोग करने के लिये टारपीडो नौकाओं तथा छह मोटर नौकाओं की अनुमति दी गई। उसे पेंतालीस करोड़ रु. क्षति पूर्ति के रूप में जुर्माना मित्र राष्ट्रों को देना था।

(2) **सेन्टर्मेन की सन्धि–** यह सन्धि आस्ट्रिया तथा मित्र–राष्ट्रों में 10 सितम्बर, 1919 को की गई थी। इसके अनुसार–

1. आस्ट्रिया एवं हंगरी का राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया।
2. युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व इस साम्राज्य की अनेक जातियों में राष्ट्रीय भावना परिपक्वावस्था में पहुँच गई थी। इन जातियों को स्वतंत्रता प्रदान करके चेकोस्लोवाकिया स्वतंत्र राज्य मान लिया गया था।
3. साईलेशिया, बोहेमिया, मोराविया तथा आस्ट्रिया का निम्न प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को दिया गया था।
4. डायमेशिया के तटवर्ती द्वीप एवं कार्निवाल यूगोस्लाविया एवं पोलैण्ड को दिये गये।

5. इटली को ट्रीस्ट, क्रेन्तिनों, दक्षिणी टाइरोल तथा डालमीशियन तटवर्ती दो द्वीप प्रदान किये गये। आस्ट्रिया का बहुत-सा भू-भाग उसके हाथ से निकल गया, अतः आस्ट्रिया अब एक छोटा-सा राज्य रह गया था।
6. आस्ट्रिया की जल सेना उससे छीन ली गई। डेन्यूब नदी को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये खोल दिया। उसकी सेना की संख्या 30,000 निश्चित कर दी गई।
7. आस्ट्रिया को बलात् युद्ध के लिये उत्तरदायी बनाया गया, अतः क्षतिपूर्ति के रूप में उसको एक विशाल धनराशि राष्ट्रों को देना पड़ी।
8. आस्ट्रिया की राष्ट्रीय कला की निधियां 30 साल के लिये छीन ली गईं।

(3) **त्रियानों की सन्धि–** शान्ति की यह सन्धि जर्मनी के मित्र हंगरी तथा मित्र राष्ट्रों के मध्य ग्रेण्ड त्रियानों राजमहल में 4 जून, 1920 ई. को सम्पन्न हुई थी।

इस सन्धि के अनुसार यूगोस्लाविया को बोसनिया, हर्जेगोविना, स्लोवानिया, क्रोशिया तथा चेकोस्लोवाकिया का प्रदेश मिला। ट्रांसलवेनिया तथा कुछ अन्य प्रदेश रूमानिया को मिले। आस्ट्रिया को हंगरी का पश्चिमी हिस्सा बोर्जनलैण्ड प्राप्त हुआ। हंगरी के समुद्री मार्ग फ्यूम के भाग्य का निर्णय इटली तथा यूगोस्लाविया के समझौते पर छोड़ दिया।

हंगरी को भी अन्य राज्यों की भाँति युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहराया गया। उसे भी क्षतिपूर्ति के रूप में काफी धनराशि मित्र राष्ट्रों को देनी पड़ी। उसे कोरे चैक पर हस्ताक्षर करने पड़े। उसकी जल सेना काफी कम कर दी गई। सन्धि के फलस्वरूप हंगरी एक अत्यन्त छोटा-सा राज्य रह गया। त्रियानों की सन्धि के अनुसार तीस लाख के लगभग हंगेरियन लोग अन्य राज्यों की प्रजा बनने के लिये विवश किये गये।

(4) **सेव्र की सन्धि–** इसके अनुसार 10 अगस्त, 1920 को तुर्की ने अपने समस्त अधिकार मिस्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलिटेनिया, मोरक्को व ट्यूनिशिया में त्याग दिये। इस्मनाथ्रेस तथा इगियन सागर में स्थित द्वीप समूह यूनान को दिये गये। आर्मीनिया, मेसोपोटामिया, फिलीस्तीन इत्यादि प्रदेश तुर्की के हाथ से निकल गये थे। इटली को अडेलवा, रहोडस तथा डेडकनीज के प्रदेश मिले। इस सन्धि से तुर्की साम्राज्य भी काफी छोटा हो गया। उस पर अनेक सैनिक प्रतिबन्ध लगाये गये।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व शान्ति बनाये रखने के लिये कुछ देशों ने आपस में शान्ति सन्धियां तथा समझौते किये परन्तु वे समझौते कुछ समय तक ही रह पाये। इन सौतों में जो कमियां रहीं, वह निम्नलिखित हैं–

1. समझौते में सबसे पहली कमी यह थी कि ऐसी कोई स्पष्ट व्यवस्था या शक्ति इसके पीछे नहीं थी जो कि समझौते का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध शक्तिशाली ढंग से कार्यवाही करके उसे दण्डित कर सकती।
2. इन समझौतों की दूसरी प्रमुख कमी की ओर दृष्टि सीधे रूप में जाती है। इस समझौते को स्वीकार करते समय ब्रिटेन जैसे राष्ट्रों तथा कुछ अन्य राज्यों ने अपने हितों को प्रमुखता देते हुये इसे सशर्त स्वीकार किया। इससे समझौते की व्यापकता और प्रकृति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।
3. इस समझौते का प्रस्तावक फ्राँस स्वयं अपनी सुरक्षा के प्रति तो हमेशा ही ज्यादा चिन्तित रहा परन्तु अन्य राष्ट्रों के हितों को न समझ सका।
4. समझौते की महत्वपूर्ण कमी की ओर ध्यान खींचते हुये लैंगसम नामक विचारक ने बड़े ही साफ और स्पष्ट शब्दों में कहा कि "यह समझौता युद्ध को तो अवैध बनाता

है, लेकिन दूसरी ओर आत्मरक्षा के नाम युद्ध की इजाजत भी देता है। विश्व का कोई भी राष्ट्र अपने आपको कभी भी आक्रमणकारी कहलाना पसन्द नहीं करेगा।"

निष्कर्ष– इस समझौते में यद्यपि कुछ दोष रह गये थे परन्तु फिर भी समझौते का मूल्यांकन करते समय इस बात को नहीं भूला जा सकता है कि यह समझौता परिस्थितियों के आधार पर और विश्व शान्ति के लिये एक महत्वपूर्ण कदम था।

प्रश्न–7. वर्साय संधि की असफलता के कारण बताइये।

अथवा

'वर्साय संधि मात्र एक विराम संधि सिद्ध हुई।' व्याख्या कीजिये।

अथवा

'वर्साय संधि की असफलताओं ने द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया।' विवेचना कीजिये।

उत्तर– फ्रांस के राष्ट्रपति ने पेरिस सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में कहा था कि न्याय, आत्म निर्णय और राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिये कार्य किये जायेंगे। दूसरी ओर अमेरिकी राष्ट्रपति ने विश्व में युद्ध के पश्चात् स्थाई शांति व्यवस्था के लिये विधि का शासन स्थापित करने, राष्ट्रसंघ की स्थापना करने तथा स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय और नैतिकता का पालन करने का संकल्प अपने 14 सूत्रों में व्यक्त किया। सूत्रों का पालन करने के मित्र राष्ट्रों के जर्मनी को दिये आश्वासन के आधार पर ही जर्मनी ने युद्ध विराम पर हस्ताक्षर किये। परन्तु वर्साय संधि की व्यवस्थायें और शर्तों के प्रकाशित होते ही विशेष कर जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की, बल्गेरिया बहुत असन्तुष्ट हुये। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे देश तथा कुछ बड़े देशों में भी निराशा व्याप्त हो गई।

असफलता– छोटे-बड़े राष्ट्र वर्साय संधि को हृदय से स्वीकार नहीं कर सके तथा उनके असन्तोष और निराशा वर्साय संधि की असफलता के कारण बने। वर्साय संधि की असफलता के लिये निम्न कारण उत्तरदाई थे।

1. **पांच राष्ट्रों की प्रवृत्तियां–** 18 जनवरी 1919 को फ्रांस के राष्ट्रपति के शब्द मिथ्या निकले। युद्ध-विराम के लिये मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को झूठे आश्वासन दिये तथा युद्ध विराम के बाद उनका दृष्टिकोण आश्चर्यजनक ढंग से बदलकर घृणा पूर्ण और प्रतिशोध पूर्ण हो गया। वे समता, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय आदि के आदर्शों को भुला बैठे। स्वयं आदर्शवादी विल्सन भी प्रतिशोधी राष्ट्रों के सम्मुख झुक गये और अपने 14 सूत्रों में संशोधन करने को तैयार हो गये। उनके सूत्रों की भावना को पराजित और जीते हुये देशों के सम्बन्ध में किसी ने नहीं माना। छोटे देशों के सम्बन्ध में ही थोड़ा ध्यान रखा गया। अतः वर्साय संधि से सभी असन्तुष्ट बने रहे।

लायड जॉर्ज की अवसरवादी और जर्मनी के प्रति घृणा और चुम्बन की नीति एवं उसके उपनिवेशों पर ललचाई दृष्टि ने वर्साय संधि के निर्माण में घातक प्रभाव डाला। क्लेमेंशो जो 77 वर्ष का बूढ़ा शेर माना जाता था जिससे गम्भीरता, उदारता और विवेक की अपेक्षा की जा सकती थी परन्तु उसकी जर्मनी के प्रति बदले की आग ने तथा विल्सन के सूत्रों के उसके द्वारा उपहास ने तथा पेरिस सम्मेलन में उसके निरंकुश और कठोर व्यवहार ने सर्वाधिक रूप से वर्साय संधि को प्रभावित किया जिससे वह एक मात्र एक घातक या विराम संधि बनकर रह गई। ऑरलैण्डो (इटली) इतना स्वार्थी निकला जिसने कहा कि वह राष्ट्र संघ या 14 सूत्रों को स्वीकार कर लेगा परन्तु तब जब उसे फ्यूम दे दिया जाये। फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली के कठोर रूख के ही कारण पराजित देशों को और रूस को आमंत्रित नहीं किया गया। अतः रूस और नाराज इटली के कारण वर्साय संधि का पालन करवाने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं।

2. वर्साय संधि के दोष– 28 जून 1919 को वर्साय संधि पर जर्मनी ने हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि मे निम्न अनेक दोष थे–

1. आरोपित संधि– वर्साय संधि पराजित राष्ट्रों के लिये एक आरोपित संधि थी। जिसे उनके परामर्श या विचार सुने बिना मानने के लिये उन्हें बाध्य किया गया था। जर्मन प्रतिनिधियों के द्वारा शिकायत करने पर भी उन्हें धमकी दी गई कि यदि वे (जर्मनी) पांच दिन के अन्दर संधि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे तो उनके खिलाफ पुनः आक्रमण कर दिया जायेगा। इस कारण जर्मनी को हस्ताक्षर करने के लिये विवश कर दिया गया। यही व्यवहार जर्मनी के मददकर्ता या मित्रों के साथ भी किया गया।

2. अपमानजनक संधि– यह संधि जर्मनी के लिये राष्ट्रीय अपमान का कारण थी। कैसर विलियम की अपदस्थता, भारी क्षति पूर्ति राशि की वसूली। मित्र राज्यों का जर्मन तटों, कारखानों, नदियों आदि पर अधिकार और सेनाओं की जर्मनी में उपस्थिति, जर्मनी का विभाजन, उपनिवेशों की मित्र देशों द्वारा लूट तथा भेदभावपूर्ण, असमान, अन्यायपूर्ण शर्तें आदि सभी अपमानजनक तो थे ही। संधि पत्रों पर हस्ताक्षर के लिये आने वाले जर्मन प्रतिनिधियों के साथ क्लेमेन्शों का अभद्रव्यवहार, कैदियों के समान उन्हें रखना, जनता द्वारा गालियाँ, सड़े हुये फलों और ईंट, पत्थरों को उन पर फेंकना आदि प्रतिनिधियों का अपमान नहीं था बल्कि जर्मन राष्ट्र का अपमान था। जितना बड़ा यह अपमान था भविष्य में जर्मनों के द्वारा इसके प्रतिशोध की भावना भी उतनी ही अधिक उग्र थी। मार्शल फाश ने जर्मन अपमान के कारण युद्ध को अनिवार्य बताते हुये कहा कि "वर्साय संधि" 20 वर्षों के लिये एक 'विराम संधि' थी।

3. अत्यन्त कठोर शर्तें– विश्व युद्ध में जर्मनी को केवल पराजित करने के लिये नहीं, उसके सर्वनाश का प्रयत्न करने में मित्र राज्यों ने कोई कमी नहीं छोड़ी। अतः उसका सबसे अधिक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सैनिक, सामुद्रिक तथा औपनिवेशिक विनाश हो चुका था। फिर भी वर्साय संधि के कारण भूमि का आठवां भाग, 70 लाख जनसंख्या, सारे उपनिवेश, रबर और तेल के क्षेत्र पन्द्रह प्रतिशत कृषि योग्य भूमि, 12 प्रतिशत पशु, 10 प्रतिशत कारखाने, कोयला, लोहे, जस्ते और सीसे के प्रदेश, मछली पकड़ने वाले जहाज, अनेकों जहाजी जल–बेड़े, सभी पनडुब्बियाँ, आदि जर्मनी से छीन लिये गये। इसके अतिरिक्त जर्मनी का जनरल स्टाफ, अनिवार्य सैनिक सेवा, छह युद्ध पोतों को छोड़कर सभी युद्ध पोत, सम्पूर्ण हवाई सेना, हजारों नौसैनिक या तो हटा दिये गये या फिर भंग कर दिये गये तथा इनमें से अनेक वस्तुओं पर मित्र राष्ट्रों ने कब्जा कर लिया। इस पर प्रत्यक्ष रूप से क्षति–पूर्ति की राशि 60 करोड़ पौण्ड निर्धारित की गई। इस प्रकार जर्मनी को भारी आघात पहुँचाकर शताब्दियों तक दबाकर रखने का प्रयत्न किया। मित्र राज्यों ने भले ही यह कहा हो कि जर्मनी पर कार्थेज जैसा अन्याय नहीं किया गया और कठोरता नहीं अपनाई परन्तु यह भी मत असत्य नहीं लगता कि मित्र राज्यों में इंग्लैण्ड और जर्मनी पर अत्याचार करने की वही भावना थी जो कार्थेज पर आक्रमण करने वालों की थी।

4. एक पक्षीय और प्रतिशोध पूर्ण– वर्साय संधि की सम्पूर्ण शर्तें एक पक्षीय और जर्मनी के प्रति प्रतिशोधपूर्ण थीं। युद्ध काल में दोनों पक्षों ने भयंकर अपराध किये गये। परन्तु युद्ध के बाद केवल जर्मनी के युद्ध अपराधियों पर ही मुकदमा चलाया गया। जर्मनी के उपनिवेश छीन लिये गये जबकि मित्र राष्ट्रों के उपनिवेश न केवल उनके पास बने रहे बल्कि जर्मनी के भी उपनिवेश उन्हें मिले। संग्रहालयों को सभी ने लूटा परन्तु जर्मनी को ही लूट का माल वापस करना पड़ा जबकि मित्र राष्ट्रों ने हड़प लिया। जर्मनी का पूर्ण निशस्त्रीकरण किया गया किसी

भी मित्र राष्ट्र का निशस्त्रीकरण नहीं किया गया। सभी मित्र राष्ट्र संघ के सदस्य बने परन्तु जर्मनी को नहीं बनाया गया। यदि व्यवहार में समानता होती तो जर्मनी में विद्रोहाग्नि नहीं जलती।

जहाँ शर्तें एक पक्षीय थीं वहीं मित्र राष्ट्रों का व्यवहार प्रतिशोध पूर्ण था। क्लेमेन्शों ने कहा कि 'अब हमें बदला लेने का अवसर मिल गया है।' मित्र राष्ट्रों का कहना था कि– 'हम कैसर को फांसी दे देंगे तथा जर्मनी से युद्ध का पूरा हर्जाना वसूल करेंगे।' लायड़ जॉर्ज भी यही सुर अलाप रहा था कि 'सन्धि की शर्तें युद्ध में बलिदान होने वाले वीरों के रक्त से लिखी गईं हैं।' जॉर्ज तो सम्भवतः समझता था कि मित्र राष्ट्रों के वीरों के अतिरिक्त युद्ध वीर विश्व में कहीं नहीं हैं; फिर पराजित देशों में वीर कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार आरम्भ से हीन विल्सन को छोड़कर सभी मित्र देश पशुता का नग्न ताण्डव करने में लगे थे और उनके सामने लहुलुहान अवस्था में घायल, निर्बल, निहत्था पड़ा था जर्मनी! जिसको नोंचने में आनन्दित थे मित्र राष्ट्र।

5. विल्सन के सूत्रों का पालन न करना– विल्सन के सूत्रों का पालन न करने के कारण भी पराजितों में जहाँ असन्तोष था वहीं दूसरी ओर उनका पालन न करने वाले मित्र देशों के प्रति घृणा थी तथा तीसरी ओर वे भी इनकी नकल कर वर्साय संधि तोड़ने का प्रयत्न करने में जुट गये। विल्सन के सूत्रों का दो कारणों से उल्लंघन हुआ। प्रथम कारण था मित्र राष्ट्रों में इच्छा शक्ति का अभाव तथा द्वितीय कारण था विल्सन के सूत्रों में अन्तर्विरोध और अस्पष्टता। विल्सन को छोड़कर विजेता राष्ट्रों ने उसका राजनीतिक और युद्ध विराम के लिये प्रयोग किया। परन्तु जर्मनी ने इसे धोखा बताया तथा सूत्रों का पालन न करने का आरोप लगाया।

विल्सन के सूत्रों में चतुर्थ सूत्र (निशस्त्रीकरण) एकदम अस्पष्ट और गोलमाल था उसमें सुरक्षा के लिये आवश्यक सैनिक सामान रखने को कहा गया। परन्तु सुरक्षा की आवश्यकता का निर्धारक वही रहा जिसको उसका पालन करना था। फिर कोई देश अपनी आवश्यकता तो निर्धारित कर सकता था परन्तु अन्य देश की आवश्यकता निर्धारित करने का उसे अधिकार नहीं था। परन्तु मित्र राष्ट्रों ने वर्साय संधि में सूत्रों के नाम पर पराजित देशों का निम्नतम से भी अधिक निशस्त्रीकरण कर दिया।

विल्सन के सूत्रों में आत्मनिर्णय और वास्तविक न्याय पर बहुत जोर दिया गया था परन्तु वे सूत्रों में ही नदारद थे और इनका जर्मनी, आस्ट्रिया चेकोस्लवाकिया के संदर्भ में पालन किया नहीं गया। इटली में राष्ट्रीयता के अनुसार सीमा निर्धारण नहीं किया। रूमानिया, सर्बिया, मॉन्टीनीग्रो को समुद्री तट न देकर अन्याय किया। स्वयं विल्सन ने चीन के शान्टुंग को जापान को दिलवा दिया। सर्वाधिक बिडम्बना थी कि कोई भी सन्धि गुप्त नहीं होगी, परन्तु वर्साय की सारी कार्यवाही रूस एवं पराजित देशों से गुप्त रखी गई। सभी मित्र राष्ट्रों के द्वारा रूस पर आक्रमण ने पराजित एवं निर्बल राज्यों के मनों में शंका उत्पन्न कर दी अतः वे युद्ध क्षमता बढ़ाने लगे। इसके लिये विल्सन के सूत्र के दोष भी उत्तरदाई थे। यह भी सत्य है कि विल्सन के अनेक सूत्रों का पालन नहीं किया गया। सूत्र प्रथम से छह तक एवं 9 और 10 का पालन बहुत ही आंशिक रूप में और कुछ का बिल्कुल भी पालन नहीं किया। संक्षेप में इससे वर्साय संधि षड्यंत्रकारियों का षड्यंत्र बनकर रह गया जिस पर कोई विश्वास नहीं करता था।

4. किसी राष्ट्र का सन्तुष्ट न होना– वर्साय संधि 20 वर्षों के लिये विराम संधि ही प्रमाणित हुई, क्योंकि इससे सभी देश किसी न किसी कारण से असन्तुष्ट थे। जहाँ तक पराजित राष्ट्रों के असन्तोष का प्रश्न है उनका वर्णन कर दिया गया है। अतः निम्न देशों के असन्तोष के निम्न कारण थे–

1. **फ्रांस–** फ्रांस की संसद ने क्लेमेन्शों की कटु आलोचना की तथा फ्रांस के राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा का आरोप लगाया।

2. **इंग्लैण्ड–** इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री लायड जॉर्ज की भी आलोचना की गई। संसद ने उस पर विल्सन से प्रभावित होकर न्याय की उपेक्षा करने का और फ्रांस को प्रसन्न करने के लिये जर्मनी पर अत्यन्त कठोर शर्तों को आरोपित करने का आरोप लगाया।

3. **इटली–** इटली टेन्टिना, टाइरोल और डालमेशिया का एक भाग पाकर सन्तुष्ट नहीं था। वह समस्त इटली भाषी क्षेत्र चाहता था। फ्यूम पर अधिकार न मिलने से ऑरकोंडों वर्साय से ही लौट गया था। इसी असन्तोष के कारण कहा गया कि, 'इटली युद्ध में विजयी रहा परन्तु पेरिस की शॉन्ति–टेबिल पर हार गया।' अतः इटली के इस असन्तोष में से ही मुसोलिनी का उदय हुआ जिसने वर्साय संधि की धज्जियाँ उड़ा दीं।

4. **जापान–** जापान को चीन से शान्टुंग प्रदेश मिल गया था। परन्तु उसने मंचूरिया में विस्तार करने की योजनायें बनाईं और दक्षिण मंचूरियन रेल्वे लाइन बिछाई। इससे वर्साय संधि तो टूटी ही द्वितीय विश्व युद्ध की भी भूमिका बनने लगी।

5. **राष्ट्रसंघ की असफलता–** वर्साय संधि का पालन करवाना और विश्व में विल्सन के सूत्रों के अनुसार शांति स्थापना तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का पालन करवाना जिसके प्रमुख उद्देश्य थे। राष्ट्रसंघ, विल्सन के सूत्रों की अन्तिम धारा के अनुसार बना था परन्तु शीघ्र ही वह प्रतिशोधी शक्तियों का अड्डा बन गया इसी कारण राष्ट्रसंघ को बदनाम माँ की सम्मानित बेटी भी कहा जाता है। अमेरिका इसके बाहर रहा, इसमें सार्वभौमिकता का अभाव था, सदस्यों ने इससे असहयोग किया, अन्तर्राष्ट्रीय सेना का इसके पास अभाव था, संविधान में भी अनेक दोष थे तथा यह छोटे–छोटे देशों के विवादों को सुलझाने में सफल हुआ परन्तु ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि जिन प्रकरणों में रुचि रखते थे वे नहीं सुलझा पाया। ऐसे समय निर्बल देश आक्रामक देश की, राष्ट्र संघ से शिकायत करते रहे परन्तु उसने कोई कार्यवाही नहीं की। जैसे चीन ने जापान की एबीसीनिया ने इटली की, चेकोस्लावाकिया ने जर्मनी की शिकायतें की परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ भी नहीं कर सका अतः उससे विश्वास का उठना वर्साय संधि की असफलता थी।

6. **अन्य कारण–** इटली, जर्मनी और जापान में उग्र राष्ट्रीयता का जन्म हुआ जिसने शीघ्र ही मित्र देशों के खिलाफ उनके प्रतिशोध और अन्याय तथा लूट का जवाब देना, वर्साय संधि और राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया। दूसरी ओर इंग्लैण्ड, फ्रांस की हिटलर और मुसोलिनी के प्रति घुटने टेकने की नीति ने उन्हें वर्साय संधि को तोड़ने का अवसर दे दिया।

1917 में वर्साय संधि के लगभग दो माह पूर्व रूस में बोल्सेविक क्रांति हो गई तथा मित्र देशों ने उस पर आक्रमण कर दिया और वे पराजित होकर लौट आये। जब लौटे थे तो जर्मनी और पराजित देशों की लूट पर ध्यान होने से और वर्साय संधि के बाद रूस से भय के कारण मित्र देश पुनः राजनीतिक उलझन में फंस गये। इसी कारण उन्होंने जर्मनी, इटली और जापान पर समय रहते कार्यवाही नहीं की तथा इन्हें पूर्ण शक्ति प्राप्त करने का अवसर और वर्साय संधि तोड़ने का साहस प्राप्त हुआ।

निष्कर्ष– मित्र देशों ने पराजित देशों को बहुत बुरी तरह कुचल भले ही दिया हो तथा वे अपने को राष्ट्रीय राज्यों का सफल निर्माता और शांति संस्थापक पहले ही कहते रहे हों परन्तु यह सत्य है कि उनके द्वारा निर्मित प्रत्येक वस्तु पेरिस सम्मेलन, विल्सन के सूत्र, राष्ट्रसंघ आदि कितने ही अच्छे और महान् हों परन्तु मित्र देशों की सिद्धान्तहीन, अवसरवादी, स्वार्थी प्रवृत्ति, अन्याय, सूत्रों की उपेक्षा तथा वर्साय संधि और सूत्रों के दोषों तथा इनके खिलाफ

प्रतिक्रियाओं ने 20 वर्ष बाद वर्साय संधि को समाप्त कर विश्व को द्वितीय विश्व युद्ध में झोंक दिया।

प्रश्न–8. राष्ट्र संघ के संगठन पर एक लेख लिखिये।

अथवा

राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों तथा उनके कार्यों की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– राष्ट्र संघ के उद्देश्यों को पूरा करने हेतु उसका संगठन तैयार किया गया। इस संगठन में निम्नलिखित अंग थे–

(1) **असेम्बली–** असेम्बली अथवा महासभा राष्ट्रसंघ का मुख्य अंग था। इसमें सभी सदस्य देशों को अनिवार्य सदस्यता प्रदान की गयी थी। इसमें प्रत्येक देश के प्रतिनिधियों की अधिकतम संख्या तीन थी परन्तु प्रत्येक देश को मात्र एक ही मत देने का अधिकार था। महासभा की बैठक वर्ष में एक बार होती थी। इसे अपने अध्यक्ष अथवा सभापति को चुनने का अधिकार था। बैठक में अधिकतर निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते थे। महासभा के सदस्यों के दो तिहाई भाग द्वारा स्वीकृति दिये बिना किसी नये राष्ट्र को राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनाया जा सकता था। विश्वशांति से सम्बन्धित विषयों पर विचार–विमर्श करना, बजट पारित करना, परिषद के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करना और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करना महासभा के प्रमुख कार्य थे।

(2) **परिषद–** राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी को परिषद अथवा काउंसिल कहा जाता था। इसके सदस्यों की संख्या 9 थी जिनमें 5 स्थायी और 4 अस्थायी सदस्य शामिल थे। अमेरिका, ब्रिटेन, इटली, फ्रान्स तथा जापान इसके स्थायी सदस्य थे, जिनमें से अमेरिका सीनेट की स्वीकृति न मिल पाने के कारण इसका सदस्य नहीं बन सका। अतः स्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर ग्यारह हो गयी। इन्हें तीन वर्ष के लिये निर्वाचित किया जाता था और उनमें से एक तिहाई सदस्यों को प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करना पड़ता था। परिषद के पास असीमित अधिकार थे। राष्ट्र संघ के संविधान के उल्लंघन एवं पेरिस संधि की शर्तों का उल्लंघन करने पर वह किसी भी सदस्य देश को राष्ट्र संघ की सदस्यता से वंचित कर सकती थी। किसी देश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार भी परिषद को ही प्राप्त था। इसके प्रमुख कार्य थे– अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करना, डेजिंग तथा सार प्रदेशों की प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन करना, मेण्डेट व्यवस्था के विषय में विभिन्न देशों की रिपोर्टों पर विचार करना, शस्त्रीकरण की दौड़ में कमी लाना, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करना आदि।

(3) **सचिवालय–** राष्ट्रसंघ के सचिवालय का मुख्य कार्यालय जिनेवा में था। इसका सर्वोच्च अधिकारी महासचिव होता था जिसकी नियुक्ति परिषद करती थी। सचिवालय में कुल ग्यारह विभाग थे जिनकी देखरेख के लिये सचिवों की नियुक्ति की गयी थी। सचिवालय का प्रमुख कार्य महासभा तथा परिषद की बैठकों में विचाराधीन मामलों की सूची तैयार करना, बैठकों की कार्यवाही से सम्बन्धित आवश्यक दस्तावेज तैयार करना और समझौतों तथा संधियों के प्रकाशन की व्यवस्था करना था।

(4) **स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय–** इसकी स्थापना 20 दिसम्बर, 1920 ई. को हेग में की गयी थी। इसमें कुल ग्यारह न्यायाधीशों की नियुक्ति की गयी थी जिनकी संख्या बाद में बढ़ाकर 15 कर दी गयी। न्यायाधीशों का कार्यकाल 9 वर्ष निश्चित किया गया। इनकी नियुक्ति महासभा और परिषद की संयुक्त सहमति से की जाती थी। अंतर्राष्ट्रीय संधियों व समझौतों के अर्थ तथा उद्देश्य की व्याख्या करना, विभिन्न राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों पर कानूनी सलाह देना, राष्ट्र संघ के संविधान की व्याख्या करना और अंतर्राष्ट्रीय विवादों के विषय में महासभा तथा परिषद को सलाह देना इसके प्रमुख कार्य थे।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन–** इसका मुख्यालय भी जिनेवा में ही स्थापित किया गया था। राष्ट्रसंघ के सदस्य स्वैच्छिक रूप से इसकी सदस्यता ले सकते थे। इसकी स्थापना का मूल उद्देश्य श्रमिकों की दशा को सुधारना एवं पुरुषों, महिलाओं तथा बच्चों के लिये कार्य करने की उपयुक्त मानवीय दशाओं को उपलब्ध कराना था। इसके तीन प्रमुख विभाग थे। (1) सामान्य सभा (2) कार्यकारिणी तथा (3) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इसका कार्यालय जिनेवा से हटाकर कनाडा के नगर मॉण्ट्रियल में ले जाया गया था जो 1948 ई. तक वहीं बना रहा। श्रमिक कानूनों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड प्रस्तुत करने में इसकी भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है।

राष्ट्र संघ के अन्य अभिकरणों में वित्तीय संगठन, यातायात के लिये संगठन, आर्थिक संगठन, बौद्धिक सहयोग समिति, अफीम तथा खतरनाक वस्तुओं के लिये समिति, शरणार्थी संगठन आदि प्रमुख हैं। ये संगठन अपने–अपने क्षेत्र में जानकारी प्राप्त करते थे और उस विषय में राष्ट्रसंघ को परामर्श देते थे।

प्रश्न–9. दो विश्वयुद्धों के मध्य फ्रांस द्वारा की गई सुरक्षा की खोज का वर्णन कीजिये।

अथवा

दो विश्वयुद्धों के मध्य फ्रांस की विदेश नीति का वर्णन कीजिये।

अथवा

1919 से 1939 तक फ्रांस की विदेश नीति पर प्रकाश डालिये।

उत्तर– प्रथम महायुद्ध भले ही समाप्त हो गया परन्तु परस्पर घृणा, अविश्वास और प्रतिशोध की भावना बनी रही। इसी से प्रत्येक देश में सुरक्षा की खोज प्रारम्भ हुई। किसी देश के द्वारा अपनी सुरक्षा का अर्थ दूसरे देश के लिये संकट का कारण हो सकता था। इंग्लैण्ड समझता था कि उसकी सुरक्षा समुद्री शक्ति और यूरोप के शक्ति–सन्तुलन में है। अमेरिका पृथकता की नीति में सुरक्षा समझता था। रूस अपनी क्रान्ति की सुरक्षा चाहता था। इटली अपमान से पीड़ित फासिस्टी सुरक्षा और जर्मनी अन्तर्बाह्य सुरक्षा का आकांक्षी था। इन सभी में सर्वाधिक चिन्ताग्रस्त और भयभीत था फ्रांस, जिसने 1919 में सुरक्षा की मांग की।

फ्रांस की मांग के कारण– नेपोलियन बोनापार्ट के काल से ही फ्रांस और जर्मनी में आक्रमणों की क्रिया–प्रतिक्रिया चल रही थी। प्रेसबुर्ग, लिपजिग, सीडान और प्रथम महायुद्ध इसकी कड़ियां हैं। मित्रराष्ट्रों को फ्रांस की सुरक्षा में कोई विशेष रुचि नहीं थी। जर्मनी में फ्रांस के विरुद्ध असन्तोष, नात्सी वृद्धि और प्रतिशोध की भावना के कारण फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता हुई।

सुरक्षा के प्रयत्न– फ्रांस, जर्मनी को दो बार आक्रांत कर चुका था और अब उसे पुनः उसके आक्रमण का भय था। अतः वह जर्मनी को बहुत लम्बे काल के लिये शक्तिहीन बनाना चाहता था और इसलिये राइन नदी के पुलों पर सदा के लिये अधिकार करना चाहता था। इसके लिये उसने यूरोप में शान्ति की दुहाई दी परन्तु इंग्लैण्ड और अमेरिका ने फ्रांस की इस माग को अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार जर्मन जनता का विभाजन हो जाता। फ्रांस और जर्मनी में सदैव संघर्ष चलता। इस सुरक्षा का काम राष्ट्रसंघ सफलता से कर सकता है। फिर भी इंग्लैण्ड और अमेरिका फ्रांस को एकदम नाराज भी करना नहीं चाहते थे अतः उन्होंने वर्साय सन्धि में यह व्यवस्था स्थापित की कि राइन पर मित्रराष्ट्रों की सेना का अधिकार हो और इस क्षेत्र को जर्मन सेना से रिक्त कर दिया जाये। इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रांस पर जर्मन आक्रमण होने की दशा में सहायता करने की सन्धि फ्रांस करे। परन्तु यह प्रयत्न उस समय निष्फल हो गया जब अमेरिकी सीनेट ने वर्साय सन्धि की पुष्टि नहीं की। अमेरिका के आश्वासन पर फ्रांस ने राइन की मांग छोड़ी थी अतः उसे भारी निराशा हुई।

अब फ्रांस के प्रधानमंत्री पोइनकारे ने गारण्टी सन्धियों और गुटबन्दियों का मार्ग अपनाया (कार) और इसके अतिरिक्त एक ओर जर्मनी से समझौता करने तथा उसका निशस्त्रीकरण करवाने की नीति अपनाई।

(1) **बेल्जियम के साथ सन्धि–** फ्रांस ने जर्मनी को चारों ओर से अपने मित्रों से घेरने और स्वयं को शक्तिशाली बनाने के लिये पश्चिम में सन् 1920 में बेल्जियम से 7 सितम्बर को एक संधि की, जिसे गुप्त रखते हुये स्पष्ट कर दिया गया कि बेल्जियम और फ्रांस जर्मनी के आक्रमण के खिलाफ एक हैं। साथ ही लक्क्षमवर्ग को भी बेल्जियम की चुंगी संस्था में मिला लिया गया।

(2) **पोलैण्ड के साथ सन्धि–** पूर्व में पोलैण्ड था जिसके जर्मनी से डेन्जिग और पोलिश गलियारे के प्रश्न पर मतभेद थे तथा पोलैण्ड के अन्य सभी पड़ौसी देशों से सीमा–विवाद के कारण झड़पें होती रहती थीं। इस स्थिति का फ्रांस ने लाभ उठाकर फरवरी, 1921 में उससे एक सन्धि की और एक गुप्त सैनिक समझौता किया। **ई.एच.कार** के अनुसार, इस संधि के कारण पोलैण्ड का शस्त्रीकरण किया गया और सभी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर दोनों परस्पर सहयोग करते रहे।

(3) **ब्रिटिश–फ्रेन्च सन्धि का असफल प्रयास–** फ्रान्स उपरोक्त दोनों सन्धियां करके सन्तुष्ट नहीं था अतः फ्रांसीसी प्रधानमंत्री ब्रियां ने 12 जनवरी, 1922 को इंग्लैण्ड को सन्धि करने के लिये और जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध सहायता करने के लिये तैयार कर लिया। परन्तु ब्रियां के त्याग–पत्र के बाद अदूरदर्शी पुंकारे ने इस सन्धि को और अधिक शक्तिशाली बनाने, इसकी अवधि बढ़ाने पर जोर डाला जिसके लिये इंग्लैण्ड तैयार नहीं था। अतः लॉर्ड कर्जन ने फरवरी, 1922 में अपनी नीति स्पष्ट कर फ्रांस की मनमानी शर्तों पर सन्धि करने को मना कर दिया। ई.एच. कार ने लिखा है कि इंग्लैण्ड ने कुछ काल के लिये फ्रांस की सुरक्षा–तुष्टि करना छोड़ दिया।

कारण– इंग्लैण्ड और फ्रांस में मतभेदों के अनेक कारण थे। प्रथम कारण तो यह था कि इंग्लैण्ड, फ्रांस को अत्यधिक शक्तिशाली और जर्मनी को अत्यधिक कमजोर नहीं बनने देना चाहता था। द्वितीय कारण था कि इंग्लैंण्ड महायुद्ध की कटुताओं को भुलाकर और जर्मनी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर पहले के समान अपनी अर्थ–व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना चाहता था। इसी कारण फ्रांस द्वारा राइन और रूर प्रवेश का उसने विरोध किया और हिटलर के अनुचित साम्राज्यवादी तथा आक्रामक कार्यों का मौन समर्थन किया। तृतीय कारण फ्रांस क्षतिपूर्ति राशि की भारी मात्रा और उसकी कठोरता से वसूली में विश्वास करता था जबकि इंग्लैण्ड इसकी सीमित मात्रा और उदारता का पक्षधर था। चतुर्थ कारण था कि फ्रांस राष्ट्रसंघ को एक निर्बल संस्था समझता था और उसे अपनी सुरक्षा के साधन के रूप में प्रयोग करना चाहता था, जबकि इंग्लैण्ड राष्ट्रसंघ को विवादों को सुलझाने, आर्थिक पुनर्निर्माण, सहयोग और शक्ति–सन्तुलन को बनाये रखने का साधन मानता था। पंचम कारण था कि फ्रांस पहले अपनी सुरक्षा और फिर निशस्त्रीकरण और इंग्लैण्ड पहले निशस्त्रीकरण में विश्वास करना था। षष्ठम कारण था कि इंग्लैण्ड रूसी साम्यवाद के खिलाफ यूरोप को संगठित करने के पक्ष में था फ्रांस को इसकी चिन्ता नहीं थी। इंग्लैण्ड, इटली को शक्तिशाली जबकि फ्रांस, इटली को कमजोर बनाना चाहता था। फ्रांस स्पेन के गृहयुद्ध में अप्रजातांत्रिक प्रवेश करना चाहता था, इंग्लैण्ड इसका विरोधी था। इन दोनों के मतभेदों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को न केवल प्रभावित किया बल्कि राष्ट्रसंघ को भी कमजोर किया और हिटलर, मुसोलिनी को इससे बल मिला।

अन्य देशों के साथ फ्रांस के मैत्री प्रयास– इंग्लैण्ड के व्यवहार से चिन्तित फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया, रोमानिया और यूगोस्लाविया जो हंगरी से भयभीत थे, पर ध्यान दिया और 1924 में चेकोस्लाविया से, 1926 में रूमानिया से और 1927 में यूगोस्लाविया से समझौते किये। इन देशों ने जर्मनी और आस्ट्रिया के मिलने और आक्रमण के खिलाफ सहायता का वचन दिया और संयुक्त कार्यवाही की व्यवस्था की।

संयुक्त कार्यवाही लघु मैत्री–संघ के रूप में 2 जुलाई, 1921 को प्रकट हुई। इसमें आस्ट्रिया–हंगरी में हेप्सवर्ग–वंश की पुनः प्रतिष्ठा को रोकना, इनसे प्राप्त प्रदेश लौटाने का विरोध, वर्साय, सेंट–जर्मन, ट्रियनों और न्यूइली संधियों का आदर करना और जर्मनी, आस्ट्रिया से सन्धिकर्ता राष्ट्रों की रक्षा करना निश्चित किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव– फ्रांस की सुरक्षा की खोज और इस कारण उसके द्वारा की गई सन्धियां और समझौतों का विश्व पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अब फ्रांस अपनी सुरक्षा से आगे बढ़कर सैनिक सहायता के बदले वर्साय सन्धि को अपने हित में लागू करवाने का प्रयत्न करने लगा। अब वह जर्मनी को राइन तक सीमित, कमजोर करने में अधिक सक्रिय हो गया। संधिकर्ता छोटे देश उसका साथ देने लगे। इससे फ्रांस अपनी शक्ति, गौरव और प्रभाव में पुनः चरम सीमा पर पहुंचा। इनके कारण जर्मनी, इटली में अधिनायकवादी शक्तियां न केवल प्रबल हुईं बल्कि निकट आने लगीं। रूस ने अपनी सुरक्षा के लिये इटली से सन्धि की (रेपलो सन्धि)। लघुमैत्री संघ की और फ्रांस की पोल उस समय खुली जब सन् 1938 में हिटलर ने चेकोस्लाविया पर आक्रमण किया। उस समय रूस, इंग्लैण्ड, अमेरिका, आस्ट्रिया, इटली किसी ने भी फ्रांस का साथ नहीं दिया। स्वयं फ्रांस ने चेक–देश के साथ विश्वासघात किया और फ्रेन्च प्रधानमंत्री दलेदियर इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन के साथ मिलकर म्यूनिख पेक्ट करके चेकोस्लाविया को जर्मनी हाथों में जाते देखने को तैयार हो गये।

निष्कर्ष– फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिये जर्मनी के प्रति निशस्त्रीकरण, प्रतिशोध, अत्यधिक धन वसूली और उसके अपमान का मार्ग अपनाया और सम्पूर्ण यूरोप को गुटों में विभाजित कर दिया। उसकी नीति की प्रतिक्रिया अन्य देशों पर हुई। फ्रांस के किसी भी प्रधानमंत्री ने पुरानी वैमनस्यता को भुलाकर जर्मनी को अपनी उदारता से जीतने का प्रयास नहीं किया। फ्रांस को जर्मनी की बढ़ती शक्ति से भय लग रहा था परन्तु वास्तव में यह भय उसे अपने जर्मनी से व्यवहार के कारण ही लग रहा था क्योंकि स्वयं फ्रांस जानता था कि जर्मनी के प्रति उसी का रुख सर्वाधिक कठोर, असम्भव तीव्र दबाव का था जिसका बदला जर्मनी अवश्य उससे लेता। फ्रांस ने अपने व्यवहार से बड़े मित्र देशों को और शत्रु देशों को भी अपने खिलाफ कर लिया। इस प्रकार फ्रांस की सुरक्षा की खोज व्यर्थ हो गई।

प्रश्न–10. 1919 से 1939 के मध्य या दोनों विश्वयुद्धों के मध्य अमेरिका की विदेश नीति का वर्णन कीजिये।

उत्तर– **1919 के बाद अमेरिकी विदेश नीति**

राष्ट्रसंघ से सहयोग– यद्यपि अमेरिकी सीनेट राष्ट्रसंघ और उसकी व्यवस्थाओं को अस्वीकार कर चुकी थी परन्तु उपरोक्त कारणों से उसने राष्ट्रसंघ से सहयोग की नीति का सूत्रपात किया परन्तु उसका वह सदस्य नहीं बना। सर्वप्रथम अमेरिकी राष्ट्रपति ने राष्ट्रसंघ के कार्यों का निरीक्षण करने के लिये प्रेक्षक भेजना आरम्भ किया। शूमैन के अनुसार, इसके पश्चात् राष्ट्रसंघ से सम्बन्धों को अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार किया। शस्त्रास्त्रों, स्त्रियों और अफीम–व्यापार के नियंत्रण करने वाले और स्वास्थ्य सम्मेलनों में अमेरिकी राष्ट्रपति ने पूर्ण–रूपेण सहयोग दिया। सन् 1924 के बाद संघ की सभाओं में भाग लेना आरम्भ कर

दिया और नियमित रूप से प्रतिनिधि भेजा जाने लगा। सन् 1930 तक 22 सम्मेलनों में उसने भाग लिया और सन् 1931 तक अमेरिका ने 13 समझौतों में भाग लिया। जेनेवा में उसने 5 स्थाई अधिकारी नियुक्त किये। मंचूरिया–संकट में अमेरिका ने प्रेंटिस बी. गिल्बर्ट को भेजा और सन् 1934 में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम–संगठन का सदस्य भी बन गया।

तटस्थता नीति– अमेरिका राष्ट्रसंघ से सहयोग कर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर झुकने लगा था। सन् 1933 में रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति बने परन्तु पहले उन्होंने भी पृथकता की नीति का ही पालन किया किन्तु सितम्बर, 1939 में जैसे–जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध और हिटलर तथा मुसोलिनी के साम्राज्यवादी खतरे बढ़ते गये उधर जापान भी चीन की ओर बढ़ना चाहता था अतः रूजवेल्ट चाहते थे कि पृथकतावाद की नीति का त्याग कर ऐसी नीति अपनाई जाये जो (1) आक्रामक देशों का प्रतिरोध, (2) सुरक्षा की रक्षा, (3) आक्रामक देशों के खिलाफ लड़ने वालों को मदद दे सके। परन्तु अमेरिका की जनता और सीनेट रूजवेल्ट की बात मानने को तैयार नहीं थी बल्कि रूजवेल्ट के अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर रुचि देखकर तीन तटस्थता कानून बना दिये जिससे वह पृथकता नीति को छोड़ न दे। प्रथम कानून में विदेशों को शस्त्र बेचने पर प्रतिबन्ध लगाया गया परन्तु बाद के दो कानूनों में नकद दाम दो और माल ले जाओ की नीति अपनाई गई परन्तु राष्ट्रपति की भावी संकट की आशंका को ध्यान में रखकर तटस्थता कानूनों के अन्तर्गत विदेशियों को शस्त्र बेचने, युद्ध–माल को अपने जहाजों में भेजने, अमेरिकी नागरिकों को अन्य देशों के जहाजों में यात्रा करने, अन्य देशों की प्रतिभूतियां खरीदने तथा अन्य देशों के द्वारा अमेरिकी बन्दरगाहों के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के अधिकार दिये। परन्तु अमेरिकी सीनेट और व्यापारी पृथकता की नीति छोड़ने को तैयार नहीं थे। रूजवेल्ट के सारे प्रयत्न बेकार गये और उसे पृथकता नीति के पालन के लिये विवश होना पड़ा और स्पेन के गृहयुद्ध के समय किसी भी पक्ष को शस्त्र देने पर प्रतिबन्ध लगाना पड़े।

रूजवेल्ट अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर– रूजवेल्ट तटस्थता कानूनों को विवेकपूर्ण नहीं मानते थे क्योंकि इनमें आक्रामक और आक्रान्त को समान समझा गया था परन्तु रूजवेल्ट उस समय कुछ नहीं कर सके लेकिन हिटलर और मुसोलिनी तथा जापान की बढ़ती हुई गतिविधियां रूजवेल्ट की चिन्ता का कारण बनीं। अतः उन्होंने अमेरिका के जनमत जागरण की आवश्यकता अनुभव की। उन्होंने 5 अक्टूबर, 1937 को शिकागो में अपना सुप्रसिद्ध भाषण दिया जिसमें उन्होंने आक्रामक देशों के प्रति जनता को सजग रहने का, उनके आक्रमणों को रोकने के लिये सामूहिक सुरक्षा की आवश्यकता पर बल दिया और उसकी प्रशंसा की। उन्होंने धुरी राष्ट्रों के संयुक्त आक्रमण की सम्भावना की आशंका व्यक्त की और तटस्थता की नीति का विरोध किया। रूजवेल्ट की इस नीति सम्बन्धी भाषण की प्रतिक्रिया विपरीत हुई। अमेरिका की जनता और सीनेट ने रूजवेल्ट के विचारों का तीव्र विरोध किया जिसका परिणाम यह हुआ कि इटली, जर्मनी और जापान को आक्रामक कार्यों के लिये प्रोत्साहन मिला। इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि यूरोपीय देशों को अमेरिका के ऊपर सन्देह होने लगा कि संकट के समय अमेरिका से कोई सहायता मिलेगी।

तटस्थता का त्याग– परिस्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि रूजवेल्ट ने सीनेट की अनुमति के बिना इंग्लैण्ड और फ्रांस को मदद देनें की घोषणा कर दी। जब हिटलर ने डेनमार्क, नार्वे और बेल्जियम को जीत लिया तो रूजवेल्ट ने 50 हजार वायुयान प्रतिवर्ष बनाने का आदेश दिया। जब 24 जून को फ्रांस का भी पतन हो गया और इंग्लैण्ड पराजय के निकट पहुँच गया तो अमेरिकी जनता और सीनेट का दृष्टिकोण बदला तथा कांग्रेस ने सन् 1940 में 12 माह में

जो कानून बनाये उनसे तटस्थता समाप्त हो गई और अमेरिका इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस की मदद के लिये तैयार हो गया। इसके लिये उसने उधार पट्टा अधिनियम आदि कानून बनाये। सन् 1942 तक अमेरिका ने इंग्लैण्ड और रूस को 8-1/4 अरब से अधिक डॉलर की मदद दी जब हिटलर ने रूस, पोलैण्ड आदि देशों पर आक्रमण किये। जापान ने दक्षिण-पूर्व एशिया पर आक्रमण किये। इंग्लैण्ड आत्मरक्षा में लग गया और जापान ने 7 दिसम्बर, 1941 को पर्ल हार्वर पर आक्रमण कर दिया जिससे विवश होकर अमेरिकी सीनेट ने सर्वसम्मति से युद्ध की घोषणा कर दी। दूसरी ओर जर्मनी और इटली ने अमेरिका के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी तो अमेरिका ने भी उनके खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार रुजवेल्ट की आशंका और नीति सत्य निकली।

लघुउत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न-(1) सन् 1917 की रूस की क्रान्ति के महत्व पर अति संक्षेप में प्रकाश डालिये।

उत्तर- सन् 1917 की रूस की क्रान्ति का महत्व- रूस की क्रान्ति विश्व के लिये एक आश्चर्यजनक घटना थी। विश्व में राजाओं के उत्थान तथा पतन तो होते रहे परन्तु फ्रान्स की क्रान्ति ने विश्व को स्वतंत्रता, समानता व बन्धुत्व के आदर्श प्रदान किये रूसी क्रान्ति ने साम्यवाद की विचारधारा व नवीन राजनीतिक, आर्थिक और समाज रचना की सर्वथा नवीन अवधारणा दी। क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमिकों, किसानों व सैनिकों का महत्व बढ़ा व आर्थिक व्यवस्था में उन्हें जहाँ एक ओर महत्वपूर्ण साधन माना गया वहीं दूसरी ओर उनका कल्याण भी राज्य का लक्ष्य निर्धारित किया गया। अतः तीनों वर्गों के अतिरिक्त किसी को भी मताधिकार नहीं दिया गया। क्रान्ति के कारण वर्ग-भावना और पूँजीपतियों के खिलाफ एक ऐसी चेतना उत्पन्न हो चुकी थी कि पूँजीपति और जमींदार सिर नहीं उठा सके तथा किसान और श्रमिक उनके शोषण और दमन से बच गये।

प्रश्न-(2) सेन्ट जर्मेन की सन्धि की प्रमुख धारायें संक्षेप में लिखिये।

उत्तर- जर्मेन की सन्धि- यह सन्धि आस्ट्रिया तथा मित्र-राष्ट्रों में 10 सितम्बर, 1919 को की गई थी। इसके अनुसार-

1. आस्ट्रिया एवं हंगरी का राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया।
2. युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व इस साम्राज्य की अनेक जातियों में राष्ट्रीय भावना परिपक्वावस्था में पहुँच गई थी। इन जातियों को स्वतंत्रता प्रदान करके चेकोस्लोवाकिया स्वतंत्र राज्य मान लिया गया था।
3. साईलेशिया, बोहेमिया, मोराविया तथा आस्ट्रिया का निम्न प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को दिया गया था।
4. डायमेशिया के तटवर्ती द्वीप एवं कार्निवाल यूगोस्लाविया एवं पोलैण्ड को दिये गये।
5. इटली को ट्रीस्ट, क्रेन्तिनों, दक्षिणी टाइरोल तथा डालमीशियन तटवर्ती दो द्वीप प्रदान किये गये। आस्ट्रिया का बहुत-सा भू-भाग उसके हाथ से निकल गया, अतः आस्ट्रिया अब एक छोटा-सा राज्य रह गया था।
6. आस्ट्रिया की जल सेना उससे छीन ली गई। डेन्यूब नदी को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये खोल दिया। उसकी सेना की संख्या 30,000 निश्चित कर दी गई।
7. आस्ट्रिया को बलात् युद्ध के लिये उत्तरदायी बनाया गया, अतः क्षतिपूर्ति के रूप में उसको एक विशाल धनराशि राष्ट्रों को देना पड़ी।
8. आस्ट्रिया की राष्ट्रीय कला की निधियां 30 साल के लिये छीन ली गईं।

श्न-(3) वर्साय की संधि की मुख्य बातें लिखिये।

उत्तर- वर्साय की सन्धि शक्ति सम्मेलन के अनेक समझौते तथा संधियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सन्धि थी। यह सन्धि हारे एवं जीते हुये राज्यों से सम्बन्धित होने के साथ-साथ आगामी युद्धों से बचाने के प्रयास से सम्बन्धित भी थी। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं-

1. 1871 में जर्मनी ने फ्राँस से आल्सेश लग्नि के प्रदेश छीन लिये थे। इन प्रदेशों को फ्राँस ने वापिस कर दिया।
2. पोलैण्ड के डान्जिग प्रदेश पर जर्मनी ने 1893 ई. में अपना अधिकार जमा लिया था। जर्मनी को यह प्रदेश वापिस देना पड़ा।
3. जर्मनी द्वारा आस्ट्रेलिया को स्वतंत्रता देनी पड़ी।
4. सान्तुग प्रदेश जापानी अधिकार में दिया गया। जर्मनी को चीन स्थान मोस्को तथा मिस्र में अपने विशेष अधिकारों को छोड़ना पड़ा।

प्रश्न-(4) राष्ट्र संघ के उद्देश्य संक्षेप में लिखिये।

उत्तर- राष्ट्र संघ का उद्देश्य- राष्ट्र संघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा सर्वप्रथम उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करना तथा न्याय और सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्थापित कर भावी युद्धों को रोकना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राष्ट्र संघ ने चार प्रकार की व्यवस्थायें कीं।

प्रथम, संघ के सदस्यों को कुछ कानूनी दायित्वों और बाध्यताओं को स्वीकार करने को कहा जिनसे युद्ध करने की शक्ति सीमित हो जाती है। द्वितीय, संघ के विधान में शान्तिपूर्ण हल के लिये प्रक्रियाओं की व्यवस्था की गई। तृतीय, संघ के नियमों को न मानकर युद्धकर्त्ता देश के आर्थिक प्रतिबन्ध का अधिकार राष्ट्र संघ को दिया गया। चतुर्थ, युद्ध को रोकने के लिये निःशस्त्रीकरण करवाने की व्यवस्था की गई।

प्रश्न-(5) 'जेनेवा प्रोटोकोल' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर- जेनेवा प्रोटोकोल- परस्पर सहायता सन्धि के असफल होने पर संघ के सदस्य देशों की विचारधारा में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। अतः सदस्य देशों ने सुरक्षा के उपायों पर पुनर्विचार किया। अन्ततः विश्वशान्ति हेतु मध्यस्थता के सिद्धान्त को आवश्यक माना गया। जेनेवा प्रोटोकोल मुख्य रूप से मध्य स्थता पर ही आधारित था। प्रोटोकोल 2 अक्टूबर 1924 को पारित हुआ, जिसमें निम्न मुख्य मुद्दे रखे गये-

1. राजनैतिक विवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के वैधानिक विवादों को राष्ट्रसंघ कौंसिल समाधान करेगी।
2. युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित हो और संघ के सदस्य देशों को आक्रमण करने की स्थिति में अपराधी माना जावे।
3. न्यायालय या परिषद में विवाद की स्थिति में सैनिक तैयारी स्थगित करने की व्यवस्था हो।
4. प्रत्येक विवाद को राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत किया जावे। ऐसा न करने पर या निर्णय अस्वीकारने की स्थिति में सम्बन्धित देश को आक्रमणकारी घोषित किया जावे।
5. आक्रमणकारी राष्ट्र पर आर्थिक प्रतिबन्ध लागू हो।
6. युद्ध का समस्त व्यय आक्रमणकारी राष्ट्र से लिया जावे।
7. राष्ट्रसंघ की नीति का सभी सदस्य-राष्ट्र पालन करेगे।

यह सन्धि पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान हेतु राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों ने स्थापित की। अन्ततः इंग्लैण्ड के रूख के कारण यह प्रोटोकोल भी असफल सिद्ध हुआ।

इकाई-IV

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न- 1. 'चीन में उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का प्रसार किस प्रकार से हुआ?' विवरण दीजिये।

उत्तर- चीन विश्व का प्राचीनतम सभ्य देश था तथा चीनी नागरिक अपनी अतिथि-सेवा, उदारता के लिये विश्वविख्यात थे। व्यवहार और चरित्र में वे ईमानदार थे तथा उनमें स्वाभाविक रूप से भोलापन था। इस कारण उनके देश में जो भी विदेशी चाहे यात्रा अथवा व्यापार के उद्देश्य से पहुंचा उन्होंने उसका स्वागत किया और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया एवं उसे सहायता प्रदान की। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दि के अन्त तक यह स्थिति बदल गई एक ओर तो चीन में प्रवेश के लिये समुद्री मार्ग से पहुंचने वाले यूरोपीय व्यापारी प्रतियोगिता करने लगे तथा उचित-अनुचित तरीके अपनाने लगे। दूसरी ओर चीन की सरकारें भी विदेशी साम्राज्यवादियों के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने लगीं।

विदेशी साम्राज्यवादियों के चीन में प्रवेश का कारण- पन्द्रहवीं शताब्दि में एशिया के व्यापार के लिये दो मार्ग थे- प्रथम लाल सागर, मिश्र से भू-मध्य को जाता था तथा द्वितीय ईरान, बसरा, बगदाद से एशिया माईनर को जाता था। इस पर सुसभ्य अरबों का अधिकार था परन्तु 1453 में बर्बर तुर्की सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने अरब प्रदेशों पर आक्रमण कर इन मार्गों पर अधिकार कर लिया। अतः इनसे भारत से यूरोप का भी व्यापारिक सम्पर्क टूट गया। अक्सर यूरोपीयन और अरबी भारत से मसाले आदि ले जाते थे और उनसे भारी लाभ उठाते थे। इसके रुकने से उनको भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। इस कारण यूरोपीय देशों ने (स्पेन और पुर्तगाल ने) नवीन सामुद्रिक मार्गों की खोज आरम्भ की। कुतुबनुमा और जहाजों में पालों के प्रयोग से सर्वप्रथम पुर्तगाली अफ्रीका का चक्कर लगाकर 1489 में भारत पहुंचने में सफल रहे। इसके पश्चात् अन्य यूरोपीय देश व्यापार के लिये चीन पहुँचने लगे।

चीन में यूरोपीय देशों के प्रवेश के उद्देश्य- चीन में विभिन्न यूरोपीय देशों के नाविक, व्यापारी और सैनिक पहुंचे। उनकी सरकारों ने भी उन्हें प्रेरित किया और सहायता दी। इन सभी के उद्देश्य और नीतियाँ निम्नलिखित थीं-

1. चीन के साथ व्यापार करना।
2. चीनवासियों को हानि पहुंचाकर नष्ट करना।
3. चीनियों को दास बनाकर लाना तथा दूसरे देशों में बेचना।
4. चीन में अपने उपनिवेश बनाना तथा वहाँ राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकार और सुविधायें प्राप्त करना।

यूरोपियनों का चीन में प्रवेश- सर्वप्रथम 1511 में पुर्तगालियों ने चीन में प्रवेश किया। परन्तु इनका व्यवहार बहुत खराब था। चीनियों ने (मित्र सरकार ने) इन पर चीन में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाये तो इन्होंने केन्टन के समीप एक द्वीप में चीन से व्यापार के लिये केन्द्र स्थापित किया तथा मकाओ में भी एक बस्ती बनाई। इसके पश्चात् 1557 में स्पेन ने फिलीपीन्स द्वीपसमूह में बस्ती बनाई यहीं से उन्होंने चीन में प्रवेश कर व्यापार का प्रयत्न किया। 1637 में डच और अंग्रेज पश्चिम चीन में गये। रूस ने 1689 में प्रवेश किया। सन् 1785 में अमेरिका ने केन्टन में बस्ती बनाई।

यूरोपियन प्रवेश पर प्रतिबन्ध- यूरोपीयन प्रवेश पर चीन की मित्र सरकार ने प्रतिबन्ध लगाये थे। उसके पश्चात् (1644) मंचूवंश की चीनी सरकार ने 1685 में विदेशियों को व्यापार की सुविधा प्रदान की परन्तु सम्राट कांगहसी ने व्यापार की सुविधा प्रदान की परन्तु सम्राट ने लियेनतुंग ने 1757 में पुनः प्रतिबन्ध लगाये। इसके लिये यूरोपियनों के उद्देश्य और अनुचित कार्य उत्तरदाई थे। यूरोपियनों ने चीनियों की सद्भावना की उपेक्षा की तथा चालाकी, झूठ, ईसाई धर्म का अनुचित तरीके से प्रचार तथा बुरे व्यवहार से चीनी सरकार को रुष्ट कर दिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि चीनी सरकार ने केन्टन में आवासी व्यापारियों पर प्रतिबन्ध लगाये- उन्हें वर्षभर केन्टन में रहने की, परिवार रखने की अनुमति नहीं दी गई। व्यापार के अतिरिक्त समय में उन्हें केन्टन छोड़कर मकाओ जाना पड़ता था। इस कारण वे केन्टन में स्थिर बस्तियाँ नहीं बना सके। चीनी सरकार ने पहले एक चीनी व्यक्ति (1702) बाद में 1752 में एक व्यापारिक संस्था 'कोहांग' निर्मित की। समस्त चीनी और विदेशी इसी को अपना माल बेचते थे तथा इसी से क्रय करते थे। जब विदेशियों ने यहाँ भी अभद्र व्यवहार किये तो केन्टन को छोड़कर अन्य चीनी बन्दरगाहों में यह प्रतिबन्ध लगा दिये तथा 'कोहांग' स्वयं केन्टन में आ गई। अतः सभी विदेशियों को चीन के बाहर रहना पड़ता था।

विदेशियों की आर्थिक नीति में परिवर्तन- सन् 1715 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी और अमेरिका ने केन्टन में अपनी कोठियाँ बना लीं। इसके पश्चात् फ्रांस ने भी चीन से व्यापार आरम्भ किया। चाय, रेशम, मिट्टी, चीनी के बर्तन विदेशी स्वर्ण और चांदी के बदले चीन से खरीदते थे। इस समय तक इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी तथा इंग्लैण्ड में वस्त्र उद्योग बहुत अधिक विकसित हुआ तथा अमेरिका में फर के वस्त्रों का उत्पादन बढ़ा। अब इंग्लैण्ड और अमेरिका तथा अन्य यूरोपीय देश की नीति में परिवर्तन हुआ। उन्होंने चीन से चीन का माल आयात करने की अपेक्षा चीन को अधिक निर्यात करने की नीति अपनाई जिससे उन्हें चीन को स्वर्ण और चांदी न देना पड़े।

इंग्लैण्ड की घुसपैठ और अफीम युद्ध- 18वीं शताब्दि तक भारत का बहुत बड़ा हिस्सा ब्रिटिश कम्पनी के अधिकार में आ गया। अंग्रेजों ने इस पर बड़ी मात्रा में अफीम का उत्पादन किया तथा इसके लिये चीन को बाजार बनाने के लिये हीनतम प्रयास किये। चीनी अफीम से परिचित नहीं थे अतः उनमें अफीम की आदत डालने के उद्देश्य से तम्बाकू में अफीम मिलाकर प्रयोग करने की आदत डलवाई। सन् 1800 तक चीन में अफीम का व्यापक प्रचार हो गया। इससे अंग्रेजों का व्यापार और लाभ बहुत अधिक बढ़ गया। जब चीनी सरकार को इसकी जानकारी मिली तो उसने सन् 1800 में अफीम के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये। परन्तु इसका कोई लाभ नहीं हुआ। चीनी अधिकारी भी अफीम की आदत के शिकार बन चुके थे तथा शासन तंत्र में व्यापक भ्रष्टाचार उत्पन्न हो चुका था। जब 1838 में चीनी सरकार ने कठोर कार्यवाही की तो अंग्रेजों को भारी हानि होने लगी। अंग्रेज सरकार इस हानि को सहन नहीं कर सकी उसने किसी न किसी बहाने से चीन के साथ प्रथम 'अफीम युद्ध' कर उसे पराजित कर 1842 में नानकिंग संधि करने के लिये विवश किया।

नानकिंग संधि- इस संधि के अनुसार इंग्लैण्ड को चीन के केन्टन, अमाय फूचो, निंगपो तथा संघाई में बसने का और व्यापार करने का अधिकार मिला। हांगकांग का द्वीप पूरी तरह से ब्रिटिश अधिकार में आ गया तथा यहाँ ब्रिटिश नागरिकों को चीनी नागरिकों के समान अधिकार मिल गये। निर्यात तथा आयात माल की सीमा शुल्क की दरें निर्धारित की गईं। 'कोहांग' समाप्त हो गया तथा क्रय-विक्रय सीधे चीनियों से होने लगा। हर्जाने में चीन ने इंग्लैण्ड को 10 करोड़ रुपये दिये तथा इसकी शर्तें 10 साल में संशोधन करने का निर्णय हुआ।

बोग संधि- इस संधि में अफीम के व्यापार पर नियंत्रण की कोई शर्त नहीं थी। इसलिये यह व्यापार और तीव्र गति से चलने लगा। यह पराजय चीन के लिये बहुत खराब तथा लुटेरे साम्राज्यवादियों के लिये बहुत लाभपूर्ण थी। अक्टूबर 1843 में बोग-संधि के द्वारा इंग्लैण्ड

को 'राज्य क्षेत्रातीत अधिकार' मिले जिससे चीन में रहने, बसने तथा अपराध करने पर अंग्रेजों को इंग्लैण्ड के कानूनों के अनुसार कार्यवाही करने का अधिकार मिला।

अन्य देशों का चीन में प्रवेश– प्रथम अफीम युद्ध में चीन की पराजय तथा इंग्लैण्ड को नानकिंग और बोग में हुये लाभों को देखकर विशेषकर अमेरिका, फ्रांस, नार्वे तथा स्वीडन आदि देशों में यह विचार उठा कि वह भी चीन के साथ वैसी ही संधियाँ करने के लिये चीन को विवश करें।

अमेरिका– 1844 में राष्ट्रपति टाईलर अमेरिकी राष्ट्रपति थे। इन्होंने चीन में व्यापार और संधि के उद्देश्य से अपने राजदूत कशिंग को भेजा। अतः अमेरिका को नानकिंग संधि के समान चीन में सभी सुविधायें मिल गईं। इसने भी चीन के राज्य क्षेत्रातीत अधिकार देने के लिये विवश कर दिया। अतः चीन में रहने वाले अमेरिकी अपराधी चीनी कानूनों से बाहर हो गये। इससे अमेरिका का चीन में असाधारण प्रभुत्व स्थापित होना आरम्भ हो गया।

फ्रांस, नार्वे तथा स्वीडन– फ्रांस ने भी चीन के साथ एक सन्धि की इसके अनुसार फ्रांस को इंग्लैण्ड और अमेरिका के समान चीन में सुविधायें मिलीं परन्तु इनके साथ ही विशेष सुविधा यह प्रदान की गई कि केन्टन तथा अन्य बन्दरगाहों में अपने ईसाई चर्च निर्माण करवा सकता था तथा उसका प्रचार कर सकता था। इसी कारण अन्य यूरोपीय देशों को भी कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट चर्च बनाने की अनुमति दी गई। नार्वे और स्वीडन जैसे देश भी चीन में व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करने में सफल रहे।

ताईपिंग विद्रोह और साम्राज्यवादियों का स्थायित्व– 'ताईपिंग विद्रोह' एक राष्ट्रीय संग्राम था जो विदेशी साम्राज्यवादियों के अत्याचार, आर्थिक शोषण और चीन में अनुचित हस्तक्षेप के विरुद्ध था। इसके साथ ही यह मंचूरिया सरकार के भ्रष्टाचार, अयोग्यता और सैनिक दुर्बलता के भी खिलाफ था। संघर्ष के लिये चीन में 1851 में ताईपिंग–तिएन–कुओ और शांत–ही–हुई आदि संस्थाओं की स्थापना हुई। हुंग–हिसओ–चुआन, तिएन वांग इनके प्रमुख नेता थे। विद्रोह इतना शक्तिशाली था कि उन्होंने अपनी सरकार स्थापित कर ली।

इससे विदेशी, जमींदार और मंचूरिया सरकार के अधिकारी नाराज हुये। जब मंचूरिया सरकार इस संघर्ष को दबाने में असफल रही तो विदेशियों ने मंचूरिया सरकार को अपनी मनमानी शर्तों को स्वीकार करवा कर मदद दी। इसका परिणाम यह हुआ कि मंचूरिया सरकार उनकी कृपा पर निर्भर, कठपुतली सरकार बनकर रह गई और फ्रांस, ब्रिटेन और रूस आदि के पैर और अधिक जम गये।

प्रश्न–2. जापान में विदेशी साम्राज्यवादियों के प्रवेश का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर– जापान में प्राचीन धारणा यह है कि, जापान में राजसत्ता एवं सत्ता की उत्पत्ति दैवी शक्ति से हुई थी। प्रथम देवता सूर्य थे। सूर्य के पौत्र का पौत्र जिम्मू तेनो 660 ई. पू. में जापान में के, क्यू शू में सर्वप्रथम यमतो सम्राट बना। इसके वंश ने लगभग 1200 वर्ष तक राज्य किया। सातवीं शताब्दि तक सम्राट का प्रत्यक्ष शासन रहा बाद में उसकी कार्यपालिका शक्ति वीर पुरुषों अर्थात् शोगुणों के हाथों में चली गई। यह काल जापान में गृहयुद्ध, मंगोल आक्रमणों और शोगून पद के लिये उत्तराधिकार संघर्ष का काल रहा। परन्तु 1603 में तोकूगावा ने स्वयं कोशोगून घोषित करने में सफलता पाई तथा इसके वंश ने 1667 तक जापान में सामन्तीय युद्ध को समाप्त कर जापान का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक विकास किया। इन्हीं तोकूगावा शोगूनों और यमतो सम्राट के वंशों के काल में ेपियनों का प्रवेश जापान में आरम्भ हुआ।

पश्चिमी देशों में प्रथम प्रवेश– पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने चीन पर मंगोल आक्रमणों के काल में चीन में आना–जाना आरम्भ कर दिया था। जापान का प्रथम उपलब्ध वर्णन मार्कोपोलो के यात्रा–विवरण में मिलता है। जापान में यूरोपियनों का स्पष्ट प्रवेश का प्रमाण 1542 में मिलता है। इसके पश्चात् पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैण्ड और ब्रिटेन के यात्री पहुँचने लगे।

जापान में प्रथम प्रवेश के कारण– जापान में पश्चिमी देशों के प्रवेश का सर्वप्रथम कारण था कि ये देश व्यापार और साम्राज्य विस्तार के लिये एशियाई देशों में प्रयत्नशील थे तथा वहाँ से कच्चा माल प्राप्त करना, वहाँ पूंजी विनियोग करना और अपने निर्मित माल को वहाँ बेचकर भारी लाभ कमाना उनका उद्देश्य था। द्वितीय कारण था कि जापान यूरोप से चीन तक के मार्ग में स्थित था। अतः यूरोपीय जहाजों का जापान में जाना या उसके समुद्र तटों से निकलना स्वाभाविक था। इसी कारण वे हिन्द महासागर और मलक्का अन्तरीप जाते समय क्यू शू और नागासाकी में, कोयले, पानी या सहायता प्राप्ति के लिये रुकते थे। तृतीय कारण पश्चिमी देशों का ईसाई धर्म का प्रचार करना था, क्योंकि इसके बहाने साम्राज्यवादी और राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति होती थी। तृतीय कारण था कि जापानियों ने पश्चिमी यात्रियों का और धर्म प्रचारकों का स्वागत किया। इसके पूर्व भी वे चीनी और भारतीयों का स्वागत कर चुके थे। चतुर्थ कारण यह भी था कि शोगूनों के काल में निरन्तर शाँन्ति बने रहने से जापानी सामन्तों और सामुराई वर्गों में व्यापार की प्रवृत्ति बढ़ गई थी तथा वे भी यूरोपियनों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहते थे। युवक वर्ग भी यूरोपियन ज्ञान–विज्ञान के कारण उनकी ओर आकर्षित हुआ।

प्रथम प्रवेश और असफलता– चीन ने 206 ई. में हानवंश के काल में अपना विस्तार कर कोरिया में प्रवेश कर लिया था परन्तु 618 ई. के पश्चात् चीन निर्बल होनें लगा तथा उसके राज्यों में परस्पर संघर्ष होने लगे। इस कारण चीनी सम्राट समय–समय पर जापान से मदद भी लेते रहे तथा राजदूतों को एक–दूसरे के यहाँ भेजते रहे। जापानियों ने चीन के कन्फियूसियसवाद और बौद्ध धर्म को अपनाया तथा चीनी कला विज्ञान, साहित्य, संगीत को भी अपनाया। चीन को और अधिक निर्बल करने का कार्य किया मंगोलों के आक्रमणों ने इसी काल में यूरोपियनों के चीन में प्रवेश के संकेत मिलते हैं तथा माना जाता है कि जापान में भी यूरोपियनों का प्रवेश इसी काल में हुआ होगा जिसका आभास मार्कोपोलो अपने यात्रा विवरण में देता है। फिर भी सोलहवीं शताब्दि के मध्य में पुर्तगाल के सर्वप्रथम जापान में पहुंचने और व्यापार करने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इसके पश्चात् अन्य देश भी गये।

1. **पुर्तगाल का जापान में प्रवेश–** सोलहवीं शताब्दि के मध्य में सर्वप्रथम पुर्तगाली अफ्रीका का चक्कर लगाकर जब चीन गये तो जापान भी गये। इस प्रकार 1542 में पुर्तगाल और जापान का प्रथम सम्पर्क हुआ।
2. **स्पेन का जापान में प्रथम प्रवेश–** 16वीं शताब्दि के अन्त में स्पेन के जहाज भी इसी प्रकार जापान के तटों पर पहुँचने लगे।
3. **डचों और अंग्रेजों का प्रवेश–** हॉलैण्ड से डचों और ब्रिटेन से अंग्रेजों ने तोकूगावा शोगूनों के काल में पहुंचना आरम्भ किया। सत्रहवीं शताब्दि तक ये हिन्द महासागर और मलक्का अन्तरीप की यात्रा के बीच में ईंधन, पानी तथा सहायता के लिये जापानी बन्दरगाहों पर रुकने लगे थे।
4. **जापानियों द्वारा यूरोपियनों का स्वागत–** यूरोपियन जहाज फिलीपीन्स के निकट से जापान जाते थे। आरम्भ में ये क्यू शू फिर नागासाकी गये। यहाँ इन्होंने अपनी–

अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कीं। क्यू शू के जापानी व्यापारियों ने इनका हार्दिक स्वागत किया।

इसी प्रकार पश्चिमी ईसाई प्रचारक फ्रांसिस क्सेवियर पूर्वी एशिया और जापान गया। 1559 में यह क्योतो गया बाद में इसके साथी फ्रांसिस्कन और डोमिनिकन आदि ईसाई भी गये तथा इन्होंने जापानियों का धर्म परिवर्तन करवा कर उन्हें ईसाई बनाया। जापानी जनता ने इनका भी स्वागत और सम्मान किया। इन दोनों से जापानी व्यापारियों को अत्यधिक आर्थिक लाभ भी हुये। उनकी सम्पन्नता में पर्याप्त वृद्धि हो गई।

प्रश्न–3. प्रथम आंग्ल–चीन युद्ध के कारण एवं परिणाम बताइये।

अथवा

प्रथम अफीम युद्ध के कारण, घटनायें एवं परिणाम की समीक्षा कीजिये।

उत्तर– प्रथम अफीम युद्ध के कारण– प्रथम आंग्ल–चीन युद्ध की पृष्ठभूमि में अफीम–व्यापार प्रमुख तत्व था अतः इसे अफीम युद्ध भी कहते हैं। इसके निम्न कारण थे–

यूरोपीय साम्राज्यवाद– यूरोपीय देश फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी, नार्वे, स्वीडन, हॉलैण्ड और अमेरिका एवं एशियाई देश रूस उस समय साम्राज्य विस्तार में लगे थे। इसके प्रमुख कारण थे कि वे साम्राज्य विस्तार या उपनिवेशों की संख्या को प्रतिष्ठा, शक्ति और सम्पन्नता का कारण मानते थे। दूसरा कारण उपनिवेशों से यह सस्ते दामों पर कच्चा माल प्राप्त कर और महँगे दामों पर निर्मित माल बेच सकते थे और भारी धन या मुनाफा कमा सकते थे। अतः यह साम्राज्यवादी छल–बल से चीन में प्रवेश करना चाहते थे।

चीनी प्रतिबन्धों को हटाने का प्रयत्न– चीन की मंचूरिया सरकार ने विदेशियों तथा उनके व्यापार पर निम्न प्रतिबन्ध लगा रखे थे–

1. यूरोपीय विदेशियों को अपना सम्पूर्ण माल 'कोहांग' नामक व्यापारिक संस्था को बेचना पड़ता था तथा उसी से खरीदना पड़ता था। सभी चीनी व्यापारी भी अपना माल केवल कोहांग को ही खरीदते या बेचते थे।
2. व्यापारियों को केन्टन के बाहर (मकाओ) ही रहना पड़ता था। वे अपने परिवार केन्टन में नहीं ला सकते थे।
3. यूरोप को चीनी माल के लिये स्वर्ण और चांदी देना पड़ती थी।

इंग्लैण्ड तो चीन के साथ स्वतंत्र व्यापार करना चाहता था अतः उपरोक्त नियम समाप्त करवाने के लिये वह योजनायें बना रहा था। उसने अफीम–व्यापार को ही इसके लिये उपयोग किया।

ब्रिटिश नीति में परिवर्तन– ब्रिटेन के अंग्रेज व्यापार में बहुत चालाक थे। उन्होंने विचार किया कि चीनी माल के क्रय करने में स्वर्ण और चाँदी देना पड़ती है। अतः चीन में अपने माल का निर्यात किया जाये तो चीन से स्वर्ण और चांदी अधिक मिलेगी। परन्तु उसके पास चीन को देने के लिये कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं थी। इंग्लैण्ड की घटिया और भद्दी वस्तुयें वहाँ बिकती नहीं थीं। अतः ब्रिटिश सरकार ने चालाकी से अफीम का चीन में बाजार बनाने का प्रयत्न किया।

प्रथम आंग्ल–चीन (अफीम) युद्ध– अंग्रेजों की निम्नस्तरीय आकांक्षा ने चीनियों में अनुचित आदत डाली तथा चीनियों में व्याप्त भ्रष्टाचार और राष्ट्रीयता के अभाव के कारण और आर्थिक संकट के होते हुये प्रथम अफीम युद्ध हो गया। चार वर्षीय (1839–1842) इस युद्ध में चीन अंग्रेजों को पराजित करने में असफल रहा तथा अंग्रेजों ने प्रशान्त सागर के ट के चिन्क्यांग और नानकिंग पर अधिकार कर लिया और चीन को समर्पण करना पड़ा।

नानकिंग संधि– 29 अगस्त, 1842 को सम्पन्न इस संधि में चीन ने विवश होकर नकिंग में ये शर्तों को स्वीकार किया–

1. केन्टन, अमाय, फूचो निंगपो तथा संघाई में अंग्रेजों को रहने–बसने के अधिकार मिल गये और वार्तालाप के लिये एलची (मध्यस्थ) नियुक्त करने का भी अधिकार मिल गया।
2. हांगकांग का द्वीप भी अंग्रेजों को मिल गया।
3. अंग्रेज कर्मचारियों को चीनी कर्मचारियों के समान माना गया तथा समानता के आधार पर वार्ता का अधिकार मिला।
4. चीन के आयात–निर्यात माल पर सीमा–शुल्क की दर निश्चित कर प्रकाशित करने की माँग चीन ने स्वीकार की।
5. 'कोहांग' तोड़ दिया गया अब अंग्रेज चीनियों को प्रत्यक्ष रूप से माल का क्रय–विक्रय कर सकते थे।
6. चीन ने ब्रिटेन को 10 करोड़ रुपये क्षति–पूर्ति में दिये।
7. संधि की शर्तें प्रत्येक 10 साल बाद संशोधित की जायेंगी।

परिणाम– इस संधि का प्रथम महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि युद्ध जिस बात के लिये (अफीम पर प्रतिबन्ध) किया था उसका इस संधि में कोई उल्लेख नहीं था तथा यह व्यापार पहले से भी अधिक उत्साह से अंग्रेजों ने आरम्भ किया।

मनोवृत्ति स्पष्ट हुई– इस संधि से अंग्रेजों की यह नीच मनोवृत्ति स्पष्ट हो गई कि अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये वह किसी भी देश को कमजोर करने, वहाँ की जनता के विनाश के लिये और कितनी भी हानि पहुँचाने के लिये कोई भी घृणास्पद कदम उठा सकते थे। चीन के साथ उन्होंने ऐसा ही किया और सम्पूर्ण चीन को अफीम के नशे में डुबो दिया। इस संधि से चीन को भारी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्षति उठानी पड़ी।

राजनीतिक– चीन में ब्रिटेन की स्थिति तो सुदृढ़ हो गई तथा उसने चीन को इतना शक्तिहीन कर दिया कि अन्य यूरोपीय और एशियाई देशों को उसे लूटने के और दबाने के अधिकार मिल गये। अमेरिका, नार्वे, स्वीडन, फ्रांस, हॉलैण्ड, जर्मनी को भी चीन में रहने, बसने, अपने धर्म का प्रचार करने, चीनियों का धर्मान्तरण करने तथा चीनी कानूनों से मुक्ति तथा सीधे मुक्त व्यापार की छूट मिल गई। इस प्रकार चीन की प्रभुसत्ता नाममात्र की रह गई। विभिन्न देशों के उपनिवेश चीन में स्थापित हो गये।

सामाजिक– चीन में यूरोपियनों की संख्या में वृद्धि हो गई। वे उचित–अनुचित तरीकों से चीनियों को ईसाई बनाने लगे। उनकी सभ्यता, शिक्षा, साहित्य को नष्ट करने में जुट गये। इस कारण चीनियों में असन्तोष भी उत्पन्न हुआ।

आर्थिक– अफीम युद्ध तो एक बहाना था। इसके कारण जो संधियां सम्पन्न हुईं उससे इंग्लैण्ड और अन्य देशों के निर्मित उत्पादन को बाजार मिल गया जिससे चीन के स्वयं के उद्योग, कला, व्यापार, यातायात को भारी हानि उठाना पड़ी। यूरोपीय देशों को बन्दरगाह तथा कोठियाँ बनाने के स्थान और कानूनों में छूट मिलने से बहुत अधिक लाभ हुये। चीन का जितनी मात्रा में शोषण हुआ उससे कहीं अधिक रेशम, सूती वस्त्र का क्रय–विक्रय विदेशी करने लगे। 'कोहांग' तो सर्वदा के लिये समाप्त कर दिया गया। चीन में बेकारी, गरीबी, अपराध, भ्रष्टाचार आदि की वृद्धि हो गई।

धार्मिक– चीन में कैथोलिकों का आगमन अधिक संख्या में होने लगा। इनके साथ–साथ अन्य ईसाई पन्थ भी पहुंचे। प्रत्यक्ष में यह धार्मिक सम्प्रदाय थे परन्तु इनके उद्देश्य राजनीतिक और द्वेषपूर्ण थे।

राष्ट्रीयता का जागरण– मंचूरिया सरकार भ्रष्ट, अयोग्य और दुर्बल थी तथा विदेशी पूरी तरह से चीन को लूटने और नष्ट करने में लगे थे। अतः इन दोनों के ही खिलाफ चीन में 1847 तक 26 और 1864 तक लगभग 100 विद्रोह हुये। इन्हीं में सर्वाधिक शक्तिशाली ताईपिंग विद्रोह था तथा विद्रोहियों ने समानान्तर ताईपिंग सरकार भी बना ली। यद्यपि यह विद्रोह यूरोपियनों के संयुक्त प्रयासों से मंचूरिया सरकार ने दबा दिया। परन्तु भविष्य के लिये यह चीनियों के लिये प्रेरणा बन गया तथा बाद में अनेक राष्ट्रीय दलों का निर्माण हुआ।

निष्कर्ष– प्रथम अफीम युद्ध, अंग्रेजों के स्वार्थहीन स्तर, घृणास्पद कार्य और चीनियों के सर्वाङ्गीण विनाश की आकांक्षा का परिणाम था जिसने चीन के द्वार सभी देशों के लिये खोल दिये तथा जिससे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक असन्तोष का निर्माण हुआ और इसी के कारण ताईपिंग विद्रोह सम्पन्न हुआ। इसी से चीनी सरकार की अयोग्यता और निर्बलता स्पष्ट हुई तथा राष्ट्रीय संघर्षों का आरम्भ हुआ।

प्रश्न–4. द्वितीय अफीम युद्ध के कारण बताइये।

अथवा

द्वितीय आंग्ल–चीन युद्ध के कारणों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– **द्वितीय अफीम युद्ध**

आंग्ल–चीन युद्ध के कारण– विदेशियों में अंग्रेज सर्वप्रमुख थे, जिनसे पराजित होने पर चीन को अपने द्वार सभी विदेशियों के लिये खोलना पड़े थे और अनुचित मांगें स्वीकार करना पड़ी थीं। अतः चीनी सरकार ने अंग्रेजों को बाहर निकालने के लिये प्रयत्न आरम्भ किये। इसके लिये अनेक कारण भी थे, जिनसे यह निश्चय करना पड़ा–

1. विदेशियों की प्रभुत्व की आकांक्षा में वृद्धि– चीन को पराजित कर, चीन में सुविधा और अधिकार पाकर विदेशी, विशेषकर इंग्लैण्ड अत्यन्त घमण्डी तथा प्रभुत्व का आकांक्षी बन गया तथा वह अपने व्यापारिक और राजनीतिक अधिकारों तथा लाभों के लिये चीन की सरकार को दबाते रहते थे। वह चाहते थे चीन सरकार वही कानून बनाये जो उनके लिये हितकर हों। इस प्रकार वह चीनी सरकार को अपने इशारे पर चलाना चाहते थे। अतः उसके जन–हितैषी और सुधारवादी कार्यक्रमों को विदेशी कार्यान्वित ही नहीं होने देते थे।

2. ईसाइयों के अपराध– यूरोपीय देशों को राज्य क्षेत्रातीत अधिकारों के अनुसार ईसाई पादरियों को धार्मिक प्रचार की तथा चीन में कहीं भी आने–जाने की और चर्च बनाने की छूट मिली हुई थी। परन्तु ईसाई पादरी धर्म सेवक या जनसेवक नहीं थे वास्तव में वह सफेद धार्मिक चोगे में भेड़िये थे। पादरी चाहे कैथोलिक हों या प्रोटेस्टेंट, इंग्लैण्ड के हों या फ्रांस के सभी भ्रष्ट, राजनीतिक तथा आपराधिक कर्मों में लिप्त थे। जब चीनी इनके अनुचित कार्यों का विरोध करते थे तो यह उन पर अत्याचार और हत्या तक कर देने पर उतर आते थे।

3. चीन और यूरोपियन देशों में मतभेद– चीन और यूरोपियन देशों में अनेक विषयों पर मतभेद उत्पन्न हो चुके थे जिससे दोनों के मध्य मतभेद बढ़ते जा रहे थे। केन्टन के पास एक चीनी व्यापारी अपना एक जहाज 'लार्चा एरो' नामक बन्दरगाह पर खड़ा था। इसकी रजिस्ट्री हांगकांग में हुई थी और इस पर ब्रिटेन का अधिकार था। चीनी सरकार ने इसके नाविक को पकड़ लिया। इंग्लैण्ड ने तर्क दिया कि इसकी रजिस्ट्री हांगकांग में होने से इसे अंग्रेजी अधिकार था। परन्तु चीनी सरकार ने इसे अंग्रेजों का नहीं हांगकांग का मानकर कार्यवाही की तथा इंग्लैण्ड के तर्क को उसे बचाने के लिये इंग्लैण्ड की चालाकी समझा। यह घटना गम्भीर रूप से युद्ध के निकट पहुंच गई परन्तु चीनी सरकार ने अपनी विवशता के कारण इंग्लैण्ड की नुचित मांग के सम्मुख एक बार पुनः झुकने का निश्चय किया। चीनी सरकार ने बन्दियों को

रिहा कर दिया परन्तु इंग्लैण्ड ने इस रिहाई को बिना हर्जाने या क्षमायाचना के बिना स्वीकार नहीं किया। इससे युद्ध आवश्यक हो गया।

4. अफीम व्यापार– प्रथम आंग्ल–चीन युद्ध भी अफीम के अवैध व्यापार के कारण हुआ था परन्तु युद्ध में चीन की पराजय हो जाने से चीनी सरकार इसे रोकने में असमर्थ रही। बल्कि अंग्रेजों ने इस व्यापार को और अधिक बढ़ाकर चीनी जनता के चरित्र को निरन्तर भ्रष्ट किया। अभी भी मंचूरिया–सरकार इस व्यापार को रोकना चाहती थी। ताईपिंग सरकार ने तो इसे प्रतिबन्धित कर दिया था। परन्तु विदेशियों ने उसे भी पराजित कर पुनः अफीम का विक्रय चीन में बड़े पैमाने पर आरम्भ कर दिया तथा बड़े पैमाने पर इससे मुनाफा कमाने में लगे थे। अफीम के व्यापार पर इंग्लैण्ड का एकाधिकार था। अतः संघर्ष भी प्रमुख रूप से उसी से होना था।

5. मंचूरिया सरकार की अप्रसन्नता और राष्ट्रीय जागरण– मंचूरिया सरकार बार–बार अपनी पराजयों, अनुचित संधियों के कारण यूरोपियनों की और चीनी जनता की दृष्टि में प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण खो चुकी थी और इसी कारण ताईपिंग क्रांति भी हो चुकी थी। वह असफल होकर भी मंचूरिया सरकार को यह ज्ञान करवा गई कि यदि चीन पूरी तरह से विदेशियों के अधिकार में चला गया तो उनके शासन का अन्त हो जायेगा। विदेशी सहायता ने पहले ही उसे पर्याप्त पंगु बना दिया था और ताईपिंग विद्रोह के बाद तो चीनी सरकार विदेशियों के संधियों के विपरीत, अनुचित और अवैध कार्य रोकने में सक्षम नहीं रह गई थी। विदेशियों के खिलाफ राष्ट्रीय संघर्ष भी चला रहे थे। अतः उसने सोचा कि एक बार पुनः पश्चिमी शक्तियों से युद्ध किया जाये। इससे मंचूरिया सरकार जनता में तो लोकप्रिय होगी तथा जनता उसका समर्थन करने लगेगी। इससे उसे सुदृढ़ता भी प्राप्त होगी।

प्रश्न–5. ताइपिंग विद्रोह के कारणों की विवेचना कीजिये एवं उसके परिणाम बताइये।

अथवा

चीन में ताइपिंग विद्रोह के कारणों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– चीन में पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी और विनाशकारी घुसपैठ ईसवी सन् से ही आरम्भ हो चुकी थी तथा ताईपिंग विद्रोह तक बड़ी मात्रा में ईसाई, इटालियन, पुर्तगाली, स्पेनी, डच और अंग्रेज चीन से व्यापार करने लगे थे। इस मध्य उन्होंने रेशम के कीड़ों की चोरी, अवैध अफीम के विक्रय, चीन पर दो बार आक्रमण और संधि के लिए विवश करने आदि के अनेक हानिकारक कार्य किए। चीन की मंचूरिया सरकार इन विदेशियों के व्यापार, घुसपैठ, आक्रमण और देश से आगमन को रोकने में असफल रही। विदेशी शोषण, दासता से मुक्त होने तथा भ्रष्ट और अयोग्य शासन को समाप्त कर स्वतंत्र सरकार की स्थापना के लिए चीन के राष्ट्रवादियों ने संघर्ष की एक योजना बनाई जिसे 'ताईपिंग–क्रांति' कहते हैं परन्तु अंग्रेजों ने इसे 'ताईपिंग विद्रोह' की संज्ञा दी है।

1. यूरोपियनों का चीन में प्रवेश– चीन में फ्रांस, नार्वे, स्वीडन, इंग्लैण्ड आदि देशों ने विश्व में अपने साम्राज्य विस्तार तथा निर्बल देशों के आर्थिक, धार्मिक शोषण तथा स्वयं को आर्थिक रूप से सम्पन्न करने के लिए आक्रामक, नैतिक, अनैतिक और विश्वासघाती नीतियों को प्रयुक्त किया। इसी कारण चीन को दो बार अफीम युद्धों में पराजित होकर विदेशियों को (इंग्लैण्ड) अनेक राजनीतिक और आर्थिक सुविधाएं देने को विवश होना पड़ा। शीघ्र ही इन्होंने चीन की लूट–खसोट आरम्भ कर दी। अतः देशभक्त चीनियों ने विदेशियों को दी गई सुविधाओं और अयोग्य मंचूरिया सरकार के खिलाफ संघर्ष आरम्भ कर दिए।

2. अयोग्य सत्ता परिवर्तन की प्रथा– चीन में धार्मिक परम्परा थी कि चीनी जनता सम्राट को ईश्वर–प्रदत्त सम्प्रभु मानती थी तथा उसके आदेशों को मानना और सम्मान करना ईश्वर

के आदेशों को मानना समझती थी। परन्तु उनमें यह भी विश्वास था कि जब ईश्वर सम्राट से अपने अधिकार और कृपा वापस ले लेता है तो सम्राट निर्बल और अयोग्य हो जाता है। अतः उसे सम्राट पद पर बने रहने का अधिकार भी नहीं रहता। चीन में अयोग्य सम्राटों को हटाने के लिए प्रयत्न करना आध्यात्मिक आदेश माना जाता था। 1664 के पूर्व लगभग 100 संघर्ष हुए और 1796 से 1803 तक 'श्वेत समाज' ने ऐसे ही संघर्ष किए थे। एक मात्र वर्ष 1847 में 26 संघर्ष हुए। इन्हीं में ताईपिंग संघर्ष प्रमुख था जो मंचूरिया सम्राट ताओ-कुआंग और हेसन-फेंग (सियेन फेंग) बिल्कुल अयोग्य थे। इनके कर्मचारी भी अत्यन्त भ्रष्ट, देशद्रोही तथा अफीम की कीमत में स्वयं को तथा राष्ट्र को बेचने के लिए तैयार रहते थे। इसलिए देशभक्तों की प्रतिक्रिया, क्रोध इनके काल में (1820-1850) प्रगट हुए।

3. **किसानों की दुर्दशा–** चीन में पहले से ही भ्रष्ट सामन्तीय व्यवस्था के कारण कृषि की दशा खराब थी अब विदेशियों ने अधिक लगान वसूली, उन पर राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और लाभ के लिए अपनी जमीनें बेचने को विवश हो गए। देश में भुखमरी और संघर्ष आरम्भ हो गए। किसान ऋण ग्रस्तता के शिकार हो गए। आंग्ल-चीनी युद्धों के परिणामस्वरूप मंचूरिया-सरकार ने विदेशियों को देने के लिए क्षतिपूर्ति धन किसानों से वसूल करना आरम्भ कर दिया। इससे किसान अपनी और विदेशी सरकार के शिकंजे में फंसकर अपनी भूमि छोड़कर या तो भागने के लिए या सस्ते दामों पर बेचने के लिए विवश हो गया। ताईपिंग देशभक्तों पर विश्वास करने लगा।

4. **दक्षिण-चीन में दुर्भिक्ष एवं बाढ़–** जब चीन में कृषक, श्रमिक और सामान्य वर्ग स्वदेशी तथा विदेशी अत्याचारों से पिस रहे थे तभी 1846-47 के क्वांगशी, हुनान एवं क्वांगतुन में लगातार दुर्भिक्ष और बाढ़ के प्रकोप भी उत्पन्न हुए। इस महामारी ने भूखी जनता को मारने के लिए विवश किया। भ्रष्ट सरकारी और विदेशियों ने इसका लाभ उठाना आरम्भ कर दिया, दूसरी ओर देशभक्त चीनी नेताओं ने जन-आक्रोश को सरकार के खिलाफ तथा विदेशियों के अत्याचारों के खिलाफ संगठित किया। इनमें 'हुंग-हिसओ-चुआन' प्रमुख था जिसने सत्ता परिवर्तन के लिए उसे स्वर्ण अवसर माना।

5. **सैनिक दुर्बलता–** सैनिक शक्ति प्रत्येक सरकार का आधार होती थी। मंचूरिया सरकार का यह आधार ही क्षीण हो गया। विशिष्ट वर्ग से सैनिक भर्ती, सेना में सामन्तीय व्यवस्था, अनुशासन का अभाव, आधुनिक शस्त्रों और शिक्षा की कमी, सैनिक अधिकारियों के स्वार्थ और भ्रष्टाचार ने चीन के सैनिक संगठन को प्रभावित किया। उसकी सैनिक दुर्बलता दो अफीम युद्धों, संधियों, विदेशियों की अनुचित मांगों की विवश-स्वीकृति से स्पष्ट हो चुकी थी। एक ओर सैनिक दुर्बलता मंचूरिया-शासन को निरन्तर पंगु बनाकर विदेशियों के सम्मुख घुटने टेकने को विवश कर रही थी तो दूसरी ओर चीनी देशभक्तों में राष्ट्रीय संघर्ष की सफलता का विश्वास पैदा कर रही थी।

6. **चीन-व्यापी अराजकता और भूमिगत क्रांति–** ताओ-कुआंग और हसान-फेंग दोनो ही अत्यन्त दुर्बल शासक थे। इनके कार्यकाल में चीन में भ्रष्टाचार, विदेशी हस्तक्षेप और जनता का दमन बहुत बढ़ चुके थे। अतः देश में सैनिक और सामाजिक अराजकता उत्पन्न हो चुकी थी। दुर्भिक्षों ने इसे और अधिक बढ़ाया। हुनान प्रान्त में 1843 में चावल के निर्यात को रोकने के लिए आदि फिर 1844 में फारमोसा आदि में संघर्ष होने लगे जिसकी चिंगारी क्वातुंग और सम्पूर्ण चीन में फैल गई। इन दशाओं में अनेक गुप्त क्रांतिकारी संगठन बनने लगे।

1849 में क्वातुंग में भारी दुर्भिक्ष पड़ा। इसी समय चीनी नेता हुंग-हिसओ-चुआन ने धार्मिक संस्था "शांत ही हुई" का गठन किया। परन्तु उसने 1849 में इसे राजनीतिक

रूप दिया और ताईपिंग में संघर्ष आरम्भ कर दिया। जनवरी 1851 को 'ताईपिंग-तिएन-कुओ' नाम से दैवी राज्य स्थापना की घोषणा करके स्वयं ने तियेन-वांग अर्थात् ईश्वरीय सम्राट की उपाधि धारण की।

ताईपिंग क्रांति की प्रगति– ताईपिंग के क्रांतिकारियों ने विजय अभियान में ह्वानयांग, वूचांग, बूहू और अनेक प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। चिनकियांग, यांगचाओ, क्योचाओ आदि पर भी अपनी सत्ता स्थापित कर दी। नानकिंग की विजय के बाद उसे अपनी राजधानी बनाया। उत्तर दिशा में यद्यपि उन्हें कोई सफलता नहीं मिली परन्तु दक्षिण के 18 प्रान्त पर उनका अधिकार हो गया तथा ताईपिंग सरकार ने इन पर शासन करना आरम्भ कर दिया।

ताईपिंग क्रांति का स्वरूप– इतिहासकार क्लाईड ने ताईपिंग क्रांति को किसानों, धार्मिक और नैतिक आन्दोलन बताया है। यह उस वंश के खिलाफ एक प्रतिक्रिया थी जिससे ईश्वर ने अधिकार छीन लिए थे। यह एक ओर राष्ट्रीय जागृति और मंचूरिया शासन तथा विदेशी दासता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया थी।

ताईपिंग सरकार के कार्य– ताईपिंग सरकार ने सर्वाधिक ध्यान कृषि सुधार पर ध्यान दिया। उसने जागीर व्यवस्था को समाप्त कर किसानों की रक्षा की। प्रत्येक वयस्क किसान को भूमि दी। परिवार की आवश्यकता के लिए पर्याप्त अनाज छोड़कर सम्पूर्ण अनाज सरकारी गोदामों में रखा। तीन वर्ष के लिए लगान माफ कर दिया। रेशम, सूती वस्त्रों के उत्पादनों पर सरकारी नियंत्रण लगाए गए। लड़कों, लड़कियों के विवाह के अवसर पर, जन्म और मृत्यु पर सभी को समान मात्रा में धन मिलता था। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिए गए। शिक्षा और सरकारी नौकरियों में योग्यता की समानता को महत्व दिया गया। वैश्यावृत्ति, बहु विवाह और दहेज को अवैध घोषित कर दिया गया। सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया गया। इन सुधारों की अनेक यूरोपियनों ने भी प्रशंसा की।

ताईपिंग क्रांति का दमन– ताईपिंग क्रांति 1864 तक अत्यन्त वेग के साथ चली। परन्तु इसने विदेशी साम्राज्यवादियों को भी सचेत और सक्रिय कर दिया। सभी विदेशी चीन में भ्रष्ट और उनके स्वार्थों की पूर्ति में सहायक मंचूरिया वंश को स्थिर रखना चाहते थे अतः ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और अमेरिका ने मंचूरिया सम्राटों के सम्मुख 30 लाख तायल में ताईपिंग क्रांति के दमन का प्रस्ताव रखा। मंचूरिया शासन ने शीघ्र ही इसकी स्वीकृति दे दी। अतः इनकी संयुक्त सेनाओं ने 1863 में सुचाऊ और 1864 में नानकिंग पर अधिकार कर लिया। निराश हुंग-हिसऊ-चुआन ने आत्महत्या कर ली और ताईपिंग क्रांति समाप्त हो गई।

ताईपिंग क्रांति की असफलता के कारण– ताईपिंग क्रांति मंचूरिया शासन की समाप्ति और विदेशियों को बाहर निकालने के उद्देश्य से उत्पन्न हुई थी। जन-समर्थन भी इसे पर्याप्त मिला परन्तु यह अपने उद्देश्यों को पूरे किए बिना समाप्त हो गई। इसके निम्नलिखित कारण थे-

1. **यूरोपीय और रूसी शक्तियाँ–** मंचूरिया वंश में ताईपिंग क्रांति का दमन करने की शक्ति नहीं थी। ताईपिंग क्रांति के चलते चीन में विदेशी व्यापार को भारी हानि उठाना पड़ रही थी अतः उन्होंने क्रांति दमन का प्रस्ताव मंचूरिया सरकार के सम्मुख रखा। वह भी 30 लाख तायल लेकर। सभी सेनाओं के अत्याधुनिक शस्त्रों और युद्ध प्रणाली का सामना ताईपिंग क्रांतिकारियों के अविकसित शस्त्र और सैनिक नहीं कर सके। सन् 1864 में ताईपिंग क्रांति समाप्त हो गई।

2. **धार्मिक कारण–** विदेशी चीन में ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। क्रांति नेता हुंग-हिसऊ-चुआन ने नवीन धर्म एवं दर्शन की व्याख्या की। इसमें ईसाई सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों को आधार बनाया गया था। परन्तु चीनी जनता अभी भी कन्फ्यूसियस एवं ताओ के

दर्शन में विश्वास करती थी। इस कारण चीन के शासक ने जनता को क्रांतिकारियों के खिलाफ भड़काया। जिससे चीन में धार्मिक फूट उत्पन्न हो गई, इसका लाभ विदेशी और मंचूरिया सेनाओं ने उठाया।

3. **ताईपिंग सेनाओं का चारित्रिक अवमूल्यन–** आरम्भ में ताईपिंग नेता और सैनिक महान राष्ट्रवादी आदर्शों से प्रेरित थे। अतः उन्होंने जनता को आकर्षित किया। किन्तु क्रांतिकारी नेता भी सत्ता और प्रभुता पाकर विलासी, सुन्दरी प्रेमी और कामुक बन गए। हुंग–हिसऊ–चुआन ताईपिंग क्रांति का जनक और सर्वोच्च नेता था जो अपने रनिवास में 2,000 स्त्री सेविकाएं और 64 पत्नियाँ रखता था तथा उसे इतनी पत्नियों पर गर्व भी था। इसी प्रकार अन्य नेता भी विलासी, स्त्रीखोर और अनान्दोत्व में निमग्न रहते थे। इस प्रकार पुरानी सामन्तशाही को नवीन वेश में लौटते देखकर जनता इनसे विमुख हो गई।

4. **नवीन शासन प्रणाली–** नवीन शासन प्रणाली अच्छी होते हुए भी उसने सशक्त अमीरों और सामन्तों को क्रांति–विरोधी बना दिया। उनसे जमीन छीनकर किसानों को देना, लगान माफी आदि कार्यों ने किसानों को उद्दण्ड और अनुशासनहीन बना दिया। इसके कारण जनता कई भागों में बंटकर फूट का शिकार हो गई। साम्यवादी कार्यों को अपनाने से भी विदेशी पूंजीवादी शक्तियाँ और मंचूरिया शासन भी क्रांति–विरोधी हो गए।

5. **क्रांतिकारी नेता की मृत्यु–** 1864 में विदेशी संयुक्त सेनाओं से पराजित होकर ताईपिंग नेता बड़ी मात्रा में पकड़े गए और मारे गए तथा हुंग–हसिऊ–चुआन ने आत्महत्या कर ली। इसके कारण क्रांति–संगठन, शस्त्रास्त्र निर्माण, क्रांति–विचारों का प्रसार–प्रचार रुक गया। अतः क्रांति समाप्त हो गई।

ताईपिंग क्रांति का महत्व एवं परिणाम– ताईपिंग क्रांति के दूरगामी सुखद और दुःखद परिणाम निकले।

(अ) दूरगामी सुखद परिणाम– 1854 में ताईपिंग विद्रोहियों ने सामान्य जनता को भ्रष्ट शासन एवं विदेशी आक्रमणों के खिलाफ जाग्रत किया। उन्हें संघर्ष के लिए तैयार किया। बाद में ताईपिंग सरकार स्थापित कर जनता को नवीन शासन प्रणाली से परिचित करवाया। किसानों को साहूकारों और जागीरदारों से मुक्त करवाकर अत्याचारों और शोषण से छुड़ाया। स्वायत्त शासन के द्वारा सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया एवं जनता को उसका प्रशिक्षण दिया गया। भूमि, उद्योग, यातायात, उत्पादन में साम्यवादी व्यवस्था का आश्रय लिया। भूमि या सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर जागीर या पूंजीवाद की वृद्धि पर नियंत्रण लगाया गया। स्त्रियों को समान अधिकार, दहेज प्रथा पर रोक, नौकरियों में योग्यता की समानता और समानता के आधार पर शिक्षा आदि कार्यक्रमों ने जनता में आत्मविश्वास, की भावना को उत्पन्न किया।

स्वदेश भक्ति, स्वतंत्रता, विदेशियों से मुक्ति आदि की राष्ट्रीय भावनाएं उत्पन्न कर उन्हें संगठित किया। इससे वे विदेशी–घुसपैठियों का बहिष्कार करने लगे। इस प्रकार ये भावनाएं ताईपिंग क्रांति के साथ दफनाई नहीं जा सकीं और भविष्य में उग्र रूप में प्रगट हुईं। जिन्होंने सभी विदेशियों को बाहर निकाल दिया और मंचूरिया शासन को समाप्त कर गणतंत्रात्मक व्यवस्था स्थापित कर दी।

(ब) ताईपिंग क्रांति के दुःखद परिणाम– ताईपिंग क्रांति का मूल आधार राष्ट्रीय भावनाएं, विदेशियों का निष्कासन और भ्रष्ट शासन का अन्त करना था। इसने मंचूरिया शासन और विदेशियों को उग्र, दमनशील, भ्रष्ट और अनियंत्रित अधिकार सम्पन्न किया।

मंचूरिया शासन क्रांति दमन में विदेशियों से मदद लेने के लिए विवश हो गया तथा विदेशी धन, अधिकार, सुविधा तथा जमीन प्राप्त करने की शर्तों पर तैयार हो गए। इन्होंने

बेरहमी से चीनी जनता, उनके उद्योग–धन्धों, शिल्प, व्यापार आदि को कुचल डाला जिसके कारण दुर्भिक्ष, अकाल, भुखमरी, बेकारी बढ़ गई। शासन में और अधिक भ्रष्टाचार, निर्बलता उत्पन्न हो गई। किसान, स्त्रियों, श्रमिकों की दशा बहुत अधिक गिर गई। पुनः सामंत वर्ग और उनके अत्याचार होने लगे। विदेशियों को धन देने के लिए चीनी सरकार ने अधिक से अधिक कर जनता पर लगाए तथा धन के बदले में महत्वपूर्ण स्थान और सुविधाएं देने के लिए सरकार को बाध्य करने लगे। इससे मंचूरिया वंश का पतन शीघ्रता से होने लगा।

युद्ध चीन की भूमि पर होने से कृषि, उद्योग, मार्ग आदि नष्ट हो गए अतः जनता जो 1864 में दबा दी गई थी भुखमरी, विदेशी आक्रमण से आक्रांत होकर पुनः क्रान्ति के लिए तैयार हो गई। 1864 के पश्चात् चीनी व्यवस्था के दोष प्रगट हो गए तथा पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान और प्रगति ने चीन को प्रभावित किया। चीन में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सुधारों के युग का आरम्भ हुआ। अनेक शिक्षण संस्थाएं स्थापित हुईं, समाचार–पत्रों का प्रकाशन हुआ। प्रान्तीय परीक्षाओं, औद्योगिक शिक्षा तथा 'शत दिवसीय' सुधार सम्पन्न हुए। इसके अलावा बॉक्सर विद्रोह और 1911 की प्रसिद्ध क्रांति भी हुई। इस प्रकार ताईपिंग क्रांति अपने विनाश के साथ भावी संघर्ष, स्वतंत्रता और साम्यवादी शासन की नींव रख गई।

प्रश्न–6. बॉक्सर आंदोलन का वर्णन कीजिये और चीन के इतिहास में इसके महत्व का मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

बॉक्सर युद्ध (बॉक्सर विद्रोह) से क्या तात्पर्य है? बॉक्सर विद्रोह के कारण, घटनायें एवं असफलता के कारणों का वर्णन कीजिये।

अथवा

चीन में बॉक्सर आन्दोलन के कारण एवं परिणामों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

बॉक्सर विद्रोह के कारणों और परिणामों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर– भ्रष्ट चीनी शासन को समाप्त करने तथा विदेशी साम्राज्यवादियों को चीन से बाहर निकालने की 'ताईपिंग–भावना' समाप्त नहीं हुई थी। वास्तव में चीन की जनता और सरकार विदेशी घुसपैठ, नानकिंग और टिन्टसिन की संधियों 1894 के जापानो आक्रमण से परेशान थे। अतः जनता ने 1899 में पुनः दोनों शक्तियों के खिलाफ उग्र असन्तोष प्रगट किया। इसको बॉक्सर संघर्ष कहा जाता है।

बॉक्सर संघर्ष का अर्थ एवं स्वरूप– चीन में 'इ–हो–चुआन' नामक गुप्त क्रांतिकारी संस्था का निर्माण हो चुका था। इसके सदस्य चीन की एकता, संगठन और शक्ति में विश्वास करते थे। इसी आधार पर इन्होंने 1899 में विदेशियों को बाहर निकालने का अभियान चलाया। इन्होंने 'मुक्के मारकर विदेशियों को चीन से बाहर करने' की भावना का सूत्रपात भी किया। मुक्का अथवा मुष्ठि शक्ति; एकता और संगठन की प्रतीक मानी जाती है। इस संघर्ष को 'बॉक्सर आन्दोलन' कहा जाता है।

बॉक्सर संघर्ष के कारण– बॉक्सर आन्दोलनकारी अनेक कारणों से मंचूरिया सरकार तथा विदेशियों से असन्तुष्ट थे और दोनों के ही खिलाफ संघर्षशील थे। इन कारणों का संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार है–

1. **सुधार आन्दोलन की असफलता–** ताईपिंग संघर्ष की समाप्ति के पश्चात् चीनी देशभक्तों को यह समझ आया कि अभी चीन में देशभक्ति निःस्वार्थ संघर्ष, संगठन और जागृति का अभाव है। अतः उन्होंने अनेक सुधारवादी आन्दोलन आरम्भ किये। इसमें पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान, धर्म, राजनीति को अपनाया गया। आर्थिक क्षेत्र में भी जापान के समान प्रगति करने

के प्रयास किये गये। इन सुधारों के अन्तर्गत चीन में यूरोपियनों को धर्म-प्रचार की सुविधायें, समुद्री बन्दरगाहों के पट्टे, विदेशी स्कूलों, अस्पताल आदि निर्माण की अनुमति, विदेशी रेल-मार्गों के निर्माण के अधिकार दिये गये। परिवहन के विकास, लोह कारखाने के निर्माण आदि कार्य भी किये गये। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी होने लगा। डॉ. सनयात सेन आदि ने पश्चिमी ज्ञान प्राप्त किया था तथा उन्होंने सुधारों के लिये सरकार से माँग की। 11 जून, 1898 को चीनी सम्राट ने शत-दिवसीय सुधारों की घोषणा की। परन्तु सम्राट ने अधिक भावुकता से सुधार कार्य आरम्भ कर प्रतिक्रियावादियों और विदेशियों को असन्तुष्ट बना दिया। चीनी जनता भी सुधारों के प्रति उदासीन बनी रही और सुधार आन्दोलन जन-आन्दोलन नहीं बन सकता अतः सभी सुधार योजनायें असफल हो गईं जिसके लिये बॉक्सरों ने सरकार और विदेशियों को उत्तरदायी ठहराया तथा संघर्ष के लिये जनता को प्रेरित किया।

2. **विदेशियों के प्रति विरोधी प्रतिक्रिया–** चीन को विदेशियों के साथ संघर्ष में निरन्तर 1842, 1858, 1860 और 1894-95 में पराजय देखनी पड़ी। इससे चीन को अपमान के साथ शोषण और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा। अतः चीन में विदेशी आक्रमण और अनैतिक आचरण के खिलाफ प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। ताईपिंग क्रांति ने भी पर्याप्त जागृति उत्पन्न कर दी थी। पश्चिमी ज्ञान से प्रेरित और शिक्षित वर्ग ने भी यूरोपियनों, जापान और रूस के विरोध के लिये संघर्ष आरम्भ किये। बॉक्सर नेता इसी प्रकार के शिक्षित नेता थे। उन्होंने नारा लगाया 'देश को बचाओ, विदेशियों को समाप्त करो।'

बॉक्सर संघर्ष के कारण
1. सुधार आन्दोलन की असफलता
2. विदेशियों के प्रति विरोधी प्रतिक्रिया
3. चीन सरकार की निर्बलता और विदेशी नियंत्रण
4. धार्मिक प्रतिक्रिया

3. **चीन सरकार की निर्बलता और विदेशी नियंत्रण–** चीनी सम्राट अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुये। उनमें प्रशासन और सैनिक क्षमता नहीं रही। बारम्बार की पराजयों से उन्हें विदेशियों के सम्मुख घुटने टेकने को विवश होना पड़ा तथा अनुचित सुविधायें देने के लिये बाध्य होना पड़ा। चीनी सरकार अफीम के व्यापार, अधिकारियों के नैतिक, राष्ट्रीय चरित्र के पतन को रोकने में असमर्थ रही। इससे चीन पर विदेशी शासन स्थापित हो जाने का भय उत्पन्न हो गया। चीनी भारत, फिलीपीन्स, बर्मा आदि देशों में भ्रष्ट अंग्रेजों के आधिपत्य से परिचित हो चुके थे। अतः बॉक्सरों ने विदेशियों के खिलाफ संघर्ष का निश्चय किया।

4. **धार्मिक प्रतिक्रिया–** चीन में यूरोपियनों के प्रवेश के साथ-साथ ईसाई प्रचारक और पादरी भी पहुँचे। ईसाई पादरियों ने चीनियों को लालच देकर, भय दिखाकर तथा अनैतिक तरीकों से ईसाई बनाना आरम्भ किया। अपने प्रभावित क्षेत्रों में उन्होंने बौद्ध या कन्फ्यूसियस चीनियों के प्रति घृणा और अत्याचार की नीति अपनाई। उन्होंने चीन धर्म, संस्कृति और साहित्य को निकृष्ट और त्याज्य बताया। इससे चीनियों को अत्यन्त गहरी चोट पहुँची और वे बॉक्सर क्रांतिकारियों के साथ हो गये क्योंकि बॉक्सरों ने आरम्भिक संघर्ष झूठे और चालाक ईसाइयों के खिलाफ छेड़ा था।

बॉक्सर आन्दोलन– विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ जो भावना ताईपिंग तिकारियों ने जगाई थी वह 1899 में पुनः उग्रता के साथ आरम्भ हुई। इसका सर्वप्रमुख न केन्द्र शान्टुंग था जहाँ जर्मनी अधिकार जमाये बैठा था। जापान इसे छीन लेने का सर देख रहा था।

इस संघर्ष का आरम्भ "इ-हो-चुआन" नामक गुप्त संस्था ने किया। ईसाई धर्म-प्रचारक और चीनी ईसाईयों की सामूहिक हत्यायें आरम्भ हो गईं। अनेकों चर्च जला दिये गये। रेल की पटरियां उखाड़ दीं। इसके बाद संघर्ष चीन के चिहिली प्रान्त में पहुँच गया। इस संघर्ष का प्रमुख कारण यह था कि शान्टुंग का गवर्नर स्वयं ईसाई विरोधी और विदेशी आगमन के खिलाफ था।

मंचूरिया सम्राज्ञी त्यूहसी ने स्थिति की नाजुकता को अनुभव करते हुये विदेशियों को बाहर निकालने का स्वर्ण अवसर समझा और साथ ही चीन की क्रांतिकारी जनता में भी लोकप्रिय होने का अवसर पाया। अतः उसने बॉक्सर क्रांतिकारियों को विदेशियों के खिलाफ प्रोत्साहित किया जिससे यह संघर्ष 1900 तक पीकिंग तक पहुँच गया। यहां रेल्वे लाइन के विदेशी इन्जीनियरों पर आक्रमण कर मार डाला गया। इस समय तक सम्राज्ञी ने बॉक्सरों का खुला समर्थन करना आरम्भ कर दिया था। उसने 24 घन्टों में विदेशियों को राजधानी छोड़ने का निर्देश दिया।

बॉक्सरों का दमन– जब यह संघर्ष चल रहा था तभी एक जर्मन राजदूत की हत्या हो गई। इससे जर्मनी, अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन और जापान भावी खतरे के प्रति सशंकित हो गये। अतः उन्होंने टिन्टसिन में अपने-अपने दूतावासों की रक्षा के लिये व्यवस्था कर सेनाओं को संयुक्त करके पीकिंग पर आक्रमण के लिये चल पड़े और इन्होंने पीकिंग लाइन को नष्ट कर दिया। मंचूरिया सरकार ने बॉक्सरों का खुला समर्थन किया। इस पर सभी विदेशियों ने अपनी-अपनी नौसेनाओं को चीन भेज दिया तथा चीनी समुद्रतटों और बन्दरगाहों पर गोलाबारी कर दी। महत्वपूर्ण दुर्ग और नगरों पर कब्जा कर लिया। विजयी एडमिरल सीमूर के साथ 14 अगस्त, 1900 को जर्मनी, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा जापान ने पीकिंग में प्रवेश किया। प्रत्येक स्थान पर बॉक्सरों को निर्दयता से कुचला गया। चीनी सम्राज्ञी और अनेकों बॉक्सरों को चीन से भागने के लिये विवश होना पड़ा।

बॉक्सर संघर्ष की असफलता और उसके कारण– बॉक्सर संघर्ष का आरम्भ और अन्त एक ही वर्ष (1899- 1900) में हो गया। सामान्यतः इस संघर्ष को भी असफल माना जाता है। इसके निम्न कारण थे-

1. **विदेशी हस्तक्षेप–** सभी यूरोपीय राष्ट्र और जापान ने अपनी नौसैनिक शक्तियों तथा श्रेष्ठतम शस्त्रों से बॉक्सर आंदोलन को कुचल दिया।
2. **मंचूरिया सरकार की दोहरी नीति–** सम्राज्ञी ने आरम्भ में बॉक्सरों का समर्थन किया और विदेशियों को बाहर जाने का भी निर्देश दिया जब विदेशी आक्रमण हुये तो सम्राज्ञी ने समर्थन वापस लेकर बॉक्सरों को अकेला छोड़ दिया अतः वे निर्बल पड़ गये।

बॉक्सर संघर्ष की असफलता और उसके कारण
1. विदेशी हस्तक्षेप
2. मंचूरिया सरकार की दोहरी नीति
3. चीनी अधिकारी और सामन्त बॉक्सर विरोधी थे
4. संघर्ष का सीमित क्षेत्र

3. **चीनी अधिकारी और सामन्त बॉक्सर विरोधी थे–** चीनी अधिकारियों को बॉक्सर संघर्ष से अपने पद और प्रतिष्ठा के समाप्त होने का खतरा लगने लगा। यदि मंचूरिया वंश का शासन न रहा तो सामंतों के पद भी समाप्त हो जायेंगे। जागीरदारों को उनकी जागीरें चले जाने का खतरा लगने लगा। अतः इन सभी ने बॉक्सर क्रांति के दमन में देश के हित का विचार किये बिना

विदेशियों का साथ दिया। टिंटसीन, नानकिंग और बूचांग के राज्यपालों ने बॉक्सरों का दमन किया।

4. **संघर्ष का सीमित क्षेत्र–** बॉक्सरों में त्याग, बलिदान और देश–भक्ति की भावना थी परन्तु उनका प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। जनता में भी यह आन्दोलन पूर्णरूपेण व्याप्त नहीं हो पाया।

महत्व एवं परिणाम– बॉक्सर संघर्ष ताईपिंग क्रांति के साथ दबा दिया गया परन्तु इसके राजनीतिक, आर्थिक और दूरगामी परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। बॉक्सरों के संघर्ष के परिणामस्वरूप मंचूरिया वंश के पतन और चीनी गणतंत्र मार्ग प्रशस्त हुआ। दमन के होते हुये भी राष्ट्रीय भावना और विदेशियों को चीन से निकालने के प्रयत्न समाप्त नहीं हुये तथा 1911 में डॉ. सनयात सेन के नेतृत्व में पुनः क्रांति हो गई।

बॉक्सर संघर्ष का तात्कालिक परिणाम यह निकला कि चीन पर विदेशी प्रभुत्व पहले से अधिक दृढ़ हो गया। पश्चिमी देशों ने चीन के साथ एक सन्धि की जिसे बॉक्सर प्रोटोकॉल कहा जाता है। इस संधि में निम्नलिखित शर्तें थीं–

1. चीन ने क्षति–पूर्ति में विदेशियों को 45 करोड़ तायल दिये।
2. पीकिंग की रक्षा के बहाने एक विदेशी सेना पीकिंग में रखी गई।
3. जर्मन राजदूत की हत्या के लिये क्षमा मांगी और उसका स्मारक बनवाया।
4. जीवित विद्रोहियों को चीन सरकार दण्ड देगी।
5. ताकू की किलेबन्दी समाप्त की जायेगी।
6. चीन दो वर्ष तक युद्ध–सामग्री का आयात–निर्यात नहीं करेगा।
7. विदेशियों के साथ चीन द्वारा की गई सन्धियों को समयानुसार परिवर्तित किया जायेगा।
8. शान्टुंग और मुकदेन पर विदेशी व्यापार और निवास कर सकेंगे।
9. सीमा–शुल्क राशि 5 प्रतिशत बढ़ा दी गई।
10. विदेशी नागरिकों और ईसाइयों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई।
11. संघर्ष में भाग लेने वाले नगरों में प्रशासनिक सेवा में भर्ती रोक दी गई।

इसके अतिरिक्त इस संधि के परिणामस्वरूप चीन पहले से अधिक निर्बल बना, राष्ट्रीय ऋण के बोझ से दब गया। उसका घोर अपमान हुआ तथा विदेशी उसे लूटने लगे, जिसका परिणाम 1911 की क्रांति थी।

प्रश्न–7. 1911 की चीनी क्रांति के कारणों तथा परिणामों की विवेचना कीजिये।

अथवा

चीन में 1911 ई. की क्रांति के कारण तथा घटनायें बताइये।

अथवा

डॉ. सनयात सेन का चीनी क्रांति में योगदान बताइये।

अथवा

1911 की चीनी क्रान्ति के कारणों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– चीन में अयोग्य और भ्रष्ट शासन को ईश्वर की कृपा या वरदान से वंचित मानने की धार्मिक परम्परा थी तथा ऐसे शासन को हटाने के कार्य को उचित माना जाता था। इस कारण 1664 के पूर्व लगभग 100 और 1796 से 1803 तक श्वेत कमल समाज के अनेक संघर्ष हुये। केवल 1847 में ही 26 संघर्ष हुये। इसी क्रम में ताईपिंग और बॉक्सर सघर्ष भी हुये। ताईपिंग और बॉक्सर संघर्ष भ्रष्ट मंचूरिया सरकार और विदेशियों के खिलाफ हुए थे। 1911 में ही डॉ. सनयात सेन के नेतृत्व में क्रांति का संगठन किया गया। ताईपिंग

और बॉक्सर संघर्ष तो अल्पकाल में ही समाप्त हो गये जबकि 1911 की क्रांति दीर्घकाल तक चली और इसे गृह युद्ध, विदेशी आक्रमण और साम्यवादी संघर्षों से जूझना पड़ा।

1911 की क्रांति के कारण– सम्राज्ञी त्यूहसी के सुधार असफल हो चुके थे और ताईपिंग अथवा बॉक्सर चेतना विभिन्न कारणों से उत्पन्न हुई जिसने 1911 में क्रांति का आरम्भ कर दिया।

1911 की क्रांति के कारण

1. विदेशी आक्रमण और हस्तक्षेप
2. मंचूरिया शासन से घृणा
3. संसदीय शासन के प्रति उपेक्षा
4. जनसंख्या की समस्या और प्राकृतिक संकट
5. विदेश में रहने वाले चीनियों की प्रेरणा
6. बौद्धिक जागरण
7. डॉ: सनयात सेन का व्यक्तित्व एवं नेतृत्व
8. तात्कालिक कारण

1. **विदेशी आक्रमण और हस्तक्षेप–** 1664 में मंचूरिया वंश की सम्राज्ञी कांगहसी की उदारता के परिणामस्वरूप पश्चिमी देशों के चालाक स्वार्थी, धोखेबाज व्यापारियों को प्रवेश की सुविधा मिली। इनमें सर्वाधिक हानिकारक और धूर्त अंग्रेज थे। इन्होंने चाय, तम्बाकू आदि में अफीम मिलाकर चीनियों में नशे की आदत डाल दी। अफीम के लिये सरकारी अधिकारी और जनता का चरित्र भ्रष्ट हो गया। उनका स्वदेश–प्रेम समाप्त हो गया। जब सरकार ने विदेशियों पर नियंत्रण लगाये तो विदेशी आक्रमण करने लगे। चीनी अफीम युद्धों में पराजित हो गये तथा विदेशी मंचूरिया सरकार पर राजनीतिक दबाव डालने लगे। उन्होंने चीन में बने व्यापार केन्द्र, बन्दरगाह, सुविधायें और अधिकार प्राप्त किये। इसी प्रकार के अधिकार जापान, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, डेनमार्क और हॉलैण्ड को भी दिये।

क्षतिपूर्ति में पर्याप्त धन विदेशियों ने वसूल किया। चुंगी और करों तथा विदेश नीति पर भी इनका नियंत्रण हो गया। अतः विदेशियों के राजनीतिक और धार्मिक हस्तक्षेप ने चीनी "ईश्वरीय साम्राज्य" की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचाया। चीन में इन हस्तक्षेपों के खिलाफ राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई और 1911 में क्रांति सम्पन्न हुई।

2. **मंचूरिया शासन से घृणा–** मंचूरिया शासन की उदारता और कठोरता दोनों ही चीनी हितों के लिये हानिकारक सिद्ध हुये क्योंकि उसकी उदारता ने विदेशियों को प्रवेश और सुविधायें प्रदान कीं तथा उनकी तुष्टि के लिये इसी वंश ने जनता पर अनेक कर लगाये। विदेशियों को निकालने तथा नियंत्रित करने में मंचूरिया सरकार बुरी तरह विफल रही। ताईपिंग और बॉक्सर संघर्षों के काल में उसने दोहरी नीति अपनाई तथा विदेशियों को दमन के लिये आमंत्रण दिया अतः चीनी जनता मंचूरिया वंश से घृणा करने लगी। उसके भ्रष्ट अधिकारियों ने इस घृणा को और अधिक बढ़ा दिया।

3. **संसदीय शासन के प्रति उपेक्षा–** मंचूरिया शासकों ने अपनी बदनामी और जन–आक्रोश से बचने तथा क्रांतिकारियों को मूर्ख बनाने के लिये सुधार कार्यक्रम अपनाया। परन्तु इनका कोई लाभ नहीं हुआ। चीन में ताईपिंग सरकार बनकर समाप्त हो चुकी थी। चीन में प्रथम बार राष्ट्रीय सभा का गठन हुआ। परन्तु इससे राष्ट्रवादियों ने संसदीय शासन और वैध राजसत्ता की मांग की। इतना ही नहीं मंचूरिया वंश को ही समाप्त करने का निश्चय किया। परन्तु मंचूरिया सरकार ने इसकी स्थापना का कोई प्रयत्न नहीं किया अतः सत्ता से संघर्ष आवश्यक हो गया।

4. जनसंख्या की समस्या और प्राकृतिक संकट– चीन में 1911 की क्रांति तक जनसंख्या में 5 करोड़ की वृद्धि हो गई परन्तु सरकारी भ्रष्टाचार और सामन्तीय व्यवस्था के कारण कृषि भूमि और उत्पादन कम होता जा रहा था। फिर विदेशी नागरिकों के शोषण के कारण चीन की आर्थिक दशा गिरती जा रही थी। बढ़ते लगान तथा बाढ़ों के कारण चीनीवासी भुखमरी और घर–विहीन हो गये। सरकार की असफलताओं ने क्रांति–भावना में वृद्धि कर दी।

5. विदेश में रहने वाले चीनियों की प्रेरणा– चीन की गिरती आर्थिक दशा ने चीनियों को विश्व के अन्य देशों में जाकर बसने के लिये प्रेरित किया। अमेरिका, हवाईद्वीप, फिलीपीन द्वीप समूह, मलय प्रायद्वीप, मलय राज्य संघ, सिंगापुर और कनाडा में चीनी जीविका की खोज में गये। इन्होंने वहां धन कमाकर चीन भेजना आरम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन प्रवासी चीनियों ने उपरोक्त देशों की उन्नति का वर्णन किया जिससे पिछड़े और अशिक्षित चीनियों ने आधुनिकीकरण की मांग की तथा चीन में अशिक्षा, अन्धविश्वास और पिछड़ेपन के लिये चीन सरकार को दोषी ठहराया। उन्होंने मंचूरिया शासन के खिलाफ क्रांति का साथ दिया।

6. बौद्धिक जागरण– विदेशी सम्पर्क के कारण चीनी पश्चिम के आधुनिकतम ज्ञान–विज्ञान, शिक्षा, परिवहन के उन्नत साधनों, शस्त्रास्त्रों, आर्थिक नीतियों, औद्योगिक विकास, भाषाओं एवं धर्म आदि से परिचित हुये। अतः चीन में अनेक सामाजिक जागरण के लिये संस्थाओं (ताओ दो बून काई 1898) का निर्माण हुआ। सन् 1898 से 1902 तक अनेक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। छिंग–ई–पाओ, शिन–मिन–त्सुंगपाओ त्जु–ली–हुई, तुंग मेंग हुई आदि संस्थाओं ने सामाजिक सुधारों और क्रांति भावनाओं को प्रचारित किया। इस कारण राष्ट्रवादी विचारों को पर्याप्त बल मिला।

7. डॉ. सनयात सेन का व्यक्तित्व एवं नेतृत्व– डॉ. सनयात सेन का जन्म 12 नवम्बर, 1866 को चीन के दक्षिण–प्रदेश केन्टन में हसीयांग ग्राम के एक निर्धन परिवार में हुआ था। बचपन में उसे सुनवेन कहते थे। पहले उसका पोषण उसके चाचा ने (पिता की मृत्यु के बाद) फिर शिक्षा उसके भाई ने होनोलूलू के ईसाई विद्यालय में दिलवाई, 1882 में सेन चीन लौट आया। 1887 में वह हांगकांग के मेडिकल कॉलेज में पढ़कर डॉक्टर बना और प्रेक्टिस करने लगा। परन्तु सेन का हृदय मैजनी, सावरकर आदि के समान चीन की दुर्दशा पर तड़फ उठा। अतः उसने चीन को भ्रष्ट शासन और विदेशियों से मुक्त करने का संकल्प किया।

उसने सर्वप्रथम 'हिसंग–चुंग–हुई' नामक संस्था का निर्माण किया जिसका अर्थ था 'चीन की भावी पीढ़ी के लिये समिति।' यह एक अराजनैतिक संगठन था परन्तु 1895–99 के जापानी आक्रमण और चीन की पराजय के बाद यही दल राष्ट्रवादी और राजतंत्र का शत्रु बन गया। डॉ. सेन ने हांगकांग को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया और एक क्रांतिकारी संस्था का निर्माण किया। उसने 1895 में केंटन प्रदेश पर अधिकार करने की असफल कोशिश की परन्तु वह नाकाम रहा। वह जापान होते हुये इंग्लैण्ड भाग गया जहाँ चीनी दूतावास ने इसे बंदी बना लिया, बाद में वह छूट गया। इसने यहाँ मार्क्स की 'दास कैपिटल' का अध्ययन किया एवं याकोहामा बस्ती में रहकर 1899 में 'आत्मकथा' का लेखन किया।

1905 ई. में 'तुंग–मेई–हुई' नामक गुप्त क्रांतिकारी संस्था का निर्माण कर 'पिन–पाओ' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इस संस्था के प्रमुख छह उद्देश्य थे– (1) मंचूरिया–वंश का अन्त (2) गणतंत्र की स्थापना, (3) विश्व शान्ति, (4) राष्ट्रीयता का विकास (5) जापान के साथ सहयोग, (6) चीन की क्रांति के लिये अन्य देशों का सहयोग लेना। इन

उद्देश्यों को लेकर डॉ. सनयात सेन ने बारम्बार 1906 से 1910 तक संघर्ष किये और 1911 में संघर्ष को क्रांति का स्वरूप प्रदान किया।

8. तात्कालिक कारण (चीन सरकार की आर्थिक और रेल नीति)– चीन की पैकिंग सरकार ने रेल्वे लाइनों के निर्माण के लिये विदेशी फर्मों के साथ अनुबन्ध कर लिये थे। इनका नियन्त्रण एवं संचालन पूर्ण रूप से विदेशियों के हाथों में था। अतः प्रान्तों ने मांग की कि पूंजी लगाना और नियंत्रण करना प्रान्तों के अधिकार में होना चाहिये। इसके लिये सम्पूर्ण चीन में 1905 में 'अधिकार वापस लो' का आन्दोलन भी आरम्भ हो गया। इसका अर्थ स्पष्ट था कि पैकिंग सरकार को विदेशियों से कर्जा लेना और रेल्वे के बहाने चीन की भूमि और अर्थतंत्र पर नियंत्रण विदेशियों को देना बन्द करना पड़ता।

इसके अतिरिक्त चेचुआन प्रान्त में विदेशी प्रबन्धकों ने रेल्वे लाइन की पूंजी अन्य कार्यों पर व्यय कर दी। अतः चीन सरकार ने साझेदारों को जिनमें चीनी भी थे, 50 प्रतिशत से भी कम बॉण्ड देने का निर्णय किया। परन्तु साझेदारों ने विरोध व प्रदर्शन किये। सरकार ने जब 1911 में इनका दमन किया तो विरोध क्रांति में बदल गया।

जब यह विरोध प्रदर्शन चल ही रहा था तभी हांको की एक रूसी बस्ती में 10 अक्टूबर, 1911 को एक घर में बम विस्फोट हो गया। यह घर क्रांतिकारी बस्ती का एक अड्डा था। इस पर रूसियों ने अनेक क्रांतिकारियों को बन्दी बना लिया। इसकी प्रक्रिया में हांको वायसराय के ऑफिस को जला दिया, चीनी सेनापति और वायसराय भाग गये और कर्नल ली–युआन–हुंग ने नेतृत्व सम्हालकर बूचांग तथा हांको पर अधिकार कर एक अस्थायी सरकार बनाकर स्वयं उसका अध्यक्ष बन गया। इसने सभी प्रान्तों से अपील की कि वे मंचूरिया–वंश की सत्ता को उखाड़कर फेंक दें। इस कारण क्रांति का आरम्भ हो गया।

क्रांतिकारी घटनायें– दृढ़ता, संघर्ष और मुक्ति की बॉक्सर और ताईपिंग भावना का उदय यांगत्सी नदी के तट पर हुआ जो शान्टुंग चिहली और शैसी प्रदेशों तक फैली। बूचांग के क्रांतिकारियों ने सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों को क्रांतिकारी परिषद् के निर्माण के लिये आमंत्रित किया। इन प्रतिनिधियों ने शपथ–पत्र बनाया जो नानकिंग में स्वीकार किया गया। इसने आरम्भ में एक अस्थायी संविधान के रूप में कार्य किया।

यह शंघाई क्रांतिकारियों के अधिकार में ही नहीं आया बल्कि उनकी सैनिक सरकार भी यहां स्थापित हो गई। मंचूरिया सरकार ने घबरा कर युआन–शि–काई को क्रांति–दमन के उद्देश्य से प्रधानमत्री बनाया। परन्तु युआन–शि–काई ने संघाई सरकार के साथ वार्ता कर पैकिंग में अपनी सरकार बना ली। यह देखकर 1911 में राजमाता (सम्राज्ञी) ने दिसम्बर में प्रान्तों की क्रांतिकारी सैनिक सरकारों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाया। इसमें केन्द्र में गणतंत्र सरकार स्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया परन्तु राजमाता पर पूर्व में अवसरवादी और दोहरी नीति अपनाने के कारण किसी ने विश्वास नहीं किया। अतः 30 नवम्बर, 1911 को हांको के सम्मेलन में गणतंत्र का राष्ट्रपति युआन शिकाई को बनाने का निश्चय किया। बाद में 4 दिसम्बर को क्रांतिकारी सेना ने नानकिंग पर अधिकार कर लिया।

24 दिसम्बर, 1911 को डॉ. सनयात सेन अमेरिका से शंघाई पहुँच गये जनवरी, 1912 को नवीन गणतंत्र के राष्ट्रपति बन गये। इसी समय मंचूरिया सरकार ने विश्वासघाती युआन–शि–काई की सरकार को हटाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार डॉ. सनयात सेन ने युआन–शि–काई को लिखा कि यदि वह गणतंत्र को स्वीकार कर ले तो उसे वह राष्ट्रपति स्वीकार कर लेंगे। युआन–शि–काई ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तथा दोनों ने

मिलकर 12 फरवरी, 1912 को मंचूरिया सरकार का अन्त कर दिया और सम्राज्ञी को वार्षिक पेन्शन दे दी गई। इस प्रकार चीन में प्रथम गणतंत्र स्थापित हो गया।

प्रश्न–8. मेईजी शासन की प्रमुख उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।

अथवा

मेईजी पुनर्स्थापना के कारणों एवं परिणामों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

मेईजी पुनर्स्थापना के महत्व को इंगित कीजिये।

अथवा

जापान में मेईजी की पुनर्स्थापना पर निबंध लिखिये।

उत्तर– मेईजी पुनर्स्थापना से आशय– मेईजी सम्राट की उपाधि थी। **मेईजी पुनर्स्थापना** से आशय सम्राट की शक्ति की पुनर्स्थापना से है। आशय यह है कि तोकूगावा शोगून के हाथों से शक्ति अब पुनः सम्राट के हाथ में आ गई। 1868 ई. में जापान में जब यह महान् परिवर्तन हुआ था उस समय जापान का सम्राट मुत्सुहितो था। 1867 ई. में वह सिंहासन पर बैठा। सम्राट बनने पर उसने मेईजी की उपाधि ग्रहण की। इस प्रकार जापान में प्रबुद्ध शासन प्रारंभ हुआ, परन्तु इसे सम्राट का व्यक्तिगत शासन कहना भूल होगी। **बिनाकी** के शब्दों में, 'मेईजी पुनर्स्थापना का उद्देश्य शोगून के शासन के स्थान पर सम्राट का व्यक्तिगत शासन स्थापित करना नहीं था। इसका उद्देश्य तोकूगावा को सम्राट के परामर्शदाता पद से हटाना था।'

मेईजी पुनर्स्थापना के कारण– मेईजी पुनर्स्थापना के निम्नलिखित कारण थे–

(1) **पाश्चात्य सम्पर्क–** शोगून सत्ता को 19वीं शताब्दी में पाश्चात्य शक्तियों के सामने झुकना पड़ा और जापान में व्यापार की अनुमति देनी पड़ी। 1854 ई. की कनागावा की सन्धि एवं 20 जून, 1958 को अमेरिका के साथ होने वाली द्वितीय सन्धि ने अमेरिका को जापान में व्यापारिक एवं राज्यक्षेत्रातीत अधिकार प्रदान कर दिये। अमेरिका को इस दौड़ में आगे बढ़ता देख रूस, फ्रांस, ब्रिटेन तथा हॉलैण्ड ने भी जापान से अलग–अलग सन्धियाँ कर व्यापारिक एवं राज्यक्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त कर लिये।

पाश्चात्य देशों के लिए जापान का द्वार खुलना एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस घटना ने जापान को सतर्क कर दिया। जापान में इस घटना के प्रति हुई प्रतिक्रिया के रूप में निम्नलिखित दो विचारधाराएँ सामने आईं–

प्रथम विचारधारा के अनुसार पश्चिम का विरोध किया गया, परन्तु रूढ़िवादी एवं परम्परावादी विचारधारा की आवाज कारगर साबित नहीं हुई। **दूसरी विचारधारा** जापान का पाश्चात्यीकरण करना चाहती थी। जापान ने अपना पश्चिमीकरण कर साम्राज्यवादियों का विरोध करना ठीक समझा, लेकिन ऐसा वे तभी कर सकते थे जबकि विदेशियों के आगे नतमस्तक होने वाले तोकूगावा शोगून शासन का अन्त होता एवं सम्राट के अधिकारों की पुनर्स्थापना होती।

(2) **तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति असंतोष–**

(i) **सामन्त वर्ग–** जापान की सामाजिक स्थिति पैरी के आगमन के समय अच्छी नहीं थी। समाज का प्रत्येक वर्ग असंतुष्ट था। तोकूगावा शोगून ने अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए सामन्तों पर कठोर नियंत्रण स्थापित किया था। 'सान्किन कोताई' कानून सामन्तों को बिना आज्ञा के किले बनाने, किलों का जीर्णोद्धार करने, सिक्का ढालने एवं युद्ध हेतु जहाज बनाने और विवाह करने हेतु सामन्तों को शोगून की अनुमति लेनी होती थी। साथ ही, सामन्तों को प्रत्येक दो वर्ष में एक बार चार माह के लिए शोगून की राजधानी येदों में रहना होता था। सामन्त इस प्रथा को अपना अपमान समझते थे।

(ii) **कृषक वर्ग–** शोगून प्रशासन में कृषकों की स्थिति पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया जाता था। **सेन्सम** के अनुसार, 'प्रशासन कृषि पर ध्यान तो देता था, परन्तु कृषकों की उपेक्षा की जाती थी।' अतः कृषक वर्ग परिवर्तन का पक्षधर था।

(iii) **व्यापारिक वर्ग–** प्रशासनिक वर्ग एवं निम्न वर्ग के अतिरिक्त मध्यम वर्ग में आने वाला नवीन व्यापारी वर्ग तत्कालीन व्यवस्था से प्रसन्न नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी में जापान में हुई व्यापारिक उन्नति ने एक ऐसे नवीन व्यापारिक वर्ग को जन्म दिया जो आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध तो था ही साथ ही शिक्षित भी था। इस वर्ग से सामन्त अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समय–समय पर कर्ज लिया करते थे, परन्तु समाज में इनका स्थान सामन्तों से नीचे था। अतः अपमानित नवोदित व्यापारी वर्ग ऐसी सामाजिक व्यवस्था से दुखी होकर परिवर्तन करना चाहता था।

(iv) **बुद्धिजीवी वर्ग–** बुद्धिजीवी वर्ग भी व्यवस्था में परिवर्तन का पक्षपाती था। इस वर्ग ने समाज में सम्राट के प्रति भक्ति एवं सम्मान प्रकट करने का प्रयास किया। 1715 ई. में जापान का महान् ऐतिहासिक ग्रंथ पूर्ण होकर 1851 ई. में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में शोगून को सम्राट की शक्ति का अपहरणकर्ता बताया गया। 1827 ई. में शोगूनों का इतिहास पूर्ण हुआ। इसमें सम्राट के प्रति शक्ति का आव्हान किया गया। इस प्रकार जापान में सम्राट के प्रति निष्ठा एवं शोगून की सत्ता के प्रति क्रोध एवं घृणा का जो वातावरण बुद्धिजीवी वर्ग ने तैयार कर दिया, उस परिवेश में मेईजी पुनर्स्थापना अवश्यम्भावी थी।

(3) **शोगून सत्ता की निर्बलता–** अनवरत रूप से लगभग 270 वर्षों तक तोकूगावा शोगूनों ने जापान पर अपना आधिपत्य बनाये रखा था। इस लम्बे समय में शान्तिमय एवं एकाकी जीवन व्यतीत करने के कारण जापान की स्थिति अत्यन्त कमजोर हो गई। इधर शोगून भी विलासी एवं कमजोर हो गए, लेकिन उनकी 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के कारण जापान के प्रमुख कुलों एवं सरदारों में आपसी सहयोग स्थापित नहीं हो पाया था। शोगूनों की शक्ति के निर्बल होते ही प्रान्तीय सामन्तों ने प्रान्तों में अपनी स्वंतत्रता बढ़ानी प्रारंभ कर दी थी। पैरी के आगमन के समय तक असंतुष्ट सामन्त वर्ग तोकूगावा शोगून–सत्ता के अन्त के पक्षधर हो गये।

(4) **विदेशी विरोधी भावना में वृद्धि–** शोगून की सत्ता की निर्बलता का लाभ उठाकर सामन्त वर्ग एवं सैनिक वर्ग ने उस पर कड़ा प्रहार करने हेतु जापान में पनप रही विदेशी विरोधी भावना को और अधिक उद्वेलित करना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने स्थान–स्थान पर नारा देना प्रारंभ कर दिया कि 'सम्राट का सम्मान करो बर्बर विदेशियों को बाहर निकालो' सम्राट कोमेई विदेशी विरोधी विचारों से अत्यधिक प्रभावित था। उसने शोगून को 25 जून 1863 ई. तक सभी विदेशियों को देश से बाहर निकालने के आदेश दे दिये। शोगून अधिकारियों के लिए यह असंभव था। अतः विदेशियों को बाहर खदेड़ने का बीड़ा चोशू सामन्तों ने उठाते हुए कर्मचारियों को आदेश दिये कि कोई भी विदेशी जहाज शियोन्की की खाड़ी से गुजरे तो उसे नष्ट कर दिया जाय। 25 जून, 1863 को आदेशानुसार एक अमरीकी जहाज नष्ट कर दिया गया। इन जहाजों ने नगर में गोलाबारी कर एक जापानी जहाज को नष्ट कर दिया। इन घटनाओं ने जापान में विदेशी–विरोधी भावनाओं को और अधिक गति प्रदान कर दी।

(5) **सामन्तों का संगठित होना–** तोकूगावा शोगूनों की 'फूट डालो एवं शासन करो' की नीति से जापानी जोशू, हिजेन एवं सातसूमा, आदि परिवारों के सामन्त एकजुट न हो सके, परन्तु तोकूगावा शोगून की सत्ता को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध सभी के एक लक्ष्य ने उन्हें संगठित कर दिया। उन्होंने संगठित होकर एक सेना का गठन किया। इधर चोशू सामन्तों ने शोगून की सत्ता के विरूद्ध जुलाई 1866 में विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह ने तोकूगावा शोगून तथा अन्य परिवारों के विरूद्ध सामन्तों एवं जनता को एकता के सूत्र में बांध दिया। यह एकता शोगून की सत्ता के लिए बहुत भारी पड़ी। 3 जनवरी, 1868 को सातसूमा एवं चोशू सामन्ती फौजों ने सम्राट की पुनर्स्थापना की घोषणा की। जनवरी 1867 में जिस नये तोकूगावा शोगून 'केईकी' ने शोगून का पद संभाला था, यह अत्यन्त प्रगतिशील विचारों का था। अतः उसने सम्राट को वास्तविक शक्ति प्रदान करने सम्बन्धी सामन्ती नेताओं के स्मारकपत्र को स्वीकार कर स्वेच्छा से त्यागपत्र दे दिया, परन्तु कुछ तोकूगावा सामन्तों ने युद्ध करने का निश्चय किया। शाही फौज के सामने ये बचे हुए तोकूगावा सामन्त टिक नहीं पाये और तोकूगावा शोगून सत्ता का अन्त हुआ और 1868 ई. में मेईजी की पुनर्स्थापना हुई।

मेईजी पुनर्स्थापना के परिणाम अथवा महत्व– मेईजी की पुनर्स्थापना जापान के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात थी। वास्तव में सम्राट की शक्ति की पुनर्स्थापना आधुनिक जापान की आधारशिला थी। परिवर्तन का क्रम शोगून की सत्ता परित्याग से ही समाप्त नहीं हो गया। यह तो परिवर्तनों का प्रारंभ था। शक्तिशाली परिवर्तन की भावना ने सम्पूर्ण जापान को प्रभावित कर दिया था। संक्षेप में, मेईजी पुनर्स्थापना के परिणामों अथवा महत्व का विवेचन निम्नवत् है–

(1) **जापान को नया विधान प्राप्त होना–** सम्राट मुत्सुहितो द्वारा 6 अप्रैल, 1868 ई. को पाँच अनुच्छेदों वाले एक 'विधान शपथ' की घोषणा की गई। आधुनिक जापान का मैग्नाकार्टा का रूप धारण करने वाले इस विधान शपथ की धाराएँ निम्न प्रकार से थीं–

(i) राज्य के मामलों पर विचारार्थ विस्तृत पैमाने पर सभाएँ स्थापित की जायेंगी। सरकारी कार्यों के निर्णय का आधार जनमत होगा।
(ii) साम्राज्य के कल्याण हेतु सम्पूर्ण विश्व से ज्ञान अर्जित किया जायेगा।
(iii) राष्ट्रीय प्रगति एवं उन्नति के लिए वर्ग–विभेद नहीं होगा, बल्कि सभी एक होंगे।
(iv) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी न्यायोचित आकांक्षाओं को पूर्ण करने का अवसर प्रदान किया जायेगा।
(v) असभ्य प्रथाओं का अन्त होगा तथा प्रत्येक बात प्रकृति के न्यायसंगत और औचित्यपूर्ण सिद्धान्तों पर निर्भर करेगी।

7 अप्रैल, 1868 ई. को सभी सामन्तों, समुराई वर्ग एवं दरबारियों ने इस विधान शपथ को स्वीकार कर इसका समर्थन किया। इस प्रकार जापान का नया विधान राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम था। आगे चलकर यही 'विधान शपथ' जापान के पश्चिमीकरण, व्यवसायीकरण, सुदृढ़ केन्द्रीय शासन एवं चहुँमुखी विकास का आधार–स्तम्भ बना। वास्तव में राष्ट्रीय प्रगति के क्षेत्र में वर्ग–विभेद की समाप्ति की बात अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। सम्पूर्ण विश्व से ज्ञानार्जन एवं प्राचीन कुप्रथाओं की समाप्ति ने जापान का बौद्धिक विकास किया। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने की न्यायोचित स्वतंत्रता की बात व्यक्ति की स्वतंत्रता का आधार–स्तम्भ बनी।

(2) **सामन्तवाद का अन्त–** मेईजी पुनर्स्थापना में सामन्तों एवं सैनिक वर्ग का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान था। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात थी कि जिस सामन्तवर्ग ने मेईजी

पुनर्स्थापना में इतनी बड़ी भूमिका निभाई थी वह अपने अधिकारों का त्याग करने को इतना शीघ्र तैयार कैसे हो गया? इसका सबसे बड़ा कारण समुराई वर्ग (सैनिक वर्ग) का इस बात को महसूस करना था कि सामन्तवाद के अन्त से ही राष्ट्रीय विकास संभव हो पायेगा। इसी प्रकार सामन्त जो कि अब अपने–अपने क्षेत्रों में नाममात्र के ही सामन्त रह गये थे। वे अपनी शक्ति के लिए पूर्णतः सैनिक वर्ग पर ही आधारित थे। सैनिक वर्ग द्वारा सामन्त वर्ग को अपने–अपने अधिकारों एवं जागीरों को सम्राट को सौंपने हेतु विनयपूर्वक मनवा लिया गया और 1869 में सामन्तवर्ग ने अपने–अपने अधिकार सम्राट को अर्पित कर दिये। शाही आदेशानुसार 1871 ई. में सामन्तवाद की समाप्ति की घोषणा हो गई। इस प्रकार मेईजी पुनर्स्थापना ने सदियों से चली आ रही सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया। **विनाकी** ने ठीक ही लिखा है, ''मेईजी पुनर्स्थापना शोगून तथा सामन्तवाद की समाप्ति के लिए उठाया गया सही कदम था।''

(3) पाश्चात्यीकरण– मेईजी पुनर्स्थापना के पश्चात् विधान शपथ में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था कि किसी भी देश से ज्ञान–अर्जन हेतु जापान तत्पर रहेगा। इस प्रकार स्पष्टत रूप से जापान ने पश्चिमी सभ्यता को अपनाने हेतु खुले द्वार की नीति अपनाई। पश्चिम की जीवन–शैली से प्रभावित होकर सेना, शिक्षा, कृषि, आदि क्षेत्रों में पर्याप्त सुधार किये गये। उद्योग–धंधों एवं व्यापार व वाणिज्य का विकास हुआ।

(4) राष्ट्रीयता की भावना का विकास– यह सत्य है कि जापान ने पश्चिम से सीखने में हिचकिचाहट नहीं दिखाई, परन्तु उसने अपनी राष्ट्रीय भावना भी नहीं खोने दिया। उनका सम्राट मुत्सुहितो राष्ट्रीयता का प्रतीक समझा जाने लगा। विदेशियों के साम्राज्यवादी शिकंजे के प्रति जापानी सतर्क हो गये।

(5) साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विकास– मेईजी पुनर्स्थापना के पश्चात् जो आन्तरिक नीतियाँ अपनाई गईं उससे जापान का द्रुतगति से औद्योगीकरण हुआ एवं सैन्य–बल में वृद्धि हुई। सैनिक वर्ग जापान को साम्राज्यवादी बनाने के इच्छुक थे। पश्चिमीकरण व औद्योगीकरण ने जापान को उपनिवेशों के लिए प्रेरित किया। अतः जापान साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हुआ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मेईजी पुनर्स्थापना जापान के इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने आधुनिक जापान को जन्म दिया। **विनाकी** के अनुसार, ''पुनर्स्थापना आन्दोलन की सफलता ने पूर्व परम्पराओं एवं संस्थाओं को स्थापित किया तथा यूरोपीय नवीन विचारों के आधार पर देश का पुनर्संगठन किया।'' कुछ मिलाकर अब जापान का प्राचीन आधारशिला पर नव–निर्माण हुआ और एक ऐसे नवीन युग का आरंभ हुआ जहाँ से जापान का आधुनिकीकरण प्रारंभ हुआ।

प्रश्न–9. जापान अपना आधुनिकीकरण करके विदेशी साम्राज्य समाप्त करने में कैसे सफल हुआ? समझाइये।

अथवा

जापान के आधुनिकीकरण से क्या अभिप्राय है? इसके क्या परिणाम हुये?

अथवा

जापान का आधुनिकीकरण जापान में विदेशी साम्राज्य समाप्त करने में कहाँ तक सफल रहा? स्पष्ट कीजिये।

अथवा

'जापान अपना आधुनिकीकरण करके विश्व के लिये एक चुनौती बन गया।' स्पष्ट कीजिये।

अथवा

जापान में आधुनिकीकरण की व्याख्या कीजिये एवं कारण बताइये।

उत्तर– जापान का आधुनिकीकरण का आरम्भ– जापानियों को शीघ्र ही यह समझ में आ गया कि यूरोपीय देशों के ज्ञान, विज्ञान, औद्योगिकरण और व्यापार की तुलना में वे स्वयं बहुत पिछड़े हैं। इसी कारण यूरोपीय देश शक्तिशाली होकर विश्व के कमजोर देशों को अपने आधीन बना रहे थे। जापान में भी उनकी यही नीति थी। जापान की प्राचीन व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी अतः उसने यूरोपियन ज्ञान, विज्ञान, औद्योगिक प्रणाली को अपनाना आरम्भ किया तथा 'जिसकी लाठी उसी का सिर' वाली उक्ति को चरितार्थ किया।

1. **सामन्तवाद की समाप्ति–** जापान का जनमत शोगुनों के विरोध में हो चुका था और 1868 में शोगून शासन की समाप्ति तथा सम्राट के शासन का आरम्भ हुआ। सम्राट मुत्साहितों ने सामन्तीय व्यवस्था को जापान की दुर्दशा का कारण समझा तथा उनके स्वार्थों, अत्याचारों तथा विदेशियों के समर्थन से सम्राट अप्रसन्न हुआ। दूसरी ओर अनेक देशभक्त नागरिक, नेता और कुछ सामन्तों ने सामन्तीय व्यवस्था को समाप्त करने की प्रेरणा सम्राट को दी। सम्राट मुत्साहितों ने जागीरों में सम्राट का प्रत्यक्ष शासन अपने द्वारा नियुक्त अधिकारियों के द्वारा आरम्भ किया। जागीरदारों को सूबेदार बनाकर उन्हें अपने अधिकार छोड़ने को बाध्य किया तथा उन्हें पेंशनें प्रदान कर दी गईं बाद में पेन्शन बन्द कर उन्हें एक निश्चित रकम प्रदान कर दी गई। इस प्रकार सामन्तीय अत्याचारों से किसान मुक्त हो; अनेक सामन्त उद्योग और व्यापार में लग गये। कई सामन्त, सामुराई, शिक्षित और देशभक्त होने से उदार बने। इस प्रकार देश का विकास होने लगा।

2. **शासन में सुधार–** सम्राट मुत्साहितों की 1868 की एक घोषणा के अनुसार जापान में शासन की नीतियों पर विचार करने, परामर्श देने के लिये एक 'विचार समिति' की स्थापना की गई। इससे जापान में लोकमत, न्याय, समानता, योग्यता और राष्ट्रहित का महत्व बढ़ा और शासन में कुशलता का आविर्भाव हुआ। जापान में 1874 में अनेक सुधारवादी आन्दोलन हुये। इतागाकी इनमें प्रमुख नेता था। इसे सम्राट ने राजनीतिक प्रणालियों का अध्ययन करने यूरोप की यात्रा पर भी भेजा था। 1878 में स्थानीय स्वशासन का सूत्रपात हुआ तथा सूबेदारों को निर्देश दिया कि स्थानीय सभाओं के परामर्श से शासन करें। सन् 1881 में काउण्ट ओकुमा ने भी सुधारों की प्रेरणा दी।

3. **नवीन शासन विधान का निर्माण–** इतागाकी ने यूरोपियन संविधानों का अध्ययन करके नवीन संविधान के निर्माण के लिये अनेक सुझाव दिये। इन सुझावों में यूरोपीय संविधानों का अन्धानुकरण नहीं किया गया था। इन सुझावों में सम्राट की स्थिति को सर्वोच्च और सुरक्षित रखने को कहा गया था। परन्तु जन प्रतिनिधित्व को पर्याप्त स्थान देने को कहा गया था। जर्मन संविधान को जापान संविधान के लिये आदर्श माना गया। सन् 1883 में इतागाकी राजनीतिक प्रणालियों का अध्ययन कर वापस लौट आया बाद में सन् 1889 में जापान सम्राट ने नवीन संविधान की घोषणा की। इसमें सम्राट गृह तथा विदेश नीति में सर्वोच्च था। वह प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति, पद्च्युक्ति, संधि–विग्रह तथा संसद के पारित प्रस्ताव पर निषेधाज्ञा कर जारी कर सकता था। व्यवहार में सम्राट ने निष्पक्षता, योग्यता की समानता, विचारों की स्वतंत्रता तथा निष्पक्ष न्याय को प्रधानता दी।

4. **सैनिक–सुधार–** प्राचीन सामन्त–प्रणाली अथवा शोगून और सामुराई प्रणाली अब अप्रासंगिक हो चुकी थी। इनके अन्तर्गत जापान की दुर्दशा के कारण इन प्रणालियों को समाप्त कर आमूल परिवर्तन किये। अब सेना में भर्ती पर सामुराई वर्ग का अधिकार नहीं था और सर्वसाधारण जापानी सेना में भर्ती होने लगे। 1872 में अनिवार्य सैनिक सेवा और सैनिक शिक्षा आरम्भ की गई। अधिकारियों की नियुक्तियाँ अब धन के आधार पर बन्द होकर

योग्यता के आधार पर होने लगीं। सैनिक अनुशासन, सैन्य–संगठन आदि के लिये जर्मन प्रणाली को अपनाया गया। इससे जापान की सैनिक शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो गई तथा यूरोपीय शक्तियों का भय उनके दिलों से निकल गया।

5. **पश्चिमी देशों की संधियों में संशोधन–** पश्चिमी देशों के साथ जापान की संधियों से जापान की स्वतंत्रता छिन गई थी। राष्ट्रीय अपमान भी हुआ था। जापान से स्वर्ण और चांदी भारी मात्रा में प्रतिवर्ष यूरोप जा रहे थे। सरकार ने 1868 में यूरोपीय देशों के साथ की गई संधियों में संशोधन के प्रयास किये। 1871 में इवाकुरा को इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका आदि की सरकारों से इस कार्य के लिये भेजा भी गया परन्तु कोई सफलता नहीं मिली।

अतः इवाकुरा के सुझावों के आधार पर जापानी न्याय–व्यवस्था को उदार, व्यापक और गतिशील बनाया गया। इसमें फ्रांस को आदर्श माना गया तथा उससे सहयोग भी लिया। इस कारण 1889 से 1894 तक जापान की न्याय प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन हो गया। अब जापानी और यूरोपीय कानून प्रणाली में समानता आने से यूरोपीय देशों को पूर्व में दिये गये क्षेत्रातीत अधिकारों का आधार ही समाप्त हो गया। 1882 में विदेशियों की जापानी न्यायधीशों के साथ यूरोपीय न्यायधीशों की नियुक्ति करके क्षेत्रातीत अधिकारों को समाप्त करने के लिये विदेशियों को राजी करने का प्रयत्न किया। सन् 1888 में काउन्ट ओकुमा को इसमें सफलता मिली। 1888 में अमेरिका, 1894 में इंग्लैण्ड ने संधियों में संशोधन करना मान लिया। इसके पश्चात् अन्य देशों ने भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जापान का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और सैनिक सम्मान बढ़ गया।

6. **जापान में आधुनिक शिक्षा–** पश्चिमी देशों के सम्पर्क से प्रभावित अनेक जापानी नवयुवक शिक्षा प्राप्त करने जाने लगे तथा उन्होंने विदेश–यात्रा पर लगे प्रतिबन्ध को नहीं माना। यूरोपीय विश्व–विद्यालयों में जब शिक्षित होकर यह छात्र जापान लौटे तो यूरोपीय ज्ञान, विज्ञान तथा यूरोपीय शिक्षा का प्रचार और मांग जापान में बढ़ने लगी।

मैईजी सम्राट और सामुराई वर्ग ने भी यूरोपीय शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। प्राथमिक शिक्षा प्रणाली स्थापित की गई तथा उसे अनिवार्य बनाया गया। इसमें 6 वर्ष तक चरित्र निर्माण, देश और सम्राट के प्रति भक्ति और स्त्री–शिक्षा पर जोर दिया गया। आरंभिक शिक्षा के क्षेत्र में अमेरिका की प्रणाली को अपनाया गया। विश्व–विद्यालयीन शिक्षा के लिये फ्रांस की प्रणाली उत्तम मानी गई और शिल्प–शिक्षा के लिये जर्मन प्रणाली अपनाई गई।

सन् 1811 में स्थापित बान्सोशीरा नामक शिक्षा संस्था 1857 में विश्व विद्यालय का रूप ले चुकी थी। शिक्षा विभाग का पुनर्गठन 1871 में किया गया और सम्पूर्ण जापान को 8 विश्व–विद्यालय के जिलों में बांटा गया। प्रत्येक जिले को 32 माध्यमिक और 210 प्रारम्भिक स्कूल भागों में बांटा गया। बालिकाओं के लिये प्रथम स्कूल की स्थापना 1872 में हुई। सन् 1880 में संगीत विद्यालय की स्थापना हुई। 1877 में टोकियो विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। आमंत्रित अमेरिकन विद्वान मूरे ने अंग्रेजी भाषा और उसके ज्ञान को अनिवार्य विषयों में शामिल करवाया। 1886 में शिक्षा मंत्री मोरे ने जर्मन शिक्षा पर जोर दिया। टोकियो विश्वविद्यालय में 1887 में जर्मन प्रोफेसर हशनेच को आमंत्रित किया। इस प्रकार यूरोपीय शिक्षा ने जापान को नवीन ज्ञान–विज्ञान और तकनीक से परिचित कराकर उन्नत किया।

7. **आर्थिक विकास–** जापानियों ने शीघ्र ही दो तथ्यों को समझ लिया। प्रथम था कि जापान पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत पिछड़ा था और द्वितीय कि जब तक जापान पश्चिमी तरीके से समृद्ध नहीं होता तब तक विदेशियों को बाहर नहीं निकाला जा सकता था। इस

कारण विदेशी औद्योगिक प्रणाली, तकनीकी और मशीनों का आयात किया। सरकार ने जापानियों को उद्योगों में पूंजी लगाने को प्रोत्साहित किया। स्वयं सरकार ने उद्योगों को स्थापित कर लाभ की स्थिति में लाकर पूंजीपतियों को बेचना आरम्भ किया।

रेशम, सूती वस्त्र, लोह, सीमेंट, कांच, ईंट उद्योगों का विकास कर सैनिक शक्ति को भी बढ़ाया। बारूद से अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया। 1890 तक जापान में 250 से अधिक कारखाने स्थापित हो चुके थे। उद्योग और व्यापार में जापान इंग्लैण्ड के समान हो गया। सन् 1872 में टोकियो से याकोहामा तक रेल्वे लाइन बिछाई गई। 1885 में रेल्वे ब्यूरो का और 1890 में ब्यूरो को समाप्त कर रेल्वे बोर्ड स्थापित किया। 1894 में 2118 मील लम्बी लाइनों का जापान में जाल बिछा।

8. **संचार साधनों का विकास–** जापान में डाक-तार व्यवस्था का भी विकास हुआ। प्रथम तार लाइन 1868 में लगाई गई। पोस्ट-ऑफिस स्थापित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जापान जहाजों से परिचित नहीं था, परन्तु इसके बाद उसके पास वाष्पचालित जहाज थे जो भारी मात्रा में आयात-निर्यात करते थे इससे जापान का आतंक बढ़ने लगा।

9. **बैंक विकास–** 1873 में जापान में नेशनल बैंक की स्थापना हो गई थी। 1879 में 151 बैंक स्थापित हो गये। 'जापान बैंक' 1885 में स्थापित हुआ तथा बैंकों के लिये नवीन कानूनों का निर्माण किया गया।

10. **कृषि विकास–** कृषि में भी सामन्त प्रथा की समाप्ति से सुधार हुये। किसानों का भूमि पर अधिकार होने से कृषि-उत्पादन बहुत अधिक हो गया। किसानों को अपनी फसल का क्रय-विक्रय का अधिकार मिल गया। नकद लगान व्यवस्था लागू की गई। इस प्रकार कृषि में जापान आत्म-निर्भर बन गया।

11. **धार्मिक विकास–** जापान में कन्फ्यूसिसवाद और बौद्ध धर्म का प्रभाव तो था ही परन्तु राष्ट्रीय भावनाओं ने प्राचीन शिन्तो धर्म का उद्धार किया तथा उसे नवीन रूप मिला। बौद्ध धर्म ने भी नवीन स्वरूप धारण किया। ईसाई धर्म के अनेक पन्थ भी स्थापित हुये। इससे जापान में धार्मिक उन्नति, सहिष्णुता तथा आध्यात्मिकता का विकास हुआ।

विश्व के लिये चुनौती– सम्राट मुत्साहितों और उसके उत्तराधिकारी के काल में जापान औद्योगिक, व्यापारिक, कृषि, यातायात और सैनिक दृष्टि से सम्पन्न हुआ तथा विदेशियों के क्षेत्रातीत अधिकारों का आधार ही समाप्त हो गया तथा जापानी उनके समकक्ष हो गये। अतः 1858 तक जापान ने क्षेत्रातीत अधिकार समाप्त करने में सफलता प्राप्त की। आर्थिक आत्म-निर्भरता और समृद्धि ने जापानियों में आत्मविश्वास और शक्ति का संचार किया। सैनिक शक्ति के विकास ने पश्चिमी और एशियाई देशों के लिये एक चुनौती उत्पन्न कर दी।

प्रश्न–10. जापान में सैन्यवाद के उदय पर एक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– जापान में विदेशियों का प्रवेश अमेरिकी कमाडोर पैरी के आतंक के कारण हुआ था। सम्पूर्ण जापान से भय और आतंक के साथ इन विदेशियों को बाहर निकालने की प्रेरणा भी उत्पन्न हुई। पश्चिमी सैनिक संगठन, शस्त्रास्त्रों का निर्माण बड़ी कुशलता से किया गया। 1869 में जापान में नवीन सैनिक-विभाग स्थापित हुआ और फ्रेंच प्रणाली के आधार पर सुधार किये गये। अरीलोमा के यूरोप से लौटने के बाद 1870 में जापानी सेना का पुनर्गठन आरम्भ किया और क्योटो में सैनिक शिक्षा आरम्भ की गई। सन् 1871 में शाही गार्ड की स्थापना की गई। जापान के पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों के लिये पहले दो और बाद में चार टुकड़ियों का निर्माण किया गया। सन् 1872 में युद्ध विभाग और नौसेना विभाग स्थापित किये गये तथा सैनिक संगठन के लिये (1) नियमित सेना (2) रिजर्व सेना (3) राष्ट्रीय सेना

के विभागों का निर्माण किया गया। प्राचीन सामुराई या शोगून प्रणाली समाप्त कर सम्पूर्ण जापान में अनिवार्य सैनिक सेवा, राष्ट्रभक्ति की नीति अपनाई गई। सम्पूर्ण जापान को 6 सैनिक जिलों में विभक्त कर प्रत्येक में एक सैनिक विभाग स्थापित किया गया।

सैनिक प्रशिक्षण के लिये अनेक सैनिक स्कूलों की स्थापना की गई। जर्मन आदर्शों पर जर्नल स्टाफ आफिस स्थापित कर जर्मन सैनिक प्रणाली अपनाई। फ्रांसीसी और जर्मन सेनापतियों ने जापानियों को शिक्षित किया। इस कारण जापानी सेना की कुशलता से सरकार अत्यन्त शक्तिशाली हो चुकी थी। 1874 से 1895 तक फारमोसा, सतमूसा के विद्रोहों को आसानी से दबा दिया और विशालकाय चीन को सरलता से पराजित कर दिया।

स्थल और जल सेनाओं के विकास के लिये अनेक कारखाने स्थापित किये गये जिनमें यूकू सूका नामक कारखाना अत्यन्त प्रसिद्ध था। 1875 में प्रथम युद्ध पोत और 1894 में जापानी नौसेना में 28 जहाज तथा 24 पनडुब्बियाँ थीं। सैनिक शक्ति के इस विकास ने जापान को अमेरिका के समान साम्राज्यवादी और विश्व के लिये चुनौती बना दिया।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में जापान सम्पूर्ण कोरिया पर छा गया। चीन के फार्मूला, पेस्काडेंस द्वीप समूहों पर उसने अधिकार कर लिया था इसके पश्चात् उसने 1905 में रूस को पराजित कर दिया था। इस कारण सन् 1914-18 में जापान, ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका एक पक्ष में थे। अगस्त 1914 में जर्मनी से शान्टुंग छीन लिया और चीन के सामने 21 मांगें रखीं। जापान ने 1930 के बाद चीन में अत्यधिक विस्तार कर लिया और द्वितीय विश्व युद्ध तक उसकी सीमायें भारत की सीमाओं को छूने लगीं। जर्मनी की प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध में पराजय के बाद यूरोपीय देशों में जापानी चुनौती को बड़ी गम्भीरता से अनुभव भी किया और उसे स्वीकार भी किया।

प्रश्न–11. द्वितीय चीन-जापान युद्ध के कारणों एवं परिणामों की विवेचना कीजिये।

अथवा

1894 के चीन-जापान युद्ध के कारण एवं परिणाम बताइये।

अथवा

1894-95 के चीन-जापान युद्ध के कारणों एवं परिणामों का परीक्षण कीजिये।

अथवा

सन् 1894-95 के चीन-जापान युद्ध का विवरण दीजिये।

उत्तर- चीन-जापान युद्ध के कारण- जापान की साम्राज्यवादी नीति ही इस युद्ध का मूल कारण है। अनेक कारणों से शान्तिप्रिय और अपने आप में संतुष्ट रहने वाले जापान ने चीन में अपना विस्तार निम्न कारणों से किया-

1. **यूरोपीय देशों की प्रेरणा-** 1870 के पूर्व जापान एक शान्त देश था परन्तु 16वीं शताब्दी में पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और स्पेन के व्यापारियों ने और ईसाई पादरियों ने जापान को जहाँ राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षति पहुंचाई थी वहीं ज्ञान और विज्ञान में जापानी नवयुवकों को प्रगति और विकास का भी सन्देश दिया। इनका यह प्रवेश जापान के द्वार पूरी तरह से नहीं खोल सका परन्तु अमेरिकी जनरल कमोडोर पैरी ने दबाव डालकर 1853 में दो जापानी बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया तथा जापान से राजनीतिक, आर्थिक सुविधायें भी प्राप्त कीं। जापान ने इन साम्राज्यवादियों से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा लेकर और इनके द्वारा शोषण, अनुचित दबाव से राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ा। जापानियों ने अनुभव किया कि यूरोपियनों के द्वारा हुई क्षति को यदि पूरा करना है और इनकी शक्तियों का सफल सामना करना है तो जापान को सैनिक तथा आर्थिक रूप में सम्पन्न और शक्तिशाली

बनाना आवश्यक है। अतः उसने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जापान ने अपने साम्राज्यवादी पंजे चीन की ओर बढ़ाये।

2. जापान की प्रथम असफलता– रूस चीन में अपना विस्तार कर रहा था। उसी समय जापान का लियोतुंग, फारमोसा और लुचू द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया परन्तु रूस ने उसे 1872 में बाहर निकाल दिया। बाद में जापान ने 1894–95 में अधिक कृतसंकल्प होकर चीन पर आक्रमण कर रूस से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया।

3. राजनीतिक परिस्थिति– कोरिया की आन्तरिक राजनीतिक दशा अत्यन्त खराब थी वहाँ विद्रोह और अराजकता फैली हुई थी। कोरिया का शासन विकृत और दलबन्दी का शिकार था। रूस उत्तरी एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था, कोरिया में वह अपनी सेना का संगठन कर रहा था। इसके लिये उसने कोरिया के केलजारेक बन्दरगाह पर आंशिक अधिकार कर लिया था। रूसी कार्रवाही जापानी सुरक्षा के लिये एक खतरा था। चीन भी इस समय अत्यन्त कमजोर था तथा वह रूस के चीन या कोरिया में प्रभाव को रोकने में असमर्थ था। अतः जापान 'कोरिया की रक्षा जापान की रक्षा' समझता था। उसने कोरिया में हस्तक्षेप किया और कोरिया को संधि करने के लिये विवश कर दिया। दोनों के मध्य 1876 की संधि में कोरिया को स्वतंत्र मान लिया तथा निर्बलता के कारण 1884 में चीन ने भी इस संधि को स्वीकार कर लिया परन्तु दोनों ने 1885 में चीन–जापान ने संधि कर माना कि पूर्व सूचना के वे कोरिया में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

चीन–जापान युद्ध के कारण
1. यूरोपीय देशों की प्रेरणा
2. जापान की प्रथम असफलता
3. राजनीतिक परिस्थिति
4. चीन से विवाद
5. आर्थिक कारण
6. धार्मिक कारण

4. चीन से विवाद– 1885 में चीन–जापान समझौता हुआ था। इसके कारण दोनों देशों की स्थिति समान हो गई थी। चीनी नेता कोरिया को चीन का अंग मानते थे तथा कोरिया में सेना रखना अपना अधिकार समझते थे तथा कोरिया में अव्यवस्था या विदेशी हस्तक्षेप रोकने को वह अपना दायित्व समझते थे। जापान में नवीन राजनीतिक आकांक्षायें जागृत हो रही थीं तथा चीन कोरिया में रूसी हस्तक्षेप को रोकने में असमर्थ था। जब 1894 में चीन में कोरिया में दोनों ने अपनी–अपनी सेनायें भेज दीं तथा बाहर निकलने के प्रश्न पर दोनों में संघर्ष हो गया।

5. आर्थिक कारण– जापान के लिये कोरिया में हस्तक्षेप के लिये आर्थिक कारण भी थे। जनसंख्या वृद्धि, जापान की आर्थिक प्रगति और व्यापार तथा उद्योग के लिये कच्चे माल की आवश्यकता और राष्ट्रीय गौरव की आकांक्षा आदि के लिये कोरिया और फिर चीन में अधिकार पाने के लिये जापान सक्रिय हुआ।

6. धार्मिक कारण– जापान में ईसाइयों के धर्म प्रचार और धर्म की छाया में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किये गये षड्यन्त्रों ने जापानियों में ईसाइयों के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। यद्यपि जापानियों ने यूरोपीय भाषा, धर्म, संस्कृति, ज्ञान–विज्ञान को अपनाया था और स्वयं को शक्तिशाली और आर्थिक रूप में सम्पन्न किया। इसके खिलाफ 1859 में कोरिया तथा तोंगहाक में जापानियों ने एक नये धार्मिक सम्प्रदाय को स्थापित किया। दुर्भाग्यवश कोरिया सरकार ने भी इसको अवांछनीय माना और प्रतिबन्ध लगाया। परन्तु फिर भी तोंगहाक ने चीनी सम्राट से प्रतिबन्ध हटाने की माँग की। सम्राट ने जब इसे अस्वीकार किया तो कोरिया में चारों ओर संघर्ष होने लगे और सरकारी सेनायें इनसे पराजित हो गईं। अब

कोरिया सरकार ने चीन से मदद मांगी। ली के आदेश पर चीनी सैनिक कोरिया पहुंचे और चीन ने 1885 की संधि के अनुसार जापान को सूचना दे दी। अतः जापान ने भी एक सेना भेज दी। इसी मध्य तोंगहाक संघर्ष समाप्त हो गया। चीन ने अपनी सेनायें वापस नहीं बुलाईं अतः जापान से संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई।

युद्ध की घोषणा– कोरिया से सेनायें बाहर भेजने के प्रश्न पर दोनों में कोई समझौता नहीं हो पाया अतः जापान ने अत्यन्त द्रुत–वेग से चीन पर आक्रमण कर दिया। इससे चीन को संभलने का अवसर नहीं मिल पाया और रूस एवं कोई भी यूरोपीय राष्ट्र चीन की मदद करने नहीं पहुँच पाया। यालू नदी के मुहाने पर चीन का नौ–सैनिक बेड़ा पराजित हो गया और जापान ने उसके समुद्र पर अधिकार करके कोरिया में अपनी सेनायें भेज दीं।

शिमोनास्की की संधि– चीन ने अप्रैल, 1895 में शिमोनास्की की संधि का प्रस्ताव किया तथा वार्ता के लिये ली–हुंग–चांग को भेजा। परन्तु एक उन्मादी जापानी ने ली–हुंग पर आक्रमण कर दिया परन्तु वह बच गया। इस नवीन घटना का प्रभाव थोड़ी मात्रा में संधि की कठोरता में कमी करने की दृष्टि से हुआ। संधि की निम्न धारायें थीं–

1. कोरिया को चीन सरकार ने अपने आधीन नहीं, बल्कि स्वतंत्र माना।
2. फारमोसा, पेस्कोडोरस और दक्षिण मंचूरिया का सियोतुंग नदी के पूर्व का प्रदेश जापान को सौंप दिया।
3. 20 करोड़ तायल चीन ने जापान को देना स्वीकार किया।
4. चीन ने जापान को 7 बन्दरगाह और चीन में प्राप्त प्रदेशों में अपने देश के समान ('सर्वाधिक प्रिय देश के अधिकार') अधिकार देना पड़े।
5. क्षतिपूर्ति के भुगतान तक 'वी–हाई–वी' बन्दरगाह पर जापान का नियंत्रण चीन ने स्वीकार कर लिया।

युद्ध के परिणाम अथवा प्रभाव– जनसंख्या, भू–भाग, सेना की दृष्टि से सर्वाधिक विशाल चीन को इन्हीं दृष्टियों से सर्वाधिक लघु देश जापान ने पराजित कर 'विशाल दैत्य' को मार दिया। उस समय जापान के सम्बन्ध में यूरोपीय देशों को यह ज्ञात नहीं था कि जापान ने ज्ञान–विज्ञान, सैनिक सामग्री, युद्ध–कला, यातायात आदि को इतना अधिक विकसित कर लिया था कि वह किसी देश को पराजित कर सके। इस कारण चीन पर आक्रमण से विश्व आश्चर्यचकित हो गया।

1. मंचूरिया सरकार के खिलाफ प्रतिक्रिया– चीनी सरकार की पराजय से धर्मभीरू जनता ने यह समझा कि मंचूरिया वंश से ईश्वर नाराज हो गया तथा क्रांतिकारी और शिक्षित चीनियों को विश्वास हो गया कि मंचूरिया वंश पूर्णरूप से असक्षम और अयोग्य सरकार थी। इसी कारण चीन के आधीन प्रदेश उसके नियंत्रण से मुक्त होते चले जा रहे थे। कोरिया शेष था, चीन–जापान युद्ध ने इसे भी स्वतंत्र घोषित कर दिया। इन्हीं कारणों का यह परिणाम हुआ कि चीन के प्रान्तीय अधिकारियों ने मंचूरिया सरकार को धन–जन से मदद देना बन्द कर दिया, जनता ने मंचूरिया वंश के खिलाफ असहयोग के साथ क्रांति का संगठन किया। इस पराजय से चीन की शेष बची प्रतिष्ठा, शक्ति और प्रभाव समाप्त हो गया।

2. विदेशियों की चिन्ता वृद्धि– चीन में अराजकता और क्रांतिकारी संघर्ष, विदेशियों और मंचूरिया सरकार के खिलाफ उग्र होते जा रहे थे। इससे विदेशियों को चिन्ता होने लगी। रूस का चीन में रूसी विस्तार, पोर्ट ऑर्थर और लियोतुंग में जापानी अधिकार से रूसी आकांक्षाओं में बाधायें उपस्थित हो गईं। इंग्लैण्ड चीन की अखण्डता में विश्वास करता था उसका यह

विश्वास खण्डित हो गया अतः इंग्लैण्ड ने जापान से लियोतुंग को खाली करवाने का प्रयत्न किया। इस कारण दोनों के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हुआ।

3. क्रांतिकारी संगठनों का उदय– चीन–जापान युद्ध के परिणामस्वरूप क्रांतिकारियों और सुधारवादियों को पर्याप्त सफलता मिली। चीन में राष्ट्रीय संघर्ष आरम्भ हो गये। विदेशी चर्च, तार लाईन, रेल्वे, उनकी बस्तियाँ, केन्द्र, बन्दरगाहों पर आक्रमण होने लगे। मंचूरिया महारानी ने भी नारा दिया कि, 'विदेशियों से बचो समस्त समस्यायें हल हो जायेंगी।' इसके कारण 'कोलाओ हुई' (भाइयों तथा बुजुर्गों का समाज), 'तालाओ हुई' (बड़ी तलवार वालों का समाज), 'इन्हो चुआन' (अटूट भ्रातृत्व समिति) आदि संस्थाओं का जन्म हुआ। इन्हीं में 'बॉक्सर' क्रांति सर्वप्रमुख थी। इसकी असफलता के पश्चात् 1911 की क्रांति हुई।

चीन की पराजय के कारण– जापान की सैनिक तैयारी बहुत अच्छी और आधुनिक थी। शस्त्रास्त्र भी विशाल मात्रा में थे। जापान में इस समय प्रगति, विस्तार और राष्ट्रीय उत्थान का उत्साह था जब कि चीन की भारी–भरकम सेना में भ्रष्टाचारी, अयोग्य और राष्ट्रद्रोही सैनिक थे। उसका बहुत छोटा भाग युद्ध में ईमानदारी से लड़ा। चीन को आक्रमण या रक्षण के उपायों का अवसर ही नहीं मिल पाया और जापान ने तीव्र वेग से आक्रमण कर अनेक स्थानों पर अधिकार कर लिया। जापान की विजय का सबसे बड़ा कारण तो यूरोपियन और रूसी थे जिनके आक्रमणों से चीन निरन्तर निर्बल, निर्धन हो चुका था। विश्व को चीन के हारने पर नहीं वरन् जापान की प्रगति पर आश्चर्य हुआ था। चीन में मंचूरिया सरकार की अदूरदर्शी नीतियाँ, स्वार्थी कार्य तथा सामन्तवाद भी पराजय के लिये दोषी थे। ताईपिंग क्रांति आदि से भी चीन 1894–95 में निर्बल था। किसी भी विदेशी ने चीन को शस्त्रास्त्रों, धन अथवा सेना से कोई मदद नहीं दी। बल्कि एक ओर चीन को जापान से लड़ना पड़ रहा था तो दूसरी ओर चीन में उपस्थित विदेशी राष्ट्रों से भय था कि वह चीन की सरकार को आक्रमण के काल में न दबाये। ऐसी स्थिति में चीन का सर्वनाश सुनिश्चित था।

प्रश्न–12. रूस–जापान युद्ध 1905 ई. के कारण एवं परिणामों की विवेचना कीजिये।

अथवा

रूस–जापान युद्ध (1905) के कारणों का वर्णन कीजिये।

अथवा

1905 के रूस–जापान युद्ध के कारणों एवं परिणामों की व्याख्या (या विश्लेषण) कीजिये।

उत्तर– एशिया में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस एक विशाल शक्ति–सम्पन्न देश समझा जाता था। रूस; इंग्लैण्ड और फ्रांस के समान चीन में साम्राज्यवादी नीति का अनुगमन करने में लगा था। दूसरी ओर जापान भी अपनी शक्ति वृद्धि कर चीन में साम्राज्य वृद्धि के लिये प्रयत्नशील था। चीन में रूस–जापान के साम्राज्यवादी और सैन्यवादी कार्यों और उद्देश्यों में तनाव होना स्वाभाविक था। अतः दोनों में 1904–05 में युद्ध हो गया।

रूस–जापान युद्ध के कारण– रूस–जापान युद्ध के लिये अनेक राजनीतिक, आर्थिक कारण उत्तरदायी थे जो तत्कालीन साम्राज्यवादी प्रवाह के ही भाग थे। कारणों की समीक्षा निम्नानुसार प्रस्तुत है–

1. जापान में विदेशी साम्राज्य– कमाडोर पैरी के मिशन के बाद जापान में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड आदि देशों को जापान सरकार ने विवश होकर व्यापार की अनुमति दी थी। इससे जापान की स्वतंत्रता, सर्वोच्चता, धर्म, संस्कृति और देश का विनाश होने लगा। विदेशी अधिकारों ने जापान में राष्ट्रीय भावनाओं की उत्पत्ति की, उसमें पुनरोदय की प्रेरणा भर दी तथा विदेशियों को बाहर निकाल कर उनके समान साम्राज्य–विस्तार की नीति को अपनाने की प्रेरणा दी। विदेशी साम्राज्य मूल साम्राज्यवादी देश की समृद्धि, शक्ति, सुरक्षा तथा

निर्बल राष्ट्रों के लिये आतंक के आधार थे वे गौरव तथा घमण्ड के प्रगतीकरण, निर्बल राष्ट्रों के अपमान प्रदर्शन के साधन थे। जापान भी इन देशों के समकक्ष होना चाहता था।

रूस–जापान युद्ध के कारण

1. जापान में विदेशी साम्राज्य
2. जापान का आधुनिकीकरण
3. चीन की पराजय और शिमोनास्की की संधि
4. चीन में विदेशी विस्तार और लियोतुंग की वापसी
5. रूस के प्रभाव को समाप्त करना और मित्र की खोज
6. रूस–जापान शत्रुता में वृद्धि

2. जापान का आधुनिकीकरण– शीघ्र ही जापान ने विदेशी दासता से मुक्त होने और अपनी उन्नति का रास्ता खोज लिया उसने अत्यन्त तेज गति से अपनी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रणाली में स्वयं परिवर्तन कर यूरोपीय शिक्षा, विज्ञान, सैन्य–प्रणाली, शासन और न्याय–प्रणाली को अपनाया। कृषि उद्योग, यातायात आदि में भी उन्नति की। आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप जापान न केवल शक्ति सम्पन्न बल्कि एशिया में रूस का प्रतिद्वन्द्वी भी बन गया।

3. चीन की पराजय और शिमोनास्की की संधि– शक्तिशाली बनकर जापान ने शक्ति का प्रथम प्रयोग चीन पर आक्रमण कर उसे पराजित करने में किया। 1894 की शिमोनास्की की संधि में जापान ने चीन से अनेक क्षेत्र और बन्दरगाह प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली। फारमोसा, पेस्काडोर, पोर्टआर्थर और लियोतुंग पर जापान का अधिकार हो जाने से जापान की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हो गई। इसका लाभ उठाकर जापान ने अपने यहां विदेशी अधिकार समाप्त कर दिये। चीन की निर्बलता प्रगट हो गई। जापान का चीन पर प्रभाव बढ़ने से रूस से प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गई।

4. चीन में विदेशी विस्तार और लियोतुंग की वापसी– चीन को पराजित कर जापान ने लियोतुंग को प्राप्त कर लिया था। परन्तु रूस के प्रोत्साहन पर जर्मनी और फ्रांस ने जापान का विरोध कर लियोतुंग को छोड़ने को बाध्य कर दिया था। अतः जापान रूस को चीन में अपने साम्राज्य विस्तार में बाधक समझने लगा था। जापान ने उस समय लियोतुंग छोड़ भी दिया क्योंकि उसकी निगाहें मंचूरिया पर जमी हुई थीं।

5. रूस के प्रभाव को समाप्त करना और मित्र की खोज– चीन की पराजय के पश्चात् कोरिया में रूसी प्रभाव बढ़ता जा रहा था। चीन में जापान को रोकने के लिये 1895 के समान रूस, जर्मनी और फ्रांस कोई संयुक्त हस्तक्षेप न कर पाये इसलिये जापान ने अपने मित्रों की खोज आरम्भ की। इसी कारण आंग्ल–जापान संधि 1902 में सम्पन्न हुई जिसमें इंग्लैण्ड ने जापान के कोरिया में विशेष हित और जापान ने चीन में इंग्लैण्ड के हितों को स्वीकार कर अन्य देश के आक्रमण के समय स्वयं तटस्थ रहने तथा अन्य देशों को तटस्थ रखने का प्रयास करने के आश्वासन दिये। इससे जापान का कोरिया में प्रवेश और रूस–जापान युद्ध का मार्ग साफ हो गया। इंग्लैण्ड इस समय रूसी प्रसार को रोकना चाहता था और रूस–जापान युद्ध से अच्छा कोई उपाय नहीं था। उधर इंग्लैण्ड को जर्मनी की नौसैनिक शक्ति से भी भय था इसलिये उसने जापान से संधि करना उचित माना। दूसरी ओर जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली ने भी जापान से सहानुभूति प्रगट की जबकि आंग्ल–जापान संधि के समय रूस अकेला था।

6. रूस–जापान शत्रुता में वृद्धि– 1902 में रूस पूर्ण एकाकी था। इसी समय रूस–चीन में भी एक संधि सम्पन्न हुई जिसमें रूस ने स्वीकार किया था कि वह मंचूरिया से सेना हटा लेगा परन्तु उसने ऐसा किया नहीं बल्कि 1903 में उसने चीन से यालू नदी में लकड़ी काटने की सुविधा मांगी तथा इसी बहाने उसने अपनी वहाँ सेनायें एकत्रित कर लीं। जापान भी मंचूरिया में अपना विस्तार करना चाहता था अतः उसने रूस का विरोध किया।

रूस–जापान युद्ध– कोरिया और मंचूरिया में रूस की प्रधानता हो या जापान की इसका निर्णय दोनों के मध्य 8 फरवरी, 1904 के युद्ध से हुआ। पोर्टआर्थर, मुकदेन और कोरिया में रूस पराजित हो गया तथा उसे संधि के लिये विवश होना पड़ा।

पोर्ट्समाउथ संधि– 5 सितम्बर, 1905 को रूस–जापान के मध्य पोर्ट्समाऊथ की संधि हो गई। इसके अनुसार जापान को निम्न प्रदेश मिले–

1. कोरिया में जापानी अधिकारों को मान्यता।
2. पोर्टआर्थर, लियोतुंग, सरबालीन का दक्षिण भाग मिले।
3. रूस ने कोरिया से सेनायें हटाने का वचन दिया।

रूस–जापान युद्ध के परिणाम– एच.जी. वेल्स के अनुसार, ''यह रूस के अभिमान के अन्त का युग था।'' इस युग के परिणामस्वरूप जापान का कोरिया में हस्तक्षेप बढ़ने लगा और वह 1910 तक जापान का अंग बन गया। कोरिया में जापानी भाषा, धर्म, व्यापार, पुलिस तथा सेना का प्रवेश हुआ तथा जापान के हित में कोरिया का आर्थिक विकास किया गया। रेल्वे, यातायात में उन्नति हुई।

रूस–जापान युद्ध में रूसी पराजय से तथा चीन में जापानी हस्तक्षेप से राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ। 1911 में डॉ. सनयात सेन के नेतृत्व में क्रांति हुई और 1912 में मंचूरिया राजवंश का अन्त हो गया, बाद में कुओमिन्तांग दल की सरकार बनी। सन् 1914 में जापान ने चीन के अनेकों प्रदेशों पर अधिकार करके उसके सम्मुख सबसे भयंकर और विनाशकारी 21 शर्तें प्रस्तुत कीं। रूसी पराजय से रूस में जारों की निरंकुशता के खिलाफ पहले शून्यवादी (हिंसक) आन्दोलन हुये फिर क्रांति की लहर उठी। वोल्शेविक क्रांति 1917 में हुई। इस क्रांति से यूरोप में भय उत्पन्न हो गया तत्पश्चात् 1905 में आंग्ल–जापान संधि का नवीनीकरण हुआ; जिसमें दोनों ने एक–दूसरे को मदद देने के आश्वासन दिये। जापान की बढ़ती हुई शक्ति से अमेरिका को चिंता हुई परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के कारण जापान से उसने मित्रता रखना ही उचित समझा इसलिये लाशिंग–इशी समझौता सम्पन्न हुआ। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध तक जापान की गणना शक्तिशाली, साम्राज्यवादी देशों में होने लगी।

प्रश्न–13. द्वितीय चीन–जापान युद्ध 1937 पर प्रकाश डालिए।

अथवा

चीन–जापान का द्वितीय युद्ध 1937 का वर्णन कीजिए।

उत्तर– चीन–जापान के द्वितीय युद्ध (1937 ई.)– मंचूरिया पर आक्रमण के पश्चात् जापानी अधिकारी शान्त होकर न बैठकर उत्तर–चीन में अपनी सैन्य–शक्ति को निरन्तर बढ़ाते गये और नये सिरे से युद्ध का बहाना खोजने लगे। उन्होंने पूरे चीन पर अधिकार करने और उसे अपना उपनिवेश बनाने के उद्देश्य से जुलाई, 1937 ई. में युद्ध शुरू कर दिया। इस बार युद्ध बीजिंग के निकट कुछ छोटी–छोटी घटनाओं को लेकर आरंभ हुआ। दक्षिण में जापानियों ने शंघाई पर अधिकार कर लिया और यांगट्सी नदी के किनारे आगे बढ़ते हुए नानकिंग तक पहुँच गये। कुओमिंतांग की सेनाएँ पश्चिम की ओर पीछे हट गयीं और चुकिंग में उन्होंने एक नयी राजधानी बना ली। चीनी सेनाओं को उत्तर में भी पीछे हटना पड़ा। बीजिंग पर जापानियों का अधिकार हो गया और वहाँ उन्होंने अपनी एक सरकार बना ली। आक्रमणकारियों ने सन् 1938 ई. में दक्षिण के बड़े बन्दरगाह कैण्टन पर और मध्य चीन के मुख्य नगर हांको पर अपना कब्जा कर लिया। चीनियों ने आक्रमणकारियों का यथाशक्ति प्रतिरोध किया, किन्तु इस युद्ध में जन–धन की अपार हानि हुई। युद्ध–क्षेत्र में लाखों सैनिक मारे गये और लाखों नागरिक बमबारी, अकाल, बाढ़ और महामारियों के कारण मारे गये।

चियांग काई–शेक को पीछे हटकर चुकिंग में ही शरण लेनी पड़ी एवं कम्युनिस्टों को भी भीतर मंगोलिया की ओर पीछे हटना पड़ा, क्योंकि जापान के आक्रमण को रोकना कठिन हो गया था।

जापान ने पूर्वी एशिया में सन् 1938 ई. में एक नवीन व्यवस्था की घोषणा की। इसके तीन प्रमुख उद्देश्य थे– (i) चियांग काई–शेक के शासन का अन्त करना, (ii) पूर्व एशिया में यूरोपियों के जो हित थे उन्हें निकाल बाहर करना और (iii) आत्मनिर्भर आर्थिक गुट का निर्माण करना जिसमें जापान, मंचूरिया तथा चीन शामिल होंगे।

सन् 1939 ई. में जब द्वितीय विश्व–युद्ध शुरू हुआ तो जापान को अपनी नवीन व्यवस्था को चीन में तथा यूरोपीय राष्ट्रों के एशियायी उपनिवेशों में विस्तार करने का सुनहरा अवसर मिल गया। सन् 1939 ई. में उसने चीन में अनेक आक्रमणकारी कार्यवाहियाँ कीं, किन्तु वे निर्णायक सिद्ध नहीं हुईं। उन्होंने हैनान के द्वीप पर अवश्य अधिकार कर लिया। वह द्वीप फ्रांसीसी हिन्द–चीन (इण्डोचाइना), ब्रिटिश मलाया तथा डच पूर्वी द्वीप–समूह (डच ईस्ट इण्डीज–अब इण्डोनेशिया) पर आक्रमण करने की दृष्टि से विशेष सामरिक महत्व रखता था। जून, सन् 1940 में जब फ्रांस की पराजय हो गयी तो विशी की कठपुतली सरकार ने (जो कि हिटलर के अधीन थी) जापान को इण्डोचाइना में नौसैनिक तथा हवाई केन्द्र स्थापित करने की अनुज्ञा दे दी थी। जापानियों ने डच ईस्ट इण्डीज और चीन में ब्रिटेन की बस्तियों पर भी अपना दबाव डाला। जिस समय जापान ने द्वितीय विश्व–युद्ध में प्रवेश किया (सितम्बर, 1941 में), एशिया के अधिकांश भाग पर नवीन व्यवस्था का तेजी से प्रचार हो रहा था।

उस समय अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रांस तीनों बड़ी शक्तियाँ जो कि जापान की आक्रामक गतिविधियों पर रोक लगा सकती थीं, लेकिन उनमें से किसी ने भी चीन की सहायता नहीं की। यद्यपि उस पर आक्रमण उनके स्वयं के साम्राज्यवादी हितों के लिए बहुत घातक था। प्रश्न यह है कि उन्होंने जापान के खिलाफ कोई कदम क्यों नहीं उठाया? पश्चिमी इतिहासकारों का कहना है कि इंग्लैण्ड उस समय घोर आर्थिक संकट में फँसा हुआ था और जापान का विरोध करने की स्थिति में नहीं था। फ्रांस आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से विघटन के कगार पर था। अमेरिका अपने घरेलू मामलों में व्यस्त था और वैदेशिक मामलों में पृथक्ता की अलग–अलग रहने की नीति का अनुसरण कर रहा था। इसके विपरीत रूसी इतिहासकारों का मत है कि पश्चिम की तीनों बड़ी शक्तियों ने यूरोप में जर्मनी तथा एशिया में जापान के सम्बन्ध में तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण एक ही उद्देश्य से किया। वे यह चाहते थे कि जापान और जर्मनी रूस पर आक्रमण करके साम्यवाद को विश्व से समाप्त कर दें। उन्हें जितना भय साम्यवाद से था, उतना जर्मनी अथवा जापान से नहीं था। कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि रूस और यूरोपीय राष्ट्रों के बीच संदेह और विश्वास की चौड़ी खाई मौजूद थी इसलिए दोनों ही पक्ष एक–दूसरे को नष्ट करना चाहते थे। इस कारण से दोनों वे मिलकर जर्मनी और जापान के विरूद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सके जिसके परिणामस्वरूप ही उन सबको और उनके साथ सारे विश्व को सन् 1937 में द्वितीय विश्व–युद्ध की विभीषिका झेलनी पड़ी।

सन् 1941 ई. के अन्त में जब जापान और अमेरिका भी युद्ध में कूद पड़े तो चीन–जापान युद्ध द्वितीय विश्व–युद्ध में परिणत हो गया। तब अमेरिका ने चीन की कुछ सहायता की, लेकिन रूस ने जापान के विरूद्ध युद्ध की घोषणा तब की जबकि जापान की पराजय निश्चित हो गयी थी। अगस्त, 1945 ई. में जापान के समर्पण के साथ ही चीन–जापान युद्ध का भी अन्त हो गया।

प्रश्न–14. 1949 ई. की चीनी क्रान्ति पर एक निबंध लिखिये।

अथवा

1949 ई. की चीनी क्रान्ति पर विस्तृत लेख लिखिये।

अथवा

च्यांग काई शेख अथवा नानकिंग सरकार की गृहनीति का वर्णन कीजिए।

अथवा

च्यांग काई शेख अथवा नानकिंग सरकार की विदेश नीति का वर्णन कीजिए?

उत्तर– च्यांग काई शेक का जीवन–परिचय– च्यांग काई शेक का जन्म 30 अक्टूबर, 1888 में चीन के फेंगुआ जिले के चिको नामक ग्राम में एक साधारण राज्याधिकारी के घर हुआ था। बाल्यावस्था में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। वह बचपन से ही क्रान्तिकारी विचारों का समर्थक बन गया। कैण्टन के सैनिक विद्यालय में सैन्य शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उसने सन् 1907 से 1911 तक जापान में सैन्य विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। इसी समय वह डॉ. सेन के विचारों का प्रबल समर्थक बना और सन् 1911 में क्रान्ति के समय वह सेना में भर्ती हो गया। शंघाई युद्ध में उसकी वीरता ने सभी को आश्चर्यचकित कर दिया था। रूस की साम्यवादी क्रान्ति से प्रभावित होकर वह रूस गया और वहाँ की सैन्य–प्रणाली का अध्ययन किया। चीन की क्रान्ति के विषय में उसने ही रूस का प्रथम परिचय दिया।

च्यांग काई शेक अथवा नानकिंग सरकार की गृह नीति– सन् 1928 तक डॉ. सुनयात सेन के राष्ट्रीय एकता के सपने को सिद्धान्ततः पूरा करने के पश्चात् च्यांग काई शेक के सामने सबसे बड़ी समस्या चीन की प्रशासनिक व्यवस्था को सुसंगठित करने, साम्यवादियों में संघर्ष एवं चीन से विदेशी प्रभाव को समाप्त करने की थी। अतः अब च्यांग काई शेक ने क्रान्ति की अपेक्षा निम्नलिखित सुधार योजनाओं की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

(1) **राजनीतिक संगठन–** नानकिंग को राजधानी बनाने के पश्चात् च्यांग काई शेक के आदेशानुसार कैण्टन तथा पीकिंग स्थित अनेक कार्यालयों एवं राजदूतों को नानकिंग में स्थानान्तरित किया गया। अगस्त, 1928 में कुओमिंगतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति ने खुले अधिवेशन में नई सरकार की शासन व्यवस्था एवं संगठन के विषय में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए। यह भी निर्णय लिया गया कि नानकिंग सरकार की सम्पूर्ण शक्ति पर कुओमिंगतांग का नियंत्रण रहेगा। शासन–व्यवस्था के निर्देशन हेतु एक केन्द्रीय राजनीतिक सभा की व्यवस्था की गई।

(2) **विरोधियों का दमन–** च्यांग काई शेक ने सन् 1931 तक चीन में नए राष्ट्रवादी गणराज्य को सुदृढ़ स्वरूप तो प्रदान कर दिया था, परन्तु अभी तक उसके विरोधियों का पूर्णतः दमन नहीं हो पाया था। उसके मुख्यतः निम्नलिखित तीन विरोधी थे–

(1) विभिन्न प्रान्तों के वे सेनाध्यक्ष जो कि समयानुसार अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयासरत हो जाते थे।

(2) कुओमिंगतांग का वामपंथी पक्ष जो कि च्यांग काई शेक का घोर विरोधी था।

(3) कम्युनिस्ट जो कि भूमिगत रूप में अपना प्रसार करने में प्रयासरत थे और च्यांग काई शेक की नानकिंग सरकार के लिए बड़ा सिरदर्द बन गए थे।

प्रथम समस्या को सुलझाने के लिए च्यांग काई शेक ने प्रारंभ में सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया। उसने स्वेच्छाचारी सेनाध्यक्षों से समझौतावादी रूख को अपनाते हुए मिली–जुली सरकार की स्थापना का प्रयास किया, परन्तु अपने इस प्रयास में असफल हो जाने पर उसे स्वेच्छाचारी सेनाध्यक्षों एवं सिपहसालारों से युद्ध करने पड़े। इनमें उसे विशेषतः मंचूरिया के सेनाध्यक्ष च्यांग सूलिफंग एवं शेन्सी प्रांत के सेनाध्यक्ष चेन सी से कठोर मुकाबला करना पड़ा। मंचूरिया एवं शेन्सी के सेनाध्यक्षों की शक्ति का जिस प्रकार उसने दमन किया उससे भयभीत होकर उत्तरी चीन के शेष सेनाध्यक्षों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

अब च्यांग काई शेक ने द्वितीय समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। कुओमिंगतांग के वामपंथी गुट ने वांग चिंग वेई तथा चेंग पू लो के नेतृत्व में कैण्टन में अपनी अलग सरकार बनाकर कैण्टन को राजधानी बना लिया। इसी बीच मंचूरिया में जापानी संकट के कारण दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया। अतः च्यांग काई शेक को नानकिंग सरकार के संगठन में परिवर्तन कर शासन संचालन का भार वांच चिंग वेई एवं चेंग पू लो, को भी सौंपना पड़ा। अतः अब शासन का संचालन तीन व्यक्तियों के हाथों में बँट गया। तीनों (च्यांग काई शेक, वांग चिंग तथा चेंग पू लो) ने मिलकर एक समिति का भी गठन किया।

(3) **सुधार कार्यक्रम–** चीन में निम्नलिखित सुधार कार्यक्रम लागू किये गये–

(i) आर्थिक क्षेत्र में सुधार– चीन की आर्थिक स्थिति को सुधारने हेतु च्यांग काई शेक ने टी.वी. सुंग नामक अर्थशास्त्री की अधीनता में एक अर्थविभाग की स्थापना की। टी.वी. सुंग ने चीन की राष्ट्रीय आय में वृद्धि का प्रयास किया, परन्तु इस बात का भी ध्यान रखा कि चीन की राजकीय आय के स्रोतों पर विदेशी प्रभाव न हो। चीन में रूई, चीनी, चना, चाय, सिल्क आदि के उत्पादन पर विशेष बल दिया जाने लगा। सन् 1937 तक चीन से चाय, चीनी एवं सिल्क विदेशों को निर्यात किया जाने लगा।

(ii) सैन्य–सम्बन्धी सुधार– च्यांक काई शेक ने चीन के सैन्य पुनर्गठन पर विशेष जोर दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विशेष रूप से जर्मन विशेषज्ञों को चीन में आमंत्रित किया गया। सन् 1931 में चीन में एक जर्मन सैनिक मंडल स्थापित किया गया। सन् 1935 में इस मंडल के अध्यक्ष फॉन सीस्ट थे।

(iii) न्याय–व्यवस्था में सुधार– चीन में न्यायिक क्षेत्र में भी सुधार हेतु फ्रांस व जर्मनी की कानून पद्धति से प्रभावित होकर एक नया कानून बनाया गया। इस कानून संग्रह में विशेषतः दीवानी मामलों की व्याख्या थी। औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र से भी सम्बन्धित कानूनों का निर्माण किया गया। नानकिंग में एक हाईकोर्ट की स्थापना की गई तथा चीन में अनेक अदालतें खोली गयीं। इस प्रकार प्राचीन रीति–रिवाज एवं परम्पराओं पर आधारित चीन की कानून व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किये गये।

(iv) आवागमन की व्यवस्था में सुधार– च्यांग काई शेक ने आवागमन की व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने हेतु भी अनेक प्रयास किये। पृथक् रेल विभाग की स्थापना की गई। चीन की केन्द्रीय एवं प्रान्तीय रेलवे इसी विभाग के नियंत्रण में कर दी गयीं। कैण्टन एवं नूधांग के बीच अनेक नई रेलवे लाइनें बिछायी गयीं। हूनान, कियांगसी, क्वांगसी, चिकिचांग, आन्हुई, कानसू, कियाचकाऊ में अनेक सड़कें बनाई गयीं। सड़कों एवं रेलवे लाइनों के इस प्रकार विकास का सबसे बड़ा कारण शान्ति व्यवस्था एवं युद्ध संचालन को सुविधाजनक बनाना था।

च्यांग काई शेक अथवा नानकिंग सरकार की विदेश नीति

च्यांग काई शेक शीघ्रतिशीघ्र चीन के एकीकरण का पक्षपाती था। वह उत्तर की ओर से आक्रमण कर सैनिक सरदारों की शक्ति को समूल नष्ट करना चाहता था, परन्तु कुछ रूसी सलाहकार उसकी इस नीति के विरोधी थे। दूसरा सबसे प्रबल कारण चीन में कम्युनिस्टों का बढ़ता हुआ प्रभाव था। रूस एक साम्यवादी देश था। इधर इसका लाभ उठाकर पूंजीवादी साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने उसे सोवियत संघ के विरूद्ध भड़काना भी शुरू कर दिया। अतः उसने रूसी सलाहकारों को चीन से चले जाने के आदेश दिए। मई, सन् 1929 में नानकिंग की अधीनस्थ मंचूरिया के शासक च्यांग स्युह ल्यांग ने वहाँ पर स्थित रूसी कार्यालयों पर अपना कब्जा जमा लिया तथा अनेक रूसियों को बन्दी बना लिया। सन् 1924 में चीन और सोवियत संघ के बीच हुए समझौते का अतिक्रमण कर मंचूरिया के शासक ने जुलाई सन्

1929 को रेलवे, टेलीफोन एवं टेलीग्राम व्यवस्था पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया। सन् 1924 के चीन व रूस के बीच हुए समझौते के अनुसार पूर्वी चीन की रेलवे व्यवस्था पर दोनों देशों का अधिकार माना गया।

विदेशी शक्तियों से की गई असमान संधियों को समाप्त करने का प्रयास– चीनी खरबूजे के बंटवारे के क्रम में विदेशी शक्तियों ने अपने हितों की पूर्ति से चीन से समय–समय पर असमान संधियाँ की थीं, जिनके अनुसार जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड जैसी साम्राज्यवादी शक्तियों को चीन में व्यापारिक एवं राज्यक्षेत्रातीत सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त हो गए थे। च्यांग काई शेक ने विदेशों के साथ असमानता के आधार पर की गई इन संधियों का विरोध किया। 19 अक्टूबर, 1925 को चीन और आस्ट्रिया के बीच संधि के अनुसार आस्ट्रिया के चीन में राज्यक्षेत्रातीत सम्बन्धी अधिकार समाप्त हो गए। बेल्जियम से हुई संधि के अनुसार तिंत्सीन में बेल्जियम अधिकृत प्रदेश पर चीन की सरकार का आधिपत्य मान लिया गया। बेल्जियम ने भी अपने राज्यक्षेत्रातीत अधिकार त्याग दिए तथा दोनों देशों में पारस्परिक विचार–विमर्श से पारस्परिक व्यापारिक मतभेदों को हल करने का वचन दिया।

चीन में कुओमिंगतांग–साम्यवादी संघर्ष

च्यांग काई शेक के दमनात्मक रवैये के बावजूद भी माओ के नेतृत्व में मई, 1927 में हूनान के कृषकों ने बहुत बड़ा आन्दोलन कर दिया। यद्यपि इस आन्दोलन को कुचल दिया गया, परन्तु माओ ने अपने अनुयायियों को संगठित कर सन् 1930 में क्वांगसी, फूकेन एवं आन्कुई प्रान्तों में कम्युनिस्ट सरकार बना डाली। कम्युनिस्ट शासन क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल सन् 1931 में 3.5 लाख वर्गमील से अधिक था, जिसमें लगभग 9 करोड़ से अधिक जनसंख्या थी। 1 नवम्बर, 1931 को प्रथम 'अखिल चीनी–सोवियत सम्मेलन' आयोजित किया गया। इसमें 'चीनी–सोवियत गणतंत्र' का संविधान स्वीकार कर लिया गया और 61 सदस्यों की एक केन्द्रीय समिति बनायी गयी। इस समिति का अध्यक्ष माओ को बनाया गया। इस प्रकार सन् 1931 तक चीन में साम्यवादियों ने अपनी शक्ति का अत्यधिक विकास कर लिया। इनकी बढ़ती हुई प्रतिभा ने नानकिंग सरकार के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। इसलिए च्यांग काई शेक ने अब साम्यवादियों का दमन करने के लिए कठोर रुख अपनाया। उसकी बेचैनी का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसने सन् 1931 में मंचूरिया के प्रश्न पर जापान द्वारा चीन पर किए गए आक्रमणों को उतना महत्व नहीं दिया जितना कि साम्यवादियों के दमन करने में दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् चीन में गृह युद्ध एवं माओ के नेतृत्व में साम्यवादियों की सफलता– चीन पीपुल्स कन्सलटेटिव संस्था का अन्त होते ही 'कुओमिंगतांग–कम्युनिस्ट' के मध्य जारी भीषण संघर्ष के कारण भयंकर गृह युद्ध में उलझ गया। नवम्बर, 1946 में च्यांग काई शेक ने अपनी लोकप्रियता के लिए चीन में गणतंत्र की स्थापना करते हुए राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन में साम्यवादियों ने भाग नहीं लिया। च्यांग ने इस पर विशेष ध्यान न देते हुए सन् 1948 में चुनाव कराया और च्यांग निर्वाचित होकर राष्ट्रपति बन गया। साम्यवादी च्यांग की इन गतिविधियों को बड़ी पैनी निगाह से देख रहे थे। वे शांत बैठने वाले नहीं थे। वे भी उत्तरी एवं पूर्वी चीन के अनेक भू–भागों पर अधिकार कर चुके थे और रूस के द्वारा मंचूरिया एवं कोरिया के कुछ क्षेत्रों के खाली करने पर उन पर भी अपना अधिकार जमा चुके थे।

गृह–युद्ध में साम्यवादियों की सफलता के कारण

(1) **कुओमिंगतांग में फूट–** डॉ. सुनयात सेन की मृत्यु के पश्चात् कुओमिंगतांग का विभाजन हो गया। यह दल दो भागों में बँट गया– (1) वामपंथी, (2) दक्षिण पंथी।

(2) **चीन की आर्थिक स्थिति–** कुओमिंगतांग सरकार ने जिस प्रकार पूंजीपति वर्ग के चारों परिवारों एवं अमेरिका से नाता जोड़ा था, उससे चीन में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। लगातार युद्ध की नीति ने च्यांग काई शेक की सरकार को आर्थिक रूप से बहुत ही कमजोर कर दिया। अगस्त, 1945 से 1948 तक तो उसका कार्य बीस खरब डॉलर के अनुदान से ही चला। मुद्रा–स्फीति होने से वस्तुओं के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि होने लगी।

(3) **च्यांग काई शेक का दूषित प्रशासन–** च्यांग काई शेक का दूषित प्रशासन एवं फासीवादी प्रवृत्ति साम्यवादियों की सफलता हेतु वरदान साबित हुई। वास्तव में, जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए डॉ. सुनयात सेन ने कुओमिंगतांग का गठन किया था, उसकी मृत्यु के पश्चात् राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र एवं सामाजिक न्याय (आजीविका) सम्बन्धी उसके सिद्धान्तों का सही रूप से पालन नहीं किया गया।

(4) **जापानी आक्रमण के प्रति साम्यवादियों की नीति–** साम्यवादियों ने हमेशा ही जापानी आक्रमण का विरोध किया, जापानी आक्रमण के समय हमेशा ही उन्होंने च्यांग काई शेक से अपनी शत्रुता को भुलाकर समझौता करने का प्रयास किया।

(5) **कृषकों का समर्थन प्राप्त करना–** साम्यवादियों की सफलता के लिए उसके द्वारा कृषकों का समर्थन प्राप्त करने की नीति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। साम्यवादी इस बात को भली–भांति जानते थे कि चीन एक कृषि–प्रधान देश है और वहाँ पर कृषकों को संगठित करके ही क्रान्ति को सफल बनाया जा सकता है।

(6) **साम्यवादियों की नैतिकता–** साम्यवादियों की नैतिकता ने भी उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

(7) **साम्यवादियों की युद्ध नीति–** साम्यवादियों की सफलता के लिए उनका सैन्य संगठन एवं युद्ध प्रणाली भी महत्वपूर्ण थी।

निष्कर्ष– इस प्रकार से यह माना जा सकता है कि उक्त परिस्थितियों के होते हुए भी चीन में कुओमिंगतांग के विरोध में साम्यवादियों की विजय अवश्यम्भावी थी। अतः यह मानना कि चीन में साम्यवादियों की विजय मात्र रूसी सहयोग का प्रतिफल था, उचित एवं तर्कसंगत नहीं लगता। चीन में साम्यवादियों की विजय वास्तव में क्रान्ति की महत्वपूर्ण सफलता थी और चीन ने इसके पश्चात् एक नये युग में प्रवेश किया।

<u>लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-</u>

प्रश्न–(1) रूस–जापान युद्ध पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– रूस–जापान युद्ध– जारों में अशांति, अराजकता छा गई थी और जारों की निरंकुशता ने स्थिति को और अधिक बिगाड़ दिया। रूस आंतरिक और बाहरी आक्रमणों से घिर गया और जापान ने 1904 में रूस पर आक्रमण कर दिया।

जापान का आक्रमण– जापान ने साम्राज्यवादी नीति अपनाई। उसने कोरिया, लियोतुङ जीत लिये और चीन से शिमॉनास्की की संधि की,जिसका रूस ने विरोध किया। रूस ने भी चीन पर दबाव डालकर पोर्ट आर्थर का पट्टा लिखा लिया और रेल्वे लाईन बिछाने का अधिकार प्राप्त किया परन्तु जापान और इंग्लैण्ड ने इसका विरोध किया। जापान 1902 में

इंग्लैण्ड से संधि कर चुका था, इसी कारण जापान ने रूस पर आक्रमण कर दिया। रूस जल और थल में पराजित हुआ।

पोर्ट्समाऊथ की सन्धि– इस सन्धि में निम्न शर्तें थीं–

(1) दोनों मंचूरिया खाली करें (2) रूस ने कोरिया में जापान को मान्यता दी (3) कोरिया स्वतंत्र रहेगा (4) पोर्ट–आर्थर का पट्टा भी जापान के नाम कर दिया।

परिणाम– रूसी पराजय से रूस में सत्ता–परिवर्तन हो गया। शासन के अनेक दोषों पर जनता और नेताओं का ध्यान गया तथा गणतंत्र की स्थापना के लिये संविधान बना। रूसी सैनिकों में अराजकता, बेकारी और अपराध बढ़ने लगे। रूस में गृहयुद्ध और खूनी घटनायें घटने लगीं जिसके कारण ड्यूमाओं को बार–बार भंग करना पड़ा। इसी अराजकता में लबोब और केरेन्स की और अक्टूबर, 1917 में बोल्शेविक क्रांति हुई।

प्रश्न–(2) जापान के आधुनिकीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– जापान का आधुनिकीकरण का आरम्भ– जापानियों को शीघ्र ही यह समझ में आ गया कि यूरोपीय देशों के ज्ञान, विज्ञान, औद्योगिकरण और व्यापार की तुलना में वे स्वयं बहुत पिछड़े हैं। इसी कारण यूरोपीय देश शक्तिशाली होकर विश्व के कमजोर देशों को अपने आधीन बना रहे थे। जापान में भी उनकी यही नीति थी। जापान की प्राचीन व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी अतः उसने यूरोपियन ज्ञान, विज्ञान, औद्योगिक प्रणाली को अपनाना आरम्भ किया तथा 'जिसकी लाठी उसी का सिर' वाली उक्ति को चरितार्थ किया।

सामन्तवाद की समाप्ति– जापान का जनमत शोगुनों के विरोध में हो चुका था और 1868 में शोगून शासन की समाप्ति तथा सम्राट के शासन का आरम्भ हुआ। सम्राट मुत्साहितों ने सामन्तीय व्यवस्था को जापान की दुर्दशा का कारण समझा तथा उनके स्वार्थों, अत्याचारों तथा विदेशियों के समर्थन से सम्राट अप्रसन्न हुआ। दूसरी ओर अनेक देशभक्त नागरिक, नेता और कुछ सामन्तों ने सामन्तीय व्यवस्था को समाप्त करने की प्रेरणा सम्राट को दी। सम्राट मुत्साहितों ने जागीरों में सम्राट का प्रत्यक्ष शासन अपने द्वारा नियुक्त अधिकारियों के द्वारा आरम्भ किया। जागीरदारों को सूबेदार बनाकर उन्हें अपने अधिकार छोड़ने को बाध्य किया तथा उन्हें पेंशनें प्रदान कर दी गईं बाद में पेन्शन बन्द कर उन्हें एक निश्चित रकम प्रदान कर दी गई। इस प्रकार सामन्तीय अत्याचारों से किसान मुक्त हो; अनेक सामन्त उद्योग और व्यापार में लग गये। कई सामन्त, सामुराई, शिक्षित और देशभक्त होने से उदार बने। इस प्रकार देश का विकास होने लगा।

प्रश्न–(3) चीन में खुले द्वार नीति की प्रमुख विशेषतायें लिखिये।

उत्तर– खुले द्वार की नीति की विशेषतायें– अमेरिका के राष्ट्रपति क्रियन ने नीति तैयार करवाई। इसमें कहा गया कि इसके अन्तर्गत चीन में उपस्थित सभी देश परस्पर निम्न वचन दें–

1. कोई भी राष्ट्र चीन की प्रादेशिक अखण्डता का उल्लंघन नहीं करेगा अर्थात् उसके किसी प्रदेश को अपने साम्राज्य में शामिल नहीं करेगा।
2. कोई राष्ट्र अपने प्रभाव क्षेत्र के बन्दरगाहों पर भी किसी सन्धि या समझौते से हस्तक्षेप की नीति नहीं अपनायेगा।
3. चीन से चुंगी संधि सभी बन्दरगाहों के लिये लागू होगी, चाहे वह किसी भी राष्ट्र से सम्बन्धित ही क्यों न हो।
4. चुंगी चीनी सरकार एकत्रित करेगी।
5. प्रत्येक देश अपने प्रभाव क्षेत्र के बन्दरगाहों, रेलों आदि का खर्चा अन्य देशों से वही बसूल करेगा जितना कि वह अपने लोगों से लेता है।

प्रश्न–(4) बॉक्सर विद्रोह के असफलता के कारणों का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

उत्तर– बॉक्सर संघर्ष का आरम्भ और अन्त एक ही वर्ष (1899– 1900) में हो गया। सामान्यतः इस संघर्ष को भी असफल माना जाता है। इसके निम्न कारण थे–

1. **विदेशी हस्तक्षेप–** सभी यूरोपीय राष्ट्र और जापान ने अपनी नौसैनिक शक्तियों तथा श्रेष्ठतम शस्त्रों से बॉक्सर आंदोलन को कुचल दिया।
2. **मंचूरिया सरकार की दोहरी नीति–** सम्राज्ञी ने आरम्भ में बॉक्सरों का समर्थन किया और विदेशियों को बाहर जाने का भी निर्देश दिया जब विदेशी आक्रमण हुये तो सम्राज्ञी ने समर्थन वापस लेकर बॉक्सरों को अकेला छोड़ दिया अतः वे निर्बल पड़ गये।
3. **चीनी अधिकारी और सामन्त बॉक्सर विरोधी थे–** चीनी अधिकारियों को बॉक्सर संघर्ष से अपने पद और प्रतिष्ठा के समाप्त होने का खतरा लगने लगा। यदि मंचूरिया वंश का शासन न रहा तो सामंतों के पद भी समाप्त हो जायेंगे। जागीरदारों को उनकी जागीरें चले जाने का खतरा लगने लगा। अतः इन सभी ने बॉक्सर क्रांति के दमन में देश के हित का विचार किये बिना विदेशियों का साथ दिया। टिंटसीन, नानकिंग और बूचांग के राज्यपालों ने बॉक्सरों का दमन किया।
4. **संघर्ष का सीमित क्षेत्र–** बॉक्सरों में त्याग, बलिदान और देश–भक्ति की भावना थी परन्तु उनका प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। जनता में भी यह आन्दोलन पूर्णरूपेण व्याप्त नहीं हो पाया।

प्रश्न–(5) 1911 की चीनी क्रान्ति के परिणामों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर– 24 दिसम्बर, 1911 को डॉ. सनयात सेन अमेरिका से शंघाई पहुँच गये जनवरी, 1912 को नवीन गणतंत्र के राष्ट्रपति बन गये। इसी समय मंचूरिया सरकार ने विश्वासघाती युआन–शि–काई की सरकार को हटाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार डॉ. सनयात सेन ने युआन–शि–काई को लिखा कि यदि वह गणतंत्र को स्वीकार कर ले तो उसे वह राष्ट्रपति स्वीकार कर लेंगे। युआन–शि–काई ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तथा दोनों ने मिलकर 12 फरवरी, 1912 को मंचूरिया सरकार का अन्त कर दिया और सम्राज्ञी को वार्षिक पेन्शन दे दी गई। इस प्रकार चीन में प्रथम गणतंत्र स्थापित हो गया।

प्रश्न–(6) 'फासीवाद' का आशय स्पष्ट कीजिये।

अथवा

फासीवाद की परिभाषा बताइये।

उत्तर– फासीवाद का अर्थ– इटली में फासीवाद का जन्म एक प्राकृतिक प्रवृत्ति के रूप में हुआ परन्तु बाद में वह एक सुनिश्चित विचारधारा और सिद्धान्त में बदल गया उसने एक विशिष्ट आचरण अपनाया और विशेष शासन–प्रणाली को स्थापित किया। इटली में स्थापित फासीवाद का संस्थापक मुसोलिनी था।

लैटिन भाषा के शब्द 'फेसियो' से फासी की उत्पत्ति हुई। प्राचीन रोमन नागरिक लकड़ियों के बंधे हुये गट्ठर को फेसेज कहते थे। इसे एकता, अनुशासन और शक्ति का प्रतीक माना जाता था। मुसोलिनी ने इस शब्द को अपनाकर इटली के सम्मुख इन्हीं आदर्शों को रखा तथा इन्हीं आदर्शों की पूर्ति के लिये उसने एक राज्य, एक ध्वज, एक नेता का संदेश अपनी विचारधारा में किया। इस प्रकार नाजीवाद के समान यह भी उग्र राष्ट्रवादी और अधिनायकवादी विचारधारा थी। मुसोलिनी ने इसके सम्बन्ध में कहा है कि, "फासीवाद कोई एसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी हर बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो।

फासीवाद का जन्म कार्य करने की आवश्यकता के कारण हुआ है, अतः फासीवाद सैद्धान्तिक होने के बजाये प्रारम्भ से ही व्यावहारिक रहा है।''

प्रश्न–(7) सन् 1894–95 में चीन–जापान युद्ध के परिणामों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

उत्तर– जनसंख्या, भू–भाग, सेना की दृष्टि से सर्वाधिक विशाल चीन को इन्हीं दृष्टियों से सर्वाधिक लघु देश जापान ने पराजित कर 'विशाल दैत्य' को मार दिया। उस समय जापान के सम्बन्ध में यूरोपीय देशों को यह ज्ञात नहीं था कि जापान ने ज्ञान–विज्ञान, सैनिक सामग्री, युद्ध–कला, यातायात आदि को इतना अधिक विकसित कर लिया था कि वह किसी देश को पराजित कर सके। इस कारण चीन पर आक्रमण से विश्व आश्चर्यचकित हो गया।

1. मंचूरिया सरकार के खिलाफ प्रतिक्रिया– चीनी सरकार की पराजय से धर्मभीरू जनता ने यह समझा कि मंचूरिया वंश से ईश्वर नाराज हो गया तथा क्रांतिकारी और शिक्षित चीनियों को विश्वास हो गया कि मंचूरिया वंश पूर्णरूप से असक्षम और अयोग्य सरकार थी। इसी कारण चीन के आधीन प्रदेश उसके नियंत्रण से मुक्त होते चले जा रहे थे। कोरिया शेष था, चीन–जापान युद्ध ने इसे भी स्वतंत्र घोषित कर दिया। इन्हीं कारणों का यह परिणाम हुआ कि चीन के प्रान्तीय अधिकारियों ने मंचूरिया सरकार को धन–जन से मदद देना बन्द कर दिया, जनता ने मंचूरिया वंश के खिलाफ असहयोग के साथ क्रांति का संगठन किया। इस पराजय से चीन की शेष बची प्रतिष्ठा, शक्ति और प्रभाव समाप्त हो गया।

2. विदेशियों की चिन्ता वृद्धि– चीन में अराजकता और क्रांतिकारी संघर्ष, विदेशियों और मंचूरिया सरकार के खिलाफ उग्र होते जा रहे थे। इससे विदेशियों को चिन्ता होने लगी। रूस का चीन में रूसी विस्तार, पोर्ट ऑर्थर और लियोतुंग में जापानी अधिकार से रूसी आकांक्षाओं में बाधायें उपस्थित हो गईं। इंग्लैण्ड चीन की अखण्डता में विश्वास करता था उसका यह विश्वास खण्डित हो गया अतः इंग्लैण्ड ने जापान से लियोतुंग को खाली करवाने का प्रयत्न किया। इस कारण दोनों के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हुआ।

इकाई-5

टीप/उत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. फासिज्म से आप क्या समझते हैं? इटली में फासीवाद के उदय के कारणों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– वर्साय संधि और उसके पश्चात् पश्चिमी विजेता राष्ट्रों के व्यवहार और उससे उत्पन्न परिस्थितियों में पराजित और उपेक्षित देशों में असन्तोष उत्पन्न हुआ तथा उन्होंने अपने अपमान और पराजय के कलंक को समाप्त करने के लिये ऐसी प्रणालियों को जन्म दिया जिन्हें 'सर्वाधिकारवाद' या 'अधिनायकवाद' कहा जाता है। हिटलर का चाहे नाजीवाद हो अथवा मुसोलिनी का फासीवाद हो दोनों ही 'सर्वाधिकारवादी' थे।

इटली में फासीवाद और इसका अर्थ– इटली में फासीवाद का जन्म एक प्राकृतिक प्रवृत्ति के रूप में हुआ परन्तु बाद में वह एक सुनिश्चित विचारधारा और सिद्धान्त में बदल गया उसने एक विशिष्ट आचरण अपनाया और विशेष शासन–प्रणाली को स्थापित किया। इटली में स्थापित फासीवाद का संस्थापक मुसोलिनी था।

लैटिन भाषा के शब्द 'फेसियो' से फासी की उत्पत्ति हुई। प्राचीन रोमन-नागरिक लकड़ियों के बंधे हुये गट्ठर को फेसेज कहते थे। इसे एकता, अनुशासन और शक्ति का प्रतीक माना जाता था। मुसोलिनी ने इस शब्द को अपनाकर इटली के सम्मुख इन्हीं आदर्शों को रखा तथा इन्हीं आदर्शों की पूर्ति के लिये उसने एक राज्य, एक ध्वज, एक नेता का संदेश अपनी

विचारधारा में किया। इस प्रकार नाजीवाद के समान यह भी उग्र राष्ट्रवादी और अधिनायकवादी विचारधारा थी। मुसोलिनी ने इसके सम्बन्ध में कहा है कि, ''फासीवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी हर बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य करने की आवश्यकता के कारण हुआ है, अतः फासीवाद सैद्धान्तिक होने के बजाये प्रारम्भ से ही व्यावहारिक रहा है।''

फासीवाद की उत्पत्ति के कारण– यूरोप में इटली एक छोटा देश था परन्तु प्रथम विश्व–युद्ध में वह मित्र–राष्ट्रों के साथ लड़कर विजयी राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा था परन्तु उसी के मित्र राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि) ने ऐसा व्यवहार किया जिससे वह असन्तुष्ट हो गया। अतः इटली में फासीवाद की उत्पत्ति के निम्न कारण महत्वपूर्ण थे–

1. सहयोग का प्रतिफल निराशाजनक– प्रथम विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों ने उसे दक्षिणी मोर्चे पर भेजा जहाँ उसने आस्ट्रिया को पराजित किया। जून, 1918 में फ्रांस और इंग्लैण्ड की मदद से इटली ने पुनः आस्ट्रिया को 'पियावे नदी' के युद्ध में पराजित किया इसके पश्चात् अमेरिका भी आस्ट्रिया के मोर्चे पर आ गया अतः तीनों के साथ मिलकर इटली ने फिर आस्ट्रिया पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार इटली का विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका की विजयों में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान था। उपरोक्त युद्धों में वह प्रत्येक में लड़ा। परन्तु सभी मित्र सभी युद्ध में नहीं लड़े। फिर भी किसी ने भी विजय में इटली की भागीदारी को कोई महत्व नहीं दिया और अपनी–अपनी विजयों में मदोन्मत्त हो गये। इसका प्रमुख कारण इटालियनों ने इटली की निर्बलता और लघुता को माना अतः उन्होंने इन दोनों को दूर करने का प्रयास किया।

फासीवाद की उत्पत्ति के कारण
1. सहयोग का प्रतिफल निराशाजनक
2. मित्र राष्ट्रों द्वारा विश्वासघात और उपेक्षा
3. युद्ध के बाद इटली की आर्थिक दुर्दशा
4. देश में अराजकता
5. साम्यवादी और अन्य आन्दोलन
6. मुसोलिनी का व्यक्तित्व

2. मित्र राष्ट्रों द्वारा विश्वासघात और उपेक्षा– 26 अप्रैल, 1916 में मित्र राष्ट्रों ने लन्दन संधि में इटली को ट्रेण्टिनों, टीस्ट, इस्ट्रिया, फ्यूम, टेल्मेशियन, तटीय क्षेत्र, टायरोल और अल्बानिया देने का गुप्त वचन दिया था। परन्तु विजय के बाद बुडरो–विल्सन ने इस गुप्त संधि को अस्वीकार कर दिया। अतः उसे केवल ट्रेण्टिनों, डाल्मेशिया और दक्षिणी टायरोल ही दिये गये। अतः अन्य प्रदेश न मिलने से इटली अत्यन्त क्रोधित था। जब इसका लाभ उठाकर सितम्बर, 1919 में डेन्जिया नामक एक कवि ने फासिस्टों की मदद से फ्यूम पर अधिकार कर लिया। इससे फासिस्टों को यश और महत्व मिला तथा जनता इटली के गणतंत्र से घृणा और फासीवाद से प्रेम करने लगी।

3. युद्ध के बाद इटली की आर्थिक दुर्दशा– प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोप के सभी राष्ट्र विश्वव्यापी मन्दी और आर्थिक विनाश के शिकार हुये। युद्ध काल में अरबों डॉलरों के शस्त्रास्त्र और विस्फोटक सामग्री में खर्च, उद्योग, व्यापार, यातायात के विनाश के शिकार तथा इटली को दिये वचन के अनुसार उपनिवेश और आर्थिक सुविधायें प्राप्त नहीं हुईं। इस प्रकार एक छोटे से राज्य इटली को आर्थिक रूप में सबसे कमजोर मानकर मित्र–राज्यों ने उससे अपमानजनक व्यवहार किया। इसका बदला नवीन आर्थिक क्षेत्र प्राप्त करके ही लिया जा सकता था। मुसोलिनी ने ऐसा ही निश्चय किया, क्योंकि यूरोपिय देश फ्रांस और इंग्लैण्ड आदि अभी भी विशाल औपनिवेशिक क्षेत्र के स्वामी थे।

4. देश में अराजकता– युद्ध के पश्चात् जैसे जर्मनी में बाईमर गणतंत्र को नष्ट करने में या उसको बचाने में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने कोई प्रयत्न नहीं किया बल्कि उसे अपनी क्षतिपूर्ति वसूली का साधन बनाया उसी प्रकार इटली की प्रजातंत्रीय सरकारों को बचाने के लिये यूरोपिय राष्ट्रों ने कोई मदद नहीं दी। अतः आर्थिक दुर्दशा के काल में इटली की मिलों में हड़तालें, लूट-पाट होने लगीं। किसान भूमि पर कब्जा कर जमींदारों को मारने लगे। साम्यवादियों ने इस अराजकता से लाभ उठाकर सरकार को पलटने का प्रयत्न किया। इस अशान्ति और अराजकता में मुसोलिनी ने दृढ़, सक्रिय और योग्य सरकार देने का आश्वासन जनता को दिया।

5. साम्यवादी और अन्य आन्दोलन– इटली की जनता और पूंजीपति वर्ग तथा यूरोप की शक्तियाँ इटली में साम्यवादियों के बढ़ते प्रभाव से बहुत चिंतित थे इसलिये सभी ऐसे लोह-व्यक्ति की तलाश में थे जो साम्यवाद पर रोक लगा सके। अतः सभी ने हिटलर को समर्थन देना आरम्भ किया। इस समय सभी मुसोलिनी को साम्यवाद के विरोध में एक शस्त्र के रूप में प्रयोग करना चाहते थे। इससे मुसोलिनी को शक्ति और प्रतिष्ठा मिली। इसी समय जर्मनी के हीगल की विचारधारा ने 'फासिज्म' की उत्पत्ति में मदद की वह 'राज्य को संसार की आत्मा' मानता था। मैरेनिटी ने इटली की जनता को भूतकाल की घटनाओं को भुलाकर और साम्राज्यवादी बनाकर अपने भविष्य को सुधारने का संदेश दिया जिससे मुसोलिनी की विचारधारा को बल मिला।

6. मुसोलिनी का व्यक्तित्व– यूरोपिय देशों की साम्राज्यवादी, स्वार्थी प्रवृत्ति, इटली के अपमान और आर्थिक विनाश तथा इटली में अराजकता और जन-आकांक्षाओं के मध्य लोकतंत्रात्मक व्यक्ति या व्यवस्था नहीं चल पा रही थी। इसमें दृढ़ इच्छा शक्ति से सम्पन्न, अत्यन्त सक्रिय शत्रुओं से अधिक प्रतिभाशाली और सुदृढ़ शासन संचालन की योग्यतायें धारण करने वाले व्यक्ति की आवश्यकता थी और मुसोलिनी इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति था अतः उसका उदय हुआ।

प्रश्न–2. मुसोलिनी की गृह नीति का वर्णन कीजिये।

उत्तर– मुसोलिनी की गृह नीति– मुसोलिनी ने सम्पूर्ण सत्ता पर अधिकार करने के लिये प्रथम अधिनियम का निर्माण किया जिसमें बहुमत प्राप्त करने वाले को संसद में दो तिहाई स्थान मिलेंगे। इसके अनुसार मुसोलिनी को दो तिहाई स्थान 1924 के निर्वाचन में मिल गये। दूसरे अधिनियम के अनुसार प्रधानमंत्री को जल, थल, नभ सेना का प्रधान पद और शासन के समस्त पदों तथा संसद में सदस्यों की नियुक्ति के अधिकार मिल गये। सम्राट का पद बना रहा परन्तु वह एक रबर स्टाम्प बना दिया गया था।

(1) **केन्द्रीय संगठन–** मुसोलिनी ने शासन संचालन हेतु निम्न कार्य किये–

1. मुसोलिनी ने एक फासिस्ट केबिनेट का निर्माण किया जिससे वह परामर्श ले सकता था तथा जिसके परामर्श को स्वीकार करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था।
2. ग्रान्ड कौंसिल ऑफ फासिस्ट पार्टी का निर्माण 25 सदस्यों से किया गया। यह फासिस्ट दल की एक समिति थी जो शासन के लिये निर्देश, और नीति निर्धारण का कार्य करती थी।
3. संसद में सीनेट और चेम्बर ऑफ डेपुटीज नाम के सदन थे। सीनेट के सदस्यों को मुसोलिनी चुनता था और इसके सदस्य आजीवन या मुसोलिनी की इच्छा तक सदस्य होते थे। चेम्बर के सदस्य भी फासिस्ट हुआ करते थे और फासिस्ट पार्टी इनकी नियुक्ति करती थी।

(2) **फासिस्टीकरण–** मुसोलिनी ने अपने समस्त विरोधियों का दमन कर सम्पूर्ण इटली के शासन के लिये फासिस्ट सदस्यों को नियुक्त किया गया यहां तक कि प्रबल विरोधी और साम्यवादी मोटी ओटो की हत्या कर दी गई। लेखन, भाषण और समाचार पत्रों पर नियंत्रण और प्रकाशन के माध्यम से फासिस्ट विचारधारा का प्रचार और प्रसार किया गया। गुप्तचर विभाग, फासिस्ट न्यायालय और कठोर दण्ड की व्यवस्थाओं से फासिस्ट विरोधियों की खोज की गई तथा उन्हें दण्डित किया गया।

(3) **फासिस्ट दल को मान्यता–** मुसोलिनी ने 1920 के अधिनियम के अनुसार इटली में केवल फासिस्ट दल को वैध माना एवं अन्य सभी दलों को अवैध घोषित कर उन्हें प्रतिबन्धित कर दिया। फासिस्ट दल की शाखायें प्रान्त, जिले, ग्राम में खोली गईं और उनके व्यवस्थित पदाधिकारी बनाये गये तथा उन्हें शासन कार्य सौंपे गये। सन् 1926 के कानून के अनुसार केबीनेट के सदस्य ग्राण्ड कौंसिल के सदस्य होंगे। इससे कौंसिल सर्वेसर्वा बन गई।

(4) **फासिस्ट शिक्षा–** फासिस्ट सत्ता के पूर्व की शिक्षा व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। विश्व-विद्यालय, विद्यालयों में मुसोलिनी के विचार पढ़ाये जाने लगे। शिक्षक, व्याख्याता, विशेषज्ञ आदि वही बनाये गये जो फासिस्ट थे। विज्ञान और तकनीकी के विकास के लिये विशेष शिक्षा व्यवस्था आरम्भ की। 6 से 8 वर्ष के सभी बच्चों को "फिगली डेमा धूपा" का सदस्य होना पड़ता था। 8 से 14 वर्ष के बालकों को "बालचर संस्था का प्रशिक्षण" आवश्यक था और 14 से 18 वर्ष के युवक अवानगर्डिया के द्वारा शिक्षित किये जाते थे। 21 से 33 वर्ष तक के युवक को अनिवार्य सैन्य शिक्षा दी जाती थी।

(5) **यहूदियों का दमन–** हिटलर के समान मुसोलिनी भी यहूदियों से घृणा करता था तथा उनका शत्रु था। मुसोलिनी भी मानता था कि इटली पूर्णरूपेण आर्य-भूमि थी। अतः वह यहूदियों को इटली से निकाल देना चाहता था। इसके लिये उसने दमन, निर्वासन, बन्दी बनाने, सम्पत्ति छीनना और प्रतिबन्ध जैसे उपाय अपनाये।

(6) **पोप-मुसोलिनी समझौता–** यूरोप के इतिहास में रोम के पोप का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। मुसोलिनी के पूर्व न केवल इटली की सरकारों को बल्कि जर्मनी के बिस्मार्क, नेपोलियन तथा फ्रांस की सरकारों आदि को पोप की शक्ति से सामना करना पड़ा और समझौते भी करना पड़े।

मुसोलिनी भी पोप को अपने मार्ग में बाधक मानता था। इटली के एकीकरण के समय पोप की सत्ता केवल वेटिकन तक ही सीमित रह गई थी, वह अपने को वेटिकन का बन्दी मानता था। वह अपने अखिल यूरोपिय प्रभाव, रोम में अपनी सत्ता की पुर्नप्रतिष्ठा और शक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील था। मुसोलिनी का विचार था कि इटली को धार्मिक भावनाओं और पोप से मुक्त होकर विदेश नीति और साम्राज्य विस्तार पर अधिक ध्यान देना चाहिये। परन्तु पोप के प्रभाव की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। अतः मुसोलिनी ने पोप से समझौता करना उचित समझा। दूसरी ओर किसी भी दशा में पोप साम्यवाद को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। साम्यवाद किसी धर्म में विश्वास नहीं करता था। इस कारण पोप को मुसोलिनी से समझौते में लाभ दिखाई दिया। 11 फरवरी, 1629 को दोनों के मध्य लारेन की संधि हो गई। इसके अनुसार निम्न शर्तें थीं–

1. रोम पर मुसोलिनी की सत्ता को मान्य किया गया।
2. वेटिकन नगर स्वतंत्र और सार्वभौम पोप का राज्य माना गया।

3. मुसोलिनी पोप को 10 करोड़ डालर प्रतिवर्ष देगा और बदले में पोप अपने प्रादेशिक अधिकार छोड़ देगा।
4. सरकार पादरियों को वेतन देगी।
5. कैथोलिक पन्थ राज्य का भी धर्म पन्थ होगा।
6. शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।
7. धार्मिक विवाहों को वैध माना गया तथा उन्हें प्रमाणिक भी माना गया।

इस समझौते का इतना अधिक महत्व था कि पोप ने कहा कि, "इटली ने ईश्वर पा लिया है और ईश्वर को इटली मिल गया है।" इससे मुसोलिनी की प्रतिष्ठा और शक्ति में वृद्धि हो गई तथा इटालियनों का ध्यान धार्मिक संघर्षों से हटकर निर्माण कार्यों और विकास की ओर लगाना सरल हो गया।

मुसोलिनी की आर्थिक नीति– युद्ध–कालीन और युद्ध के पश्चात् मन्दी, मुद्रा प्रसार और युद्ध में क्षति से इटली दुर्दशा से ग्रस्त था। इस दशा को समाप्त करने के लिये उसने अनेक उपाय अपनाये–

(1) **सिन्डेकेलिज्म को प्रोत्साहन–** सिन्डेकेलिज्म से तात्पर्य यह है कि सरकार को भी व्यावसायिक बनाया जाये। यह विचारधारा समाजवादियों, श्रमिकों और फासिस्टों में पनप रही थी। इसी के अनुसार यह भी विचार उत्पन्न हुआ कि इटली की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये सभी को मिलकर कार्य करना चाहिये। अतः पूंजीपति, श्रमिक और सरकार को सिन्डीकेट बनाना चाहिये।

(2) **श्रमिक अधिकार–पत्र की घोषणा–** साम्यवाद को रोकने के लिये तथा श्रमिकों के हितों को ध्यान में रखकर 1927 में श्रमिक अधिकार–पत्र घोषित किया गया जिसके अनुसार रविवार का साप्ताहिक अवकाश, श्रमिकों की चिकित्सा, कार्य के समय अंग–भंग के मुआवजे, मृत्यु, वृद्धावस्था सम्बन्धी अधिकार माने गये और बीमे की व्यवस्थायें की गईं। दैनिक कार्यकाल 8 घन्टे निर्धारित किया गया।

(3) **कॉर्पोरेट एक्ट–** 1928 में इस एक्ट के द्वारा इटली के केन्द्रीय आर्थिक विभागों को देश की लोक सभा बनाने के अधिकार दिये गये। यह कार्य इटली की 13 सिन्डीकेट्स अपनी सामान्य परिषदों के माध्यम से करती थी। इस प्रकार जनता द्वारा निर्वाचित लोकसभा समाप्त हो गई तथा मुसोलिनी द्वारा मनोनीत सदस्यों की लोकसभा बना दी गई। परन्तु इससे इटली का आर्थिक विकास अत्यन्त तीव्र गति से हुआ।

(4) **आर्थिक निगमों की व्यवस्था–** सम्पूर्ण इटली की अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाने के लिये 1934 में एक्ट पारित कर 22 आर्थिक निगम बनाने की व्यवस्था की गई। इन निगमों के प्रमुख कार्यों में उत्पादन के उचित वितरण, उसके मूल्य का निर्धारण, श्रमिक संघर्षों का समाधान, उत्पादन की वृद्धि और सरकार को विशेष परामर्श देना थे। इनसे देश की वास्तविक और भौतिक रूप से अभूतपूर्व प्रगति हुई।

(5) **कृषि सुधार–** देश की जनसंख्या, सैनिक आवश्यकता और आर्थिक विकास के लिये कृषि–उत्पादन मूल आवश्यकता थी। अतः मुसोलिनी ने युद्ध स्तर पर अनेक दल–दली क्षेत्रों को सुखा कर कृषि योग्य बनाया। कृषकों को आधुनिक खाद, औजार और आधुनिक उपकरण एवं आर्थिक सहायता दी गईं। स्वदेशी कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिये और सस्ता तथा अच्छा उत्पादन करने के लिये विदेशी आयात पर प्रतिबन्ध लगाये गये। चलचित्रों, शिक्षा, प्रदर्शन तथा कृषि कार्यक्रमों के द्वारा कृषि की शिक्षा दी गई। इससे शीघ्र ही इटली कृषि में आत्म–निर्भर बनने लगा।

(6) **औद्योगिक सुधार–** मुसोलिनी ने एक ओर श्रमिक दशाओं में सुधार करके और श्रमिक–अधिकार देकर औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का उपाय किया वहीं तालाबन्दी और हड़ताल के अधिकार छीन कर, समस्याओं के समाधान के लिये निगम व्यवस्थायें कर उत्पादन को बढ़ाया। औद्योगिक उत्पादन में यातायात साधनों का अत्यधिक महत्व होता है। अतः इनका विकास करने पर भी मुसोलिनी ने ध्यान दिया तथा इटली में रेलों का जाल फैलाया। उपनिवेशों से कच्चा माल लाने के लिये और इटली से तैयार माल ले जाने के लिये विशाल पैमाने पर जलयानों का निर्माण किया जो सैनिक आवश्यकता की भी पूर्ति कर सकते थे। इटली में विशाल पैमाने पर विद्युत उत्पादन किया जाने लगा और औद्योगिक क्षेत्रों में इसका प्रयोग होने लगा। विभिन्न प्रकार के मशीनी औजार और शस्त्रास्त्रों का निर्माण भी इटली में ही होने लगा तथा शीघ्र ही इटली यूरोप को चुनौती देने लायक बन गया।

(7) **बेरोजगारी दूर करना–** विश्व–युद्ध और पूंजीवादी व्यवस्था के कारण इटली में बेकारी और गरीबी चरम सीमा पर थी तथा देश में यहूदी बड़ी मात्रा में थे अतः मुसोलिनी ने बड़े पैमाने पर यहूदियों को देश से निष्कासित किया उनके उद्योग, व्यापार इटालियनों को दिये। औद्योगिक, कृषि, यातायात का विकास करके इटली की जनता को विशाल पैमाने पर काम दिया जिससे उनमें स्वाभिमान जागृत हुआ, गरीबी दूर हुई तथा जीवन स्तर उठा। इससे इटलीवासी मुसोलिनी के भक्त हो गये।

निष्कर्ष– मुसोलिनी की विचारधारा सिद्धान्तवादी नहीं थी। जिन परिस्थितियों से इटली जूझ रहा था उनमें प्रजातंत्र असफल रहा और इटली अपमानित हुआ अतः जर्मनी के समान इटली में मुसोलिनी ने फासिस्ट दल का निर्माण कर सत्ता पर अधिकार कर लिया तथा पूर्ण निरंकुश या सर्वाधिकारवादी नीति अपनाई परन्तु उसने इटली की सामान्य जनता और उसके सम्मान का ध्यान रखा।

प्रश्न–3. मुसोलिनी की विदेशनीति की विवेचना कीजिये।

अथवा

मुसोलिनी की उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।

अथवा

मुसोलिनी की विदेश नीति का वर्णन कीजिये।

उत्तर– सम्पूर्ण इटली वर्साय संधि और पेरिस शान्ति सम्मेलन के निर्णयों से असन्तुष्ट था इससे भी अधिक सभी बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रों के विश्वासघात् और इटली की उपेक्षा से नाराज था। इसके लिये इंग्लैण्ड और फ्रांस विशेष रूप से उत्तरदायी थे क्योंकि इन देशों ने इटली को दिये अपने वचनों को तोड़कर और इटली का राजनीतिक, आर्थिक और राष्ट्रीय अपमान करने में चरम सीमा भी पार कर दी थी। इसी वातावरण और परिस्थितियों में इटली में मुसोलिनी का उदय हुआ तथा उसने 1922 में सम्पूर्ण सत्ता पर अधिकार कर लिया। सत्ता पाने के पश्चात् उसने तेजी से इटली का फासिस्टिकरण किया तथा उसकी आन्तरिक आर्थिक स्थिति को सुधारा और सशक्त विदेश नीति का निर्माण किया।

मुसोलिनी की विदेश नीति के सिद्धान्त और विचार– मुसोलिनी भी हिटलर के समान इंग्लैण्ड, फ्रांस और राष्ट्र संघ को विश्वासघाती मानता था तथा इनसे बदला लेना चाहता था क्योंकि युद्ध काल में फ्रांस और इंग्लैण्ड ने 1916 की लन्दन संधि में इटली को ट्रेण्टिनों, ट्रीस्ट, इस्ट्रिया, फ्यूम, टेल्मेशियन क्षेत्र, टायरोल, अल्बानिया आदि देने का वचन दिया था परन्तु उसे केवल टेण्टिनों, डाल्मेशिया और दक्षिणी टायरोल ही दिये गये। इस प्रकार उसका युद्ध में उपयोग तो किया गया परन्तु वचन पूरे नहीं किये गये। अतः सम्पूर्ण इटली और मुसोलिनी का यह विचार था कि यह अपमान इटली की भौगोलिक लघुता, शक्तिहीनता और

वर्तमान सरकार की अयोग्यता के कारण हुआ था। अतः उसने शक्ति, साम्राज्य और लौह-नीति से इटली का उत्थान करने का निश्चय किया।

विदेश नीति का कार्यान्वयन– उपरोक्त विचारों का सारांश है– सशक्त साम्राज्यवादी नीति और इसी का पालन उसने विभिन्न देशों से सम्पर्क करने या आक्रमण करने में किया उसका व्यवहार रूप अग्रलिखित देशों के साथ देखने को मिलता है–

यूनान से द्वीपों की प्राप्ति– इटली को 1923 की लॉरेन संधि में अपने अधिकार छोड़ना पड़े थे। इन पर 1920 से यूनान का अधिकार चला आ रहा था। इसके पूर्व इन पर इटली का अधिकार था। अब कमाल पाशा ने यूनान को पराजित कर सीवर्स की संधि को तोड़ दिया तथा राष्ट्र संघ मूकदर्शक बना रहा। इससे मुसोलिनी को रोहड्स और डोडिकानिज द्वीपों पर अधिकार करने का अवसर मिल गया। अब उसने लॉरेन और सीवर्स संधि में संशोधन करके इन पर कब्जा कर लिया तथा भूमध्य सागर को अपनी 'झील' बनाने के लिये इनका सैन्यीकरण करके वहाँ नौसैनिक अड्डे बनाये तथा किलेबन्दी की। यूनान और इटली के सम्बन्ध खराब होने पर, यूनान में अन्तर्राष्ट्रीय आयोग में इटालियन सदस्य की अगस्त, 1923 को हत्या हो जाने पर मुसोलिनी ने यूनान के कार्फ्यू टापू पर अधिकार कर लिया और 5 करोड़ लीरा (धन) भी वसूल किये। परन्तु इंग्लैण्ड के हस्तक्षेप के कारण कार्फ्यू को खाली कर देना पड़ा।

टाइरोल के प्रति वचन तोड़ा– पेरिस संधि में टाइरोल का टेण्टिनों क्षेत्र इटली को सौंप दिया गया था। यह जर्मन बहुल क्षेत्र था तथा इटली के अन्तर्गत आ चुका था। अतः मुसोलिनी ने जर्मनों के साथ समान व्यवहार करने का वचन दिया था। परन्तु उसने इस वचन को भुलाकर गैर इटालियनों (जर्मनों) को इटालियनों के प्रभाव में मानने की घोषणा की और इटली के विषयों में किसी भी विदेशी के हस्तक्षेप को स्वीकार न करने की भी बात कही। मुसोलिनी की इस नीति का किसी ने विरोध नहीं किया अतः उसका साहस और अधिक बढ़ गया।

इटली और यूगोस्लाविया– इटली और यूगोस्लाविया में प्रथम विश्व युद्ध के समय से ही मतभेद चले आ रहे थे। इटली को 1915 की गुप्त लन्दन संधि के अनुसार मित्र राष्ट्रों ने एड्रियाट्रिक समुद्र के प्रदेश नहीं दिये। विल्सन ने लन्दन संधि का विरोध किया। क्योंकि इन प्रदेशों में गैर इटालियन अधिक थे। लन्दन संधि में फ्यूम का कोई उल्लेख नहीं था। वहां इटालियन जनसंख्या अधिक थी। अतः मुसोलिनी ने फ्यूम की मांग की। दूसरी ओर यूगोस्लाविया ने फ्यूम और टाइरोल पर अपना दावा प्रस्तुत किया। इससे इटली और अधिक नाराज हुआ।

रूस–मुसोलिनी संधि– मुसोलिनी हिटलर के समान रूस भी वर्साय संधि का विरोधी था और फ्रांस, इंग्लैण्ड अमेरिका साम्यवादी रूस से घृणा करते थे तथा हिटलर और मुसोलिनी के साम्यवाद विरोधी अभियानों का मौन समर्थन भी करते थे। इस कारण दोनों को शक्ति प्राप्त करने का अवसर मिल गया। पर्याप्त शक्तिशाली बन जाने पर और मुसोलिनी के यूरोप विरोधी होने पर उसने रूस के साथ 1924 में एक व्यापारिक संधि करके रूसी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। इससे इटली को राजनीतिक लाभ भले ही नहीं हुआ परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अवश्य मिल गई।

रोम पेक्ट– इटली, फ्रांस से वर्साय संधि से ही नाराज था। उसके बाद दोनों में व्यापारिक सम्बन्धों में तनाव बना हुआ था। इस समय ट्यूनिश, कार्सिका और सेवाय पर मुसोलिनी अधिकार करने का अवसर खोज रहा था। परन्तु इन पर फ्रांस का अधिकार था। इसी प्रकार भूमध्य सागर में भी दोनों के हितों में मतभेद थे। इन मतभेदों में हिटलर के उत्कर्ष से कमी आ गई। हिटलर ने भी इसमें भूमिका निभाई। वास्तव में दोनों ही फ्रांस को भ्रम में रखकर मूर्ख

बनाना चाहते थे। हिटलर आस्ट्रिया पर अधिकार की प्रतीक्षा कर रहा था। इस प्रकार रोम पेक्ट का 1935 में जन्म हुआ। इसके अनुसार निम्न शर्तें थीं–

(1) फ्रांस का 44,500 वर्ग मील अफ्रीकी क्षेत्र इटली को मिल गये।
(2) दोनों देशों में प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो गई।
(3) आस्ट्रिया पर संकट आने के समय दोनों विचार करेंगे।
(4) यूरोप की स्थिति यथावत रहेगी।

फ्रांस और इटली के इस समझौते के बाद हिटलर ने मार्च, 1938 को आस्ट्रिया को जर्मन राज्य का अंग बना लिया। इस प्रकार रोम–पेक्ट से इटली और फ्रांस निकट नहीं आये बल्कि हिटलर और मुसोलिनी निकट आ गये।

स्ट्रेसा संधि– हिटलर के प्रभाव को नियंत्रित करने के उद्देश्य से 1935 में स्ट्रेसा में इंग्लैण्ड के साथ एक संधि की गई। इसमें इंग्लैण्ड, इटली और फ्रांस ने हिटलर के विरोध में एक मोर्चे के रूप में कार्य करना स्वीकार किया। संधि वार्ता के समय ही हिटलर और इंग्लैण्ड में नौसैनिक वार्ता भी चल रही थी। इस सम्मेलन का एबीसीनियां पर आक्रमण के बाद कोई प्रभाव नहीं रहा।

रूमानिया, स्पेन, हंगरी, यूनान और तुर्की से संधियां– मुसोलिनी ने यूरोप में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये तथा भावी युद्धों के समय छोटे–छोटे देशों को तटस्थ रखने और इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का साथ न देने के लिये रूमानिया और स्पेन से 1927 में, हंगरी से 1928 में और यूनान एवं तुर्की से 1932 में संधियां कीं। इससे मुसोलिनी की भी राजनीतिक और कूटनीतिक प्रतिष्ठा बढ़ गई।

एबीसीनियां की विजय– प्रथम महायुद्ध में इटली की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी और आर्थिक मन्दी ने इसे चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। इटली की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी तथा कच्चे माल और नवीन बाजारों की मांग बढ़ती जा रही थी। इधर मुसोलिनी ने इटली में जनता की स्वतंत्रता का हनन किया था अतः उसका ध्यान बंटाने के लिये और उसे कुछ देने के लिये उसने एबीसीनियां पर आक्रमण की योजना बनाई।

एबीसीनियां युद्ध, व्यापार, खनिज पदार्थों तथा मार्ग संयोजक केन्द्र होने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। सोमाली लैण्ड, इरीट्रिया और दक्षिण–पश्चिम अफ्रीका एक सूत्र में एबीसीनियां पर अधिकार से बांधे जा सकते थे। इस पर आक्रमण के लिये उपयुक्त अवसर भी था। स्वयं एबीसीनियाँ में अराजकता थी और यूरोपिय राज्य भी प्रथम महायुद्ध से पीड़ित शांति के इच्छुक थे, कोई भी युद्ध नहीं चाहता था। जापान मंचूरिया युद्ध में उनकी निष्क्रियता ने मुसोलिनी को आक्रमण के लिये प्रोत्साहित किया अतः 1934 में उसने एबीसीनियां पर आक्रमण कर दिया।

राष्ट्र संघ का त्याग और रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी का निर्माण– राष्ट्र संघ ने जब इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये और एबीसीनियां पर आक्रमण पर असन्तोष प्रगट किया तो मुसोलिनी ने समझ लिया कि अब इटली को राष्ट्र संघ की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः अपनी शक्ति वृद्धि के लिये उसका उपयोग करके तथा उसके प्रमुख राष्ट्र इंग्लैण्ड और फ्रांस को मूर्ख बनाने के बाद राष्ट्र संघ का 1936 में त्याग कर दिया।

दूसरी ओर जब यूरोपिय देश एबीसीनियां पर मुसोलिनी के आक्रमण का विरोध कर रहे थे तब हिटलर ने मुसोलिनी का समर्थन किया और सहायता की। क्योंकि वह मुसोलिनी को अपने साथ मिला कर आस्ट्रिया पर अधिकार करना चाहता था। मुसोलिनी के कारण उसका प्रथम आस्ट्रिया पर आक्रमण भी असफल हो गया था। अतः हिटलर और मुसोलिनी ने 26

अक्टूबर, 1936 को समझौता किया जो रोम–बर्लिन धुरी के नाम से विश्व–विख्यात् हुआ। इसके अनुसार निम्न निश्चय किये गये–

(1) दोनों साम्यवाद का विरोध करेंगे।
(2) स्पेन की रक्षा का दोनों प्रयत्न करेंगे।
(3) दोनों देश समय–समय पर वार्ता करेंगे।
(4) मुसोलिनी ने हिटलर का आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार का मौन समर्थन किया तथा एबीसीनियां पर हिटलर ने मुसोलिनी का अधिकार माना।

इटली–जर्मनी में फौलादी समझौता– 16 मार्च, 1937 को इटली ने लीबिया का संरक्षण ग्रहण कर लिया और ब्रिटिश–फ्रेन्च प्रभुता को चुनौती दी तथा 6 नवम्बर, 1937 को टोकियो–बर्लिन संधि पर हिटलर–मुसोलिनी ने हस्ताक्षर किये। इसके पश्चात् 22 मई, 1939 को दोनों ने फौलादी समझौता किया। चेम्बरलेन और मुसोलिनी का भद्र–समझौता और उसमें निहित एक–दूसरे की स्वतंत्रता और स्पेन में तटस्थता के आश्वासन नष्ट हो गये।

द्वितीय विश्व–युद्ध में मुसोलिनी की पराजय– हिटलर ने पोलैण्ड से अनाक्रमण समझौते और रूस से संधि के टूटने की चिंता किये बिना जब पोलैण्ड पर 1939 में आक्रमण किया तो मुसोलिनी को 'फौलादी (स्टील) पेक्ट' के अनुसार हिटलर को मदद देना आवश्यक था। परन्तु स्पेन में संघर्ष के कारण इटली युद्ध के लिये इस समय सक्षम नहीं था अतः वह युद्ध में तटस्थ रहना चाहता था फिर भी उसे 11 जून, 1940 को हिटलर के पक्ष में और मित्र राष्ट्रों के विरोध में युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। युद्ध में 25 जुलाई, 1943 को मुसोलिनी को बन्दी बना लिया गया और 18 अप्रैल, 1945 को इटली की जनता ने उसे उसकी प्रेयसी पेताच्वी के साथ मृत्युदण्ड दे दिया गया।

प्रश्न–4. नाजीवाद (हिटलर) के उदय के कारणों का वर्णन कीजिये।

अथवा

जर्मनी में नाजीवाद के उदय के कारणों का विश्लेषण कीजिये।

अथवा

जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के लिये कौन–सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं?

अथवा

उन परिस्थितियों की विवेचना कीजिये जिनके परिणामस्वरूप जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ।

उत्तर– हिटलर का संक्षिप्त परिचय– एडोल्फ हिटलर का जन्म बबेरिया की सीमा के निकट बोनी ग्राम में 20 अप्रैल, 1889 को हुआ था। यद्यपि उसकी रूचि चित्रकारी में थी परन्तु वियेना के वास्तु विद्यालय में उसे प्रवेश नहीं मिला। इसके पश्चात् 1912 में म्यूनिख आ गया तथा 1914 में बबेरिया की सेना में भर्ती होकर उसने ''आयरन–क्रॉस'' पदवी प्राप्त कर सम्मान पाया। हिटलर समझता था कि युद्ध में विजयी होने की जर्मनी में क्षमता थी परन्तु यहूदियों और साम्यवादियों के राष्ट्रद्रोहों के कारण उसकी पराजय हुई वर्साय संधि को स्वीकार करने वाले गणतंत्रवादी कायर और अयोग्य थे। अतः उसने बाईमर गणतंत्र को समाप्त करके वर्साय के अपमान तथा पराजय का प्रतिशोध लेने का विचार किया। इसके लिये उसने पहले श्रमिक दल पर कब्जा किया फिर उसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक संघ (नाजी) रखा। इसी दल के माध्यम से उसने सत्ता प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

हिटलर के नाजी दल के उदय के कारण– हिटलर और नाजी दल के उदय के लिये पूर्ण अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। इन परिस्थितियों में अन्य किसी विकल्प की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इटली में भी लगभग ऐसी ही दशायें होने से वहाँ भी अधिनायकवादी व्यवस्था स्थापित हुई।

अतः हिटलर के उदय के लिये निम्न दशायें महत्वपूर्ण थीं-

(1) बाईमर गणतंत्र में अराजकता– वर्साय संधि पर हस्ताक्षर करने के कारण बाईमर गणतंत्र बदनाम हो चुका था वह कठिन दौर से गुजर रहा था तभी साम्यवादियों ने राष्ट्रपति की हत्या करने का प्रयत्न किया और हिटलर ने भी गणतंत्रवादियों को पराजय के लिये उत्तरदायी ठहराया और विद्रोह किये। अतः बाईमर गणतंत्र आर्थिक समस्याओं, विदेशी दबाव तथा आन्तरिक विद्रोह में टिक न पाया। इसके विपरीत हिटलर ने सुदृढ़ सरकार स्थापित करने का वचन जनता को दिया।

(2) वर्साय की अपमानजनक संधि– वर्साय शान्ति वार्ता में जर्मनी को आमन्त्रित नहीं किया गया। संधि की शर्तें एक–पक्षीय थीं, जर्मनी के कोई तर्क या विचार नहीं सुने गये। संधि को स्वीकार करने के आमंत्रण पर जर्मन प्रतिनिधियों का अनेक प्रकार से अपमान किया गया तथा उन्हें संधि स्वीकार न करने पर युद्ध की धमकी देकर प्रथम बार तो लौटा दिया गया तथा दूसरी बार उनकी बात न सुनते हुये जबरदस्ती हस्ताक्षर करवाये गये। संधि में निशस्त्रीकरण, क्षति–पूर्ति, युद्ध सामग्री पर मित्र देशों के अधिकार और नियंत्रण लगाये। कारखाने, व्यापार, यातायात, नदी, समुद्र तट आदि पर मित्र देशों ने कब्जा कर लिया। यह सब जर्मनी के साथ ही हुआ, विजेता राष्ट्रों के साथ नहीं। अतः वर्साय संधि विराम संधि थी शान्ति संधि नहीं। क्लेमेन्शो और लायड जॉर्ज के व्यवहार तो विशेष रूप से अपमानजनक और अवसरवादी थे।

हिटलर के नाजी दल के उदय के कारण
(1) बाईमर गणतंत्र में अराजकता
(2) वर्साय की अपमानजनक संधि
(3) आर्थिक संकट
(4) लोकार्नो संधियां
(5) जर्मन जनता का चरित्र और हिटलर का चरित्र

(3) आर्थिक संकट– जर्मनी पर क्षतिपूर्ति की धनराशि 6 अरबं 68 करोड़ पौण्ड थोपी गई थी। जर्मनी के उद्योग, व्यापार, खदान की क्षति होने पर भी फ्रांस की सेनाओं ने इन पर कब्जा कर लिया था। उसे प्रतिवर्ष 20 करोड़ स्वर्ण मार्क देना थे। सन् 1922 तक उसने 266 करोड़ पौण्ड मित्र देशों को दे दिये। इसके पश्चात् जर्मनी की आर्थिक दशा, मुद्रा प्रसार, मन्दी एवं ऋणों के कारण बहुत गिर गई। उसके स्वर्ण मार्क का जहां मूल्य इंग्लैण्ड के एक पौण्ड के बराबर था वहीं युद्ध काल में उसका इतना अवमूल्यन हुआ कि वह 90 करोड़ मार्क रह गया। जर्मनी की बाईमर गणतंत्र की सरकार ने क्षति–पूर्ति राशि कम करने की प्रार्थना मित्र देशों से की। परन्तु मित्र देशों ने डावेस योजना के अतिरिक्त कुछ नहीं किया।

(4) लोकार्नो संधियां– मित्र देशों के भारी दमन और अपमान ने जर्मनी को संघर्ष, प्रतिशोध और प्रगति की प्रेरणा दी तथा उसने अनेक कूटनीतिक प्रयत्न किये। जर्मनी ने कुछ आर्थिक प्रगति की जबकि यूरोपिय मित्र देशों की हालत पहले से अधिक गिर रही थी। अतः उन्हें जर्मनी से भय लगने लगा। उन्होंने 1922 में फ्रांस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, बेल्जियम तथा इटली ने जर्मनी से संधियां करने का प्रयास किया परिणामस्वरूप 1925 में लोकार्नों में अनाक्रमण संधियां की गईं। इन संधियों ने जर्मनी के सम्मुख यह प्रगट कर दिया कि (अ) इन देशों में इस समय उससे लड़ने की क्षमता नहीं थी। (ब) उनमें जर्मन आक्रमण का भय था (स) उनमें कोई एकता और संगठन नहीं है। इन्हीं कारणों से जर्मनी को राष्ट्र संघ का स्थायी सदस्य भी बना दिया गया। उपरोक्त दशाओं में यदि जर्मनी में सुदृढ़ सरकार हो तो मित्र देशों की कमजोरियों का लाभ उठाकर आर्थिक शोषण से मुक्त होना सम्भव होता जिसका हिटलर ने आश्वासन दिया। उसके चरित्र, विचार और कार्यों में पूर्ण दृढ़ता थी।

(3) जर्मन जनता का चरित्र और हिटलर का चरित्र– फ्रेडिक महान के पूर्व से ही जर्मन जनता विचार, आचार और आत्मा से सैनिक संस्कारों की थी। उसमें प्रजातंत्रात्मक भावनायें अति न्यूनतम थी। उसमें अतिशय राष्ट्रवादिता, विजयोन्माद, युद्ध में पराजय का बदला लेने की तत्परता और अपनी जातीय सर्वश्रेष्ठता के भाव थे। वह युद्ध को एक वरदान मानती थी। जनता के इस चरित्र का समन्वय हिटलर के चरित्र से हो गया।

हिटलर का उत्कर्ष– प्रथम युद्ध की समाप्ति पर हिटलर बवेरिया से म्युनिख आ गया और सरकार के गुप्तचर विभाग में भर्ती हो गया तथा क्रांतिकारी समाजवादियों की खोज करते हुये उन्हीं से मिलकर जर्मन सरकार के खिलाफ कार्य करने लगा। इस समय उसके सात सदस्य थे। बाद में इसे उसने नाजी दल का नाम दिया और पार्टी के संस्थापक ड्रेक्सटर को अलग करके रोजनबर्ग, गोबल्स हैस और गोयरिंग के सहयोग से पार्टी पर अधिकार कर लिया।

प्रश्न–5. हिटलर की गृह नीति का वर्णन कीजिये।

अथवा

हिटलर की आन्तरिक नीति की विवेचना कीजिये।

अथवा

हिटलर का संक्षिप्त परिचय देते हुये हिटलर की गृहनीति की विवेचना कीजिये।

उत्तर– निर्बल वाईमर गणतंत्र, जर्मनी में अराजकता, फ्रांस और मित्र देशों द्वारा जर्मनी का दमन, अपमान, लोकार्नो संधियाँ तथा हिटलर की अवसरवादिता एवं पेपन के षड्यन्त्र के कारण हिटलर जर्मनी का 14 अगस्त, 1934 को सर्वाधिकारी या अधिनायक बनने में सफल हुआ। अधिनायक बनते ही उसने अत्यधिक तेजी से गृहनीति का निर्माण कर उसे संचालित करना आरम्भ किया।

उद्देश्य– 1. वर्साय संधि और उसके प्रभाव को समाप्त करना, 2. समाजवादी और यहूदियों का दमन करना, 3. सेना, शस्त्र में वृद्धि करना, 4. राष्ट्रीय एकता और संघर्ष को प्रोत्साहन, 5. देश की आर्थिक दशा में सुधार, 6. देश के संसदीय शासन को समाप्त कर अधिनायकवाद की स्थापना, 7. पुनः विशाल जर्मन साम्राज्य की स्थापना करना और उसे 'पवित्र रोमन साम्राज्य की पुरानी पदवी से विभूषित करवाना' आदि उसके प्रमुख उद्देश्य थे।

हिटलर की गृहनीति– हिटलर ने 1933 से मृत्यु तक आतंक, हिंसा, झूठी अपीलों, सैन्य–प्रदर्शनों, झूठे वायदों और वैध–अवैध उपायों से शक्ति अर्जित की और सर्वाधिकारवादी सत्ता प्राप्त की। केटलबी का हिटलर पर यह आरोप सत्य तो है परन्तु फ्रांस के जर्मनी पर उचित–अनुचित दबाव, अपमान, घृणा, भारी क्षतिपूर्ति राशि, यूरोपिय देशों द्वारा उसके उपनिवेशों का बंटवारा, उनके छल–कपट और पक्षपातपूर्ण व्यवहार, अवसरवादी सिद्धान्तहीन नीति तथा कार्यों के चलते जर्मनी हिटलर के सम्मुख उपरोक्त विकल्प के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। अतः उसने भी यूरोपिय देशों के झूठ और अनैतिकता का उत्तर उन्हीं के उपायों से देना उपयुक्त समझा। उसके लिये उसने निम्न कार्य जर्मनी के अन्दर किये–

1. **राष्ट्रीय एकता और विरोधियों का दमन–** हिटलर के अनुसार प्रजातंत्र और बहुदलीय प्रणाली जर्मन एकता में बाधक तत्व थे। इससे मतभेद और संघर्ष उत्पन्न होते हैं अतः देश में अनेक दलों के स्थान पर एक ही दल होना चाहिये और वह नाजी दल ही हो सकता था। अतः उसने अपने शत्रु साम्यवादियों और यहूदियों के साथ–साथ अपने समस्त विरोधियों को बड़ी निर्ममता से दबाया। यहूदियों के सम्बन्ध में उसने कहा था कि, 'जिसने विगत् तीन पीढ़ियों में किसी यहूदी से विवाह किया है अथवा जर्मनी के विरोध में कोई देशद्रोहात्मक कार्य किया है, उसे यहूदी समझा जाये।' उसने कहा था कि, 'यहूदी विश्व के शत्रु हैं तथा जो उनको मारता है

वह बहुत अच्छा करता है।' हिटलर के यहूदियों के प्रति इन विचारों के कारण उनका दमन, निष्कासन, बन्दी बनाना, उनकी सम्पत्ति का हरण, सरकारी पदों से वंचित करना आदि कार्यों से उन्हें सताया गया। इसी प्रकार साम्यवादियों, शान्ति चाहने वाले ईसाई, धर्म–प्रचारकों को बुरी तरह सताया गया जिससे विरोधी जर्मन भी जर्मनी छोड़कर भागने के लिये विवश हो गये। इस प्रकार प्रत्येक विरोधी का स्थान कब्र, जेल अथवा यातना–शिविरों में था।

2. **जर्मनी का नाजीकरण और हिटलरीकरण–** सत्ता पाने के बाद हिटलर ने प्रत्येक प्रान्त, जिले और ग्राम के प्रत्येक शासकीय पद पर नाजियों को नियुक्त किया। हरमन गोरिंग को गृहमंत्री बनाया गया। पुलिस विभाग नाजियों से भर दिया गया। जोजेफ गोयबल को प्रचार मंत्री बनाया। देश के समस्त अधिकारी, कर्मचारी और नागरिकों को हिटलर के प्रत्येक आदेश का पालन करना आवश्यक था। प्रत्येक कानून का निर्माता हिटलर बन गया था। कोई कानून, संविधान या न्यायालय और संसद उस पर अंकुश नहीं लगा सकती थी। अधिकारियों की नियुक्ति नाजी दल में से एक समिति करती थी जिसे हिटलर ने ही बनाया था। रीशटॉग उसकी इच्छा का पालन करने वाली संस्था बनकर रह गई थी। समस्त राजनैतिक दलों को समाप्त कर केवल नाजी दल को ही वैध घोषित किया गया। उसके अनुसार 'राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी ही राज्य है' तथा प्रत्येक जर्मन को उसकी सदस्यता ग्रहण करना अनिवार्य कर दिया गया था। हिटलर स्वयं को 'फ्यूरर' (राष्ट्रनायक) कहलाना पसन्द करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण जर्मनी का नाजीकरण और प्रत्येक नाजी का हिटलरीकरण करने का प्रयास किया गया।

3. **जर्मन ईसाइत्व का प्रचार–** हिटलर सभी प्रकार के विदेशी हस्तक्षेप का विरोधी था। जर्मनी में अनेक कैथोलिक रोम पोप के प्रति श्रद्धा रखते थे। परन्तु हिटलर चाहता था कि जर्मनी का पोप और अन्य विदेशी नियंत्रण से मुक्त स्वयं का चर्च हो। इसलिये उसने बाइबिल के आर्यन सन्दर्भ में व्याख्या की और कैथोलिकों का दमन किया तथा प्रोटेस्टेंट गिरजाघरों की व्यवस्था भी केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत निर्धारित की। हिटलर के अनुसार धार्मिक व्यवस्था करने के लिये नाजी नेता मूलर को नया अध्यक्ष नियुक्त किया गया जिसने 'जर्मनी ईसाइत्व' को अपनाने पर बल दिया। इस प्रकार नेपोलियन के समान हिटलर ने भी जनता का धर्म 'ईसाई' और 'ईसाई धर्म' फ्यूरर के आधीन बनाने का प्रयास किया, जिसे 'जर्मनी ईसाई धर्म' कहा गया।

शिक्षा क्षेत्र में नाजीवाद– उस काल में शिक्षा संकीर्ण धार्मिक विचारों या सम्राटों की महत्वाकांक्षाओं पर आधारित होती थी। हिटलर ने शिक्षा के नवीन मूल आधारों की व्याख्या की। उसने जर्मन आर्य जाति को ही आर्य बताया और उसके सर्वश्रेष्ठ होने का दावा किया। शिक्षा, प्रगति, सुविधा के अधिकार केवल आर्यों के ही माने। इसके अतिरिक्त सभी गैर आर्य जातियों के दमन, पदच्युति, स्कूलों से निष्कासन का प्रयत्न किया गया तथा उन्हें जर्मन नागरिक नहीं माना गया।

पाठ्य–पुस्तकों में नाजी और हिटलर के विचारों का प्रतिपादन किया गया था। 'फ्यूरर' और नाजी दल के प्रति आस्था, भक्ति और समर्पण को उत्पन्न करने की प्रेरणायें थीं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर भी कड़ी निगरानी रखी जाती थी जिससे 'सांस्कृतिक' नाम पर हिटलर के खिलाफ कोई षड्यन्त्र न हो पाये। हिटलर के अनुसार, "रक्त और भूमि से सम्बन्धित इतिहास ही सच्चा इतिहास होगा।" अतः इसी प्रकार के इतिहास लिखवाये गये। शिक्षा और सांस्कृतिक कार्यक्रम को नियंत्रित करने के लिये 'राइच कल्चर चेम्बर' की स्थापना की गई। समाचार पत्र, रेडियो, संगीत, साहित्य और कला पर नाजी नियंत्रण लगाये गये।

आर्थिक नीतियाँ– प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी का भयंकर विनाश हो चुका था और युद्ध के बाद शताब्दियों तक जर्मनी को उन्नत न होने देने के लिये मित्र देशों के प्रयासों ने जर्मनी का आर्थिक, सैनिक विनाश करने का प्रयत्न किया। जर्मन मार्क का कई गुना अवमूल्यन हो गया, उस पर भारी युद्ध की क्षति थोपी गई जिससे ऋण, ब्याज, उद्योगों और खदानों आदि पर विदेशों द्वारा नियंत्रित जर्मनी अत्यधिक निर्बल और दयनीय हो गया।

प्रश्न–6. हिटलर की विदेश नीति का वर्णन कीजिये।

उत्तर– हिटलर 14 अगस्त, 1934 को जर्मनी का सर्वाधिकारी बन गया। इसके पश्चात् उसने अपनी गृहनीति का संचालन यूरोपिय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया तथा उसने सक्रिय आक्रामक और साम्राज्यवादी नीति का निर्माण करने के पूर्व, सैन्यवृद्धि और शस्त्रास्त्र निर्माण में पर्याप्त वृद्धि कर ली थी। अतः उसने विदेश नीति के निम्नलिखित लक्ष्य अपने सम्मुख रखे–

विदेश नीति के लक्ष्य– हिटलर का सर्वप्रमुख लक्ष्य जर्मनी के लिये सर्वाधिक अपमानजनक और घृणास्पद एवं थोपी गई वर्साय और सेंट जर्मन संधियों को समाप्त करना था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने मित्रों की खोज करना उसका दूसरा लक्ष्य था। जर्मनी की आर्थिक, औद्योगिक और जनसंख्या की समस्याओं के समाधान के लिये उपनिवेशों की प्राप्ति तृतीय उद्देश्य था। विश्व में पुनः अपनी शक्ति और महत्वपूर्ण स्थान पाने के लिये शस्त्र और सैन्य की वृद्धि उसका प्रमुख उद्देश्य था। इस प्रकार सारांश में कहा जा सकता है कि शस्त्र, सैन्य और अर्थव्यवस्था में आत्मनिर्भरता, क्षेत्र विस्तार, मित्रों की प्राप्ति और विदेशी प्रभुत्व से मुक्ति और 'लोह एवं रक्त' की नीति उसके प्रमुख उद्देश्य थे।

विदेश नीति के प्रमुख साधन और कार्य– हिटलर की विदेश नीति के सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि जब तक हिटलर ने जर्मनी का पूर्ण सैन्यीकरण नहीं कर लिया तब तक उसने यूरोपिय देशों और रूस को शान्ति प्रस्तावों और समझौतों में उलझाये रखा और सैन्यीकरण होते ही इन्हें नष्ट कर दिया। इस प्रकार उसकी विदेश नीति का संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार है–

1. **निःशस्त्रीकरण और राष्ट्र संघ का त्याग–** राष्ट्र संघ के निर्माता देशों ने जर्मनी का विभेदपूर्ण निःशस्त्रीकरण किया था। अतः 1932 में जेनेवा के राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में हिटलर ने प्रस्ताव रखा कि 'अन्य देशों की तरह या तो उसे भी शस्त्रीकरण करने दिया जाये या फिर जर्मनी के समान अन्य देशों का निःशस्त्रीकरण किया जाये' फ्रांस ने इस प्रस्ताव का सर्वाधिक उग्र रूप में विरोध किया। अन्य देशों ने भी इसे स्वीकार नहीं किया। इससे हिटलर को अवसर मिल गया तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय न्याय' की मांग के आधार पर उसने 14 अक्टूबर, 1933 को राष्ट्र संघ से त्यागपत्र की घोषणा कर दी बाद में नवम्बर, 1933 को जनमत संग्रह में उसका समर्थन हो गया।

2. **पोलैण्ड से अनाक्रमण समझौता–** पोलैण्ड–जर्मनी के सम्बन्ध सदैव कटु थे परन्तु हिटलर ने उससे 23 जनवरी, 1934 को अनाक्रमण समझौता कर लिया। इसमें उसकी कूटनीतिक चाल यह थी कि पोलैण्ड पर रूस भी साम्राज्यवादी दृष्टि लगाये था। इस समय आक्रमण से पोलैण्ड के साथ रूस से भी युद्ध करना पड़ता। हिटलर उसके पहले उत्तरी और दक्षिणी प्रदेशों पर अधिकार करना चाहता था। पोलैण्ड का मित्र फ्रांस एकदम विपरीत दिशा पश्चिम में था जो सैनिक सहायता में सफल नहीं होता। एक प्रकार से पोलैण्ड उसकी जेब के निकट ही था जिसे जब चाहे तब अपनी जेब में डाला जा सकता था। इस समय हिटलर पोलैण्ड से समझौता कर विश्व को दिखाना चाहता था कि वह शान्ति का समर्थक था तथा दूसरी ओर उस पर रूस के सम्भावित आक्रमण को रोकना चाहता था। तीसरी ओर अन्य

स्थानों पर आक्रमण के समय पोलैण्ड को तटस्थ रखना चाहता था। अतः दोनों में 10 वर्षीय समझौता हो गया जिसमें सीमाओं में परिवर्तन न करने, आक्रमण न करने की प्रमुख शर्तें थीं। यह समझौता इसलिये भी आवश्यक था कि सार घाटी में जनमत संग्रह होने वाला था। अतः हिटलर इस समय कोई बाधा उत्पन्न नहीं होने देना चाहता था।

हिटलर की विदेश नीति के प्रमुख साधन और कार्य
1. निःशस्त्रीकरण और राष्ट्र संघ का त्याग
2. पोलैण्ड से अनाक्रमण समझौता
3. सार–घाटी की प्राप्ति
4. वर्साय संधि का उल्लंघन और अनिवार्य सैनिक सेवा
5. इंग्लैण्ड–जर्मन नौसैनिक समझौता
6. रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी का निर्माण

3. **सार–घाटी की प्राप्ति–** वर्साय संधि में कहा गया था कि सार–घाटी की समस्या के समाधान के लिये 1935 में जनमत संग्रह कराया जायेगा जिसमें– 1. सार घाटी जर्मनी का अंग माना जायेगा, 2. फ्रांस के पास रहेगा और 3. राष्ट्र संघ का शासित प्रदेश होगा। 1935 के जनमत संग्रह से सार घाटी जर्मनी को दे दिया गया। इसके पश्चात् हिटलर सार–घाटी का पूर्ण शस्त्रीकरण करना चाहता था परन्तु उसने यूरोप को भ्रम में डालने के लिये झूठ बोला था कि सार–घाटी के बाद हिटलर कोई नया प्रदेश नहीं लेगा और इंग्लैण्ड से भी वायुसेना नियंत्रण के लिये वार्ता आरम्भ की। इंग्लैण्ड ने भी जर्मनी के शस्त्रीकरण पर श्वेत–पत्र लिखा। उधर फ्रांस ने अपने यहाँ सैनिक सेवा की अवधि दुगनी करने की घोषणा की जिससे हिटलर को सार–घाटी का शस्त्रीकरण करने की घोषणा का अवसर मिल गया। उसने शान्ति की अपील और सभी के निशस्त्रीकरण की माँग के साथ सार–घाटी का शस्त्रीकरण आरम्भ कर दिया।

4. **वर्साय संधि का उल्लंघन और अनिवार्य सैनिक सेवा–** हिटलर ने घोषणा कर दी कि जर्मनी वर्साय संधि से बना हुआ नहीं है, क्योंकि वह एकपक्षीय और अन्यायी थी। उसने कहा वह सदैव शान्ति का इच्छुक है परन्तु अन्य सभी देश निःशस्त्रीकरण को तैयार हों तो वह भी तैयार है। इसके लिये उसने इंग्लैण्ड और फ्रांस को आमंत्रित भी किया। हिटलर यह भलीभाँति जानता था कि इस प्रकार की वार्ता से एक ओर मित्र देशों में फूट फैलती और वर्साय संधि का उल्लंघन होता। इंग्लैण्ड के दो प्रतिनिधि तो बर्लिन पहुंच गये और दोनों ने वायुसेना को फ्रांस के बराबर करने के लिये वार्ता भी की और नौसैनिक शक्ति के लिये भी वार्ता आरम्भ की। इससे फ्रांस इंग्लैण्ड से क्षुब्ध हो गया।

यद्यपि इंग्लैण्ड ने स्ट्रेसा सम्मेलन में संधि वार्ताओं के चलते हिटलर के खिलाफ निन्दा प्रस्ताव में फ्रांस का ही साथ दिया। परन्तु इससे वार्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके पश्चात् 16 मार्च, 1935 को उसने जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा आरम्भ की तथा इसके लिये फ्रांस को दोषी ठहराया। इस प्रकार उसने स्पष्ट रूप से वर्साय संधि को तोड़ा।

5. **इंग्लैण्ड–जर्मन नौसैनिक समझौता–** हिटलर के द्वारा सार–घाटी और जर्मनी के सैन्यीकरण पर प्रगट हुई यूरोपिय प्रतिक्रिया को शान्त करने के लिये, पुनः यूरोप को भ्रम में रखने के लिये और जर्मनी के सैन्यीकरण पर से यूरोप का ध्यान हटाने के लिये और इंग्लैण्ड का समर्थन पाने के लिये तथा सैन्यीकरण को सामान्य घटना बताने के लिये इंग्लैण्ड से संधि वार्ता आरम्भ की। इस समय इंग्लैण्ड हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति पर चल रहा था।

21 मई, 1935 को हिटलर ने जर्मन संसद में एक कूटनीतिक भाषण दिया उसने न्याय और शान्ति की दुहाई देते हुये युद्ध को बुरा और त्याज्य बताया तथा लोकार्नो संधियों का पालन करने का आश्वासन देते हुये इंग्लैण्ड से नाविक समझौते का प्रस्ताव किया।

यूरोपिय शक्तियों की प्रसन्नता के लिये उसने रूस की और फ्रांस–रूस समझौते की तीव्र आलोचना भी की। ब्रिटेन ने इस पर विश्वास कर 18 जून, 1935 को 'आंग्ल–जर्मन नौसैनिक' समझौता कर लिया। इसके अनुसार जर्मन नौसैनिक शक्ति ब्रिटेन से 35 प्रतिशत से अधिक नहीं रखने का वचन जर्मनी ने दिया। इस समझौते से यूरोप में फूट पड़ गई और वर्साय संधि का भी उल्लंघन हुआ।

6. रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी का निर्माण– आरम्भ में मुसोलिनी हिटलर का विरोधी था तथा उसने आस्ट्रिया के जर्मनी में विलय का विरोध किया था और हिटलर को वहाँ प्रथम प्रयास में असफलता भी मिली थी। परन्तु एबीसीनियाँ पर मुसोलिनी के आक्रमण और राष्ट्र संघ में यूरोपिय राज्यों द्वारा मुसोलिनी की आर्थिक नाकेबन्दी प्रयासों से मुसोलिनी संकटों में घिर गया। इसी समय हिटलर ने मित्रता का हाथ बढ़ाया और मुसोलिनी को सैनिक सहायता देने के आश्वासन दिये। इससे दोनों में समझौते का वातावरण बना अतः दोनों में 21 अक्टूबर, 1936 को निम्न शर्तों पर समझौता हो गया–

1. एबीसीनियाँ पर इटली का अधिकार हिटलर ने वैध माना।
2. मुसोलिनी ने आस्ट्रिया पर हिटलर के अधिकार को माना।

हिटलर को रूस की ओर से आक्रमण का भय था। रूस ने अपनी सुरक्षा और साम्यवाद के प्रसार के लिये 'कॉमिन्टर्न' पेक्ट भी करके एक संगठन बना लिया था। अतः वह किसी रूस विरोधी मित्र की खोज में था। मंचूरिया में रूस और जापान एक–दूसरे के विरोधी भी थे। अतः जापान भी रूस–विरोधी मित्र की खोज कर रहा था। अतः जापान ने 25 नवम्बर, 1936 को एन्टी कॉमिन्टर्न पेक्ट पर हिटलर के साथ हस्ताक्षर किये। इस पेक्ट ने शीघ्र ही 'रोम–बर्लिन–टोक्यो' धुरी का रूप धारण किया। बाद में इसमें स्पेन और जापान द्वारा स्थापित मंचकुओ सरकारें भी शामिल हो गईं। इससे विश्व दो गुटों में बंट गया तथा राष्ट्र संघ, वर्साय संधि और यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों को चुनौती देने वाला इन्हीं के समान एक गुट तैयार हो गया।

आस्ट्रिया पर अधिकार– आस्ट्रिया एक स्वतंत्र देश था परन्तु हिटलर ने सत्ता पाने के बाद से ही इसे पाने की लोभदृष्टि रखी। सर्वप्रथम उसने 1934 में एक षड्यन्त्र रचा तथा आस्ट्रियन में जर्मन नाजियों को विद्रोह के लिये प्रोत्साहित किया और मदद दी। परन्तु आस्ट्रियन प्रधान मंत्री डाल्फस ने इसका दमन कर दिया और दूसरी ओर मुसोलिनी ने आस्ट्रियन जर्मन सीमान्त पर हिटलर के विरोध में अपनी सेनायें भेज दीं। अतः यह प्रयास विफल हो गया।

म्यूनिख और चेकोस्लोवाकिया का अधिग्रहण– हिटलर की चेकोस्लोवाकिया की नीति उसकी जर्मन एकता और साम्राज्यवादी नीति की ही अंग थी। हिटलर ने उस पर आक्रमण करने के लिये उसे फ्रांस और रूस का मित्र बताया। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्व ही उस पर आक्रमण का प्रमुख कारण था। बिस्मार्क ने कहा था कि, 'जो बोहेमिया को नियंत्रित करता है वह यूरोप को नियंत्रित करता है। मध्य यूरोप पर अधिकार के लिये चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार आवश्यक था। चेक प्रदेश लुडेटनलैण्ड में 32 लाख से अधिक जर्मन नागरिक थे और पोल मगयार आदि के भी नागरिक थे।'

जनवरी से 15 मार्च, 1938 तक उसने चेको के सम्मुख अनेक अपमानजनक शर्तें रखीं। वास्तव में वह सम्पूर्ण चेक राष्ट्र पर अधिकार स्थापित करने के लिये कृतसंकल्प था। इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस भी युद्ध आरम्भ होने के भय से भयभीत थे। इनके समझौता प्रयास हिटलर की दृढ़ता के कारण असफल हो गये और हिटलर ने सीमा पर भारी मात्रा में जर्मन

सेनायें खड़ी कर दीं। इसी समय मुसोलिनी ने म्यूनिख सम्मेलन का प्रस्ताव रखा जिसे हिटलर ने स्वीकार कर लिया।

मेमल एवं पोलैण्ड पर अधिकार– चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर के अधिकार से तुष्टिकरण की नीति आत्मघाती लगने लगी अतः 31 मार्च, 1939 को इंग्लैण्ड और फ्रांस ने घोषणा की कि हिटलर के द्वारा पोलैण्ड, यूनान, रोमानिया और तुर्की पर आक्रमण को सहन नहीं किया जायेगा और इन्हें वे सहायता देंगे। फिर भी 22 मार्च को हिटलर ने लिथुआनियां से मेमल छीन लिया। इंग्लैण्ड और फ्रांस एक बार पुनः कुछ नहीं कर सके। इससे उत्साहित होकर हिटलर ने आंग्ल–जर्मन समझौता भी अमान्य कर दिया और अमेरिका का अनाक्रमण प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया तथा पोलैण्ड पर आक्रमण के उद्देश्य से 27 अगस्त, 1939 को रूस से अनाक्रमण समझौता कर लिया। एक अगस्त को इंग्लैण्ड और फ्रांस की चेतावनी के विपरीत 3 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया अतः फ्रांस और इंग्लैण्ड ने भी युद्ध की घोषणा कर दी।

पोलैण्ड पर अधिकार और विश्व युद्ध का आरम्भ– रूस–जर्मन संधि के बाद हिटलर पोलैण्ड पर आक्रमण की तैयारी में जुट गया। उधर हिटलर की चेक–नीति के कारण इंग्लैण्ड और फ्रांस समझ गये कि शान्ति के लिये तुष्टिकरण की नीति आत्मघाती थी। अतः उन्होंने 31 मार्च, 1939 को घोषणा की कि 'हिटलर के द्वारा पोलैण्ड और यूनान, रोमानिया और तुर्की पर आक्रमण के समय उनकी सहायता की जायेगी। इसी समय मुसोलिनी ने अल्बानियां पर आक्रमण कर दिया उधर हिटलर ने 22 मार्च को मेमल पर अधिकार कर लिया। घोषणा के बाद यूरोपिय देश जब कुछ नहीं कर पाये तो अमेरिका द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण न करने का प्रस्ताव ठुकरा दिया और आंग्ल–जर्मन समझौता भी रद्द कर दिया। रूस के साथ सन्धि की चिन्ता न करते हुये हिटलर ने पोलैण्ड पर 1 अगस्त, 1939 को आक्रमण कर दिया। इसके शीघ्र बाद 3 सितम्बर को इंग्लैण्ड और फ्रांस ने भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध घोषणा कर दी और विश्व युद्ध का आरम्भ हो गया।'

निष्कर्ष– हिटलर का उत्कर्ष प्रथम विश्व युद्ध के बाद वर्साय संधि की अपमानजनक संधि और उसकी शोषक धाराओं के कारण हुआ था। शायद जिस बीज (घृणा, प्रतिशोध) को रोपित किया गया उसका फल, हिटलर के उदय, उसकी प्रतिशोधी और विश्वासघाती और आक्रामक शक्ति के रूप में निकला।

प्रश्न–7. तुष्टिकरण की नीति की व्याख्या कीजिये।

अथवा

'तुष्टिकरण की नीति यूरोप को द्वितीय विश्वयुद्ध के कगार पर ले आयी' क्या यह सत्य है?

उत्तर– प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इंग्लैंड ने अपने हितों की रक्षा के लिये तानाशाहों के प्रति जिस नीति का पालन किया, उसे तुष्टिकरण की नीति कहा गया। इंग्लैंड अपने हितों की रक्षा के लिये जर्मनी के प्रति सहानुभूति रखता था। अतः इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों विशेषकर चेम्बरलेन ने तुष्टिकरण की नीति अपनाई।

इस नीति के कारण ही इंग्लैंड ने मंचूरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकार किया। एबीसीनिया पर मुसोलिनी (इटली) का प्रभुत्व स्वीकार किया। चेम्बरलेन ने हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाकर उसे आस्ट्रिया एवं चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार करने का अवसर दिया। लेकिन इंग्लैंड की तुष्टिकरण की नीति आगे चलकर बड़ी घातक सिद्ध हुई और तानाशाहों ने इसका लाभ उठाकर मनमानी की जो कि द्वितीय विश्व युद्ध का कारण बनी।

तुष्टिकरण की नीति के कारण– निम्नलिखित कारणों से ब्रिटेन ने तुष्टिकरण की नीति अपनाई–

(1) **साम्यवाद का भय–** ब्रिटेन ने तुष्टिकरण की नीति को इसलिये अपनाया, क्योंकि वह साम्यवाद को विश्व का एक बड़ा खतरा मानता था।

(2) **ब्रिटेन की आर्थिक नीति–** तुष्टिकरण नीति अपनाने का एक कारण ब्रिटेन की आर्थिक नीति थी। जर्मनी और जापान ब्रिटेन के प्रमुख ग्राहक थे।

(3) **शक्ति–संतुलन का सिद्धांत–** ब्रिटेन यूरोप में शक्ति संतुलन चाहता था। जर्मनी की पराजय से यूरोप का शक्ति–संतुलन बिगड़ गया था। फ्रांस एवं रूस शक्तिशाली हो गये थे तथा फ्रांस का रूस की ओर झुकाव था। ब्रिटेन को खतरा था कि यदि फ्रांस और रूस मिल गये तो ब्रिटेन के हितों को आघात पहुंचेगा। अतः उसने जर्मनी, जापान एवं इटली के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई।

(4) आंतरिक दुर्बलता– प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन अमेरिका की सहायता से जीत गया था परन्तु उसकी आंतरिक स्थिति खराब हो गई। डेविड थामसन के अनुसार– "हिटलर के बराबर शक्ति न होने के कारण ही इंग्लैंड को म्यूनिख समझौता मानना पड़ा।"

तुष्टिकरण नीति के परिणाम– ब्रिटेन ने जो तुष्टिकरण की नीति अपनाई उसके निम्नलिखित परिणाम निकले–

(1) तानाशाहों का उदय
(2) हिटलर एवं मुसोलिनी की मनमानी
(3) राष्ट्र संघ की असफलता
(4) रूस एवं ब्रिटेन में मतभेद
(5) निःशस्त्रीकरण की असफलता
(6) ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को धक्का
(7) कमजोर राज्यों का नुकसान
(8) द्वितीय विश्व युद्ध का जन्म

निष्कर्ष– तुष्टिकरण की नीति के परिणाम घातक रहे तथा द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हो गया। शूमां के शब्दों में– 'तुष्टिकरण नीति आरम्भ में ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं थी।'

प्रश्न–8. द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये।

अथवा

द्वितीय विश्वयुद्ध (महायुद्ध) के कारणों का वर्णन (या विश्लेषण) कीजिये। इस युद्ध को आरम्भ करने के लिये धुरी राष्ट्र कहां तक उत्तरदायी हैं?

अथवा

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– द्वितीय विश्व युद्ध सितम्बर, 1939 में आरम्भ हुआ इसमें दो प्रमुख गुट थे। प्रथम गुट जर्मनी, इटली और जापान का था तथा दूसरा गुट अन्य यूरोपिय देशों का था। इस युद्ध के निम्नलिखित कारण थे–

(1) **वर्साय सन्धि में जर्मनी का अपमान–** जर्मनी के लिये द्वितीय विश्व युद्ध सर्वाधिक विनाशकारी था। वर्साय संधि में जर्मनी का भयंकर अपमान किया गया। उसके सैनिक साधन छीन लिये गये उस पर भारी क्षतिपूर्ति की राशि थोप दी गई। प्रतिनिधियों पर सड़ी–गली वस्तुयें फैंकी गईं। इस कारण जर्मनी में प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो गई।

(2) **नाजी और फासिज्म का उदय–** जर्मनी और इटली में अधिनायकवादी विचारधारा का उदय हुआ जिन्होंने अपनी शक्ति, प्रतिष्ठा और साम्राज्य विस्तार के लिये युद्ध को प्रगति और उन्नति के लिये आवश्यक समझा।

(3) **साम्राज्यवाद–** सर्वाधिक साम्राज्यवादी भावना इंग्लैण्ड में थी जिसे देखकर अन्य देशों में भी साम्राज्यवादी भावना उत्पन्न हुई, विशेषकर जापान को इंग्लैण्ड और अमेरिका ने इस नीति पर चलने के लिये विवश कर दिया। इसी प्रकार जर्मनी, इटली, फ्रांस, पुर्तगाल आदि देशों में भी साम्राज्य के लिये पहले तो शीतयुद्ध और बाद में प्रकट युद्ध हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण
(1) वर्साय सन्धि में जर्मनी का अपमान
(2) नाजी और फासिज्म का उदय
(3) साम्राज्यवाद
(4) राष्ट्रसंघ के पास शक्ति का अभाव
(5) राष्ट्रसंघ पर सिद्धांतहीन देशों का प्रभाव
(6) इंग्लैण्ड की तुष्टिकरण की नीति
(7) पोलैण्ड तात्कालिक कारण बना

(4) **राष्ट्रसंघ के पास शक्ति का अभाव–** राष्ट्रसंघ के पास स्वयं की सैन्य–शक्ति और अधिकारों का अभाव था जिससे वह युद्दोन्मत राष्ट्र को रोकने में असमर्थ रहा।

(5) **राष्ट्रसंघ पर सिद्धांतहीन देशों का प्रभाव–** अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन पाया और इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि इसके सदस्य थे जो परस्पर द्वेषभाव रखते थे और विल्सन और राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों के विपरीत अनेक गुप्त संधि–समझौते किये बैठे थे जिससे परस्पर आक्रमणों की आशंका और गुटबाजी का वातावरण समाप्त नहीं हुआ।

(6) **इंग्लैण्ड की तुष्टिकरण की नीति–** हिटलर और मुसोलिनी निरन्तर आक्रमण करके एक के बाद एक प्रदेश और देशों पर अधिकार करते रहे परन्तु इंग्लैण्ड या तो चुप रहा या उसने इनकी नीति का समर्थन किया। जैसे म्यूनिख पेक्ट में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने हिटलर के सम्मुख घुटने टेके या पोलैण्ड पर आक्रमण के समय रूस की मदद नहीं की। इस कारण दोनों ही तानाशाहों की युद्ध पिपासा बढ़ती गई।

(7) **पोलैण्ड तात्कालिक कारण बना–** जर्मनी की दृष्टि पोलैण्ड पर थी इसी के लिये उसने अगस्त, 1923 में रूस से अनाक्रमण संधि की थी और सितम्बर, 1939 में पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इससे रूस जर्मनी से नाराज हुआ उधर इंग्लैण्ड और फ्रांस ने भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी तो रूस ने मित्र देशों का साथ दिया।

प्रश्न–9. द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों (या प्रभावों) की विवेचना कीजिये।

अथवा

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभावों एवं परिणामों का वर्णन कीजिये।

अथवा

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर– द्वितीय विश्व युद्ध का आरम्भ 1 सितम्बर, 1939 को हुआ और 14 अगस्त, 1945 को इसकी समाप्ति हुई। मुसोलिनी को पलायन कर जर्मनी जाना पड़ा और हिटलर ने आत्महत्या कर ली। इन 6 वर्षों में विश्व का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विनाश प्रथम विश्व–युद्ध के विनाश से कई गुणा अधिक मात्रा में हुआ, किन्तु इसके कुछ अच्छे परिणाम भी निकले।

विश्व युद्ध के प्रमुख परिणाम– द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ होने के प्रमुख कारण वर्साय संधि के दोष, यूरोपिय राष्ट्रों की प्रतिशोधपूर्ण कार्यवाही, अधिनायकों की प्रबल युद्ध–पिपासा, इंग्लैण्ड की तुष्टिकरण नीति तथा राष्ट्रसंघ पर इंग्लैण्ड और फ्रांस के प्रभुत्व हिटलर और मुसोलिनी के विनाश के लिये यूरोप में मित्र–संघ बना था तथा वह अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुये। परन्तु मित्र संघ विजेता होकर भी युद्ध की क्षति के कारण पराजित देशों के समान ही असमर्थ हो चुके थे। दोनों के इन विनाशों के कारण इनके द्वारा ही शोषित–पीड़ित और आधीन राष्ट्रों को स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा लोकतंत्र को स्थापित करने के अवसर भी मिले।

इन्हीं सब अच्छे-बुरे परिणामों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

1. विश्व की क्षति और यूरोपिय प्रधानता का नाश- द्वितीय विश्व युद्ध में भाग लेने और तटस्थ रहने वाले सभी देशों को भारी क्षतियाँ उठाना पड़ीं। रूस को लेनिनग्राड के युद्ध में विश्व में मारे गये अमेरिकन सैनिकों के बराबर अपने नागरिक खोना पड़े। मित्र देशों ने रूस की रक्षा के लिये कोई मोर्चा नहीं खोला अतः धुरी राष्ट्रों ने उसे सर्वनाश का शिकार बनाया। उसकी आर्थिक क्षति 1 खरब 28 करोड़ डॉलर की हुई। 17,000 नगर नष्ट हो गये, 70 लाख नागरिक मारे गये। ब्रिटेन को 4 लाख 45 हजार नागरिक, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रदेशों को खोना पड़ा। उस पर अमेरिका का ऋण अत्यधिक बढ़ गया। कृषि, कोयले और कपड़े का उत्पादन भी गिर गया। अमेरिका जो कर्जदाता था 3 अरब 75 करोड़ डॉलर का कर्ज लेना पड़ा। फ्रांस को भी 3 लाख 80 हजार नागरिक खोना पड़े तथा उसकी राष्ट्रीय सम्पत्ति पहले की अपेक्षा एक-तिहाई रह गई। जर्मनी, इटली और जापान भी उद्योग, व्यापार, यातायात, सैनिक-शक्ति और तानाशाही ताकतों के विनाश से बच नहीं सके। हिरोशिमा, नागासाकी पर परमाणु बम से आक्रमण सबसे रोमांचकारी घटना थी। आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, तुर्की, भारत, हंगरी, बल्गारिया, यूनान, अल्बानिया और यूगोस्लाविया आदि भी विनाश के शिकार हुये।

विश्व युद्ध के प्रमुख परिणाम
1. विश्व की क्षति और यूरोपिय प्रधानता का नाश
2. दो महाशक्तियों का उदय और शीत युद्ध
3. सुरक्षा संधियाँ
4. संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण
5. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का अन्त
6. राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता का जागरण
7. मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास
8. निःशस्त्रीकरण के प्रयास

विश्व के देशों के इस विनाश से जहाँ तानाशाह नष्ट हुये वहीं यूरोपिय देशों की शक्ति और प्रभुत्व; इतने कम हो गये कि वह अन्य किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने में असमर्थ हो गये तथा भावी युद्ध में उनका स्वयं का भी सर्वनाश अवश्यम्भावी रूप से होगा यह भय उनमें दीर्घकाल के लिये उत्पन्न हो गया। इस कारण छोटे-छोटे देश उनकी शक्ति को चुनौती देने लगे।

2. दो महाशक्तियों का उदय और शीत युद्ध- प्रथम विश्व युद्ध के बाद मित्र राज्यों के रूस पर आक्रमण, दोनों युद्धों के मध्य रूस के खिलाफ जर्मनी, इटली और जापान को प्रोत्साहित करने की भूल तथा अन्त में तीनों धुरी-राष्ट्रों द्वारा रूस पर आक्रमण आदि ने रूस को सैनिक, आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनने की प्रेरणा दी और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रूस एक महाशक्ति के रूप में उदित हुआ। रूस को खनिज, कृषि, व्यापार, बन्दरगाह आदि अनेक प्रदेश विश्व युद्ध के अन्त तक मिल चुके थे। अनेक पड़ौसी देश उसके आधीन हो गये और मित्र बन गये। रूस की वैज्ञानिक प्रगति ने अमेरिकी शक्ति को चुनौती देना आरम्भ कर दी। अमेरिका भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की सैनिक और शस्त्र शक्ति में प्रगति कर प्रथम श्रेणी का देश बना। पूंजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं के टकराव, साम्राज्य विस्तार एक-दूसरे को घेरने की नीति के कारण दोनों में शीत युद्ध का आरम्भ हुआ।

शीत युद्ध में अमेरिकी, फ्रांस और इंग्लैण्ड ने रूस पर और रूस ने भी अमेरिका आदि पर आक्रमण नहीं किये तथा आक्रमण और शस्त्रों का संघर्ष सदैव टाला जाता और परमाणु शस्त्रों का सामना करने के लिये प्रतियोगिता आरम्भ हो गई। इन दोनों के शीत युद्ध के कारण छोटे-बड़े राष्ट्र भी दो गुटों में बँट गये और उनमें भी शीत युद्ध का आरम्भ हो गया।

3. सुरक्षा संधियाँ- पूंजीवादी देशों के पूंजीपतियों को साम्यवाद के प्रचार-प्रसार से भय लग रहा था तथा विश्व के श्रमिक साम्यवाद के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते थे अतः रूस और यूरोपिय देशों में शीत युद्ध चल रहा था। इन्हीं कारणों से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के नाम पर प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की छूट दी। इसका बहाना लेकर और सुरक्षा के नाम पर यूरोप में अनेक सुरक्षा संधियाँ सम्पन्न हुईं।

इसी उद्देश्य से 30 अप्रैल, 1948 को अमेरिका ने अमेरिकी राज्यों का संगठन बनाया। ब्रुसेल्स संधि पर इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, लक्सेम वर्ग और हॉलैण्ड ने हस्ताक्षर किये। उत्तरी एटलांटिक संधि संगठन (नाटो) 4 अप्रैल, 1949 को बना और 14 मई, 1955 को वारसा पेक्ट हुआ। सितम्बर, 1954 में दक्षिण-पूर्वी संधि-संगठन (सीटो) बना। बगदाद पेक्ट, केन्द्रीय संधि-संगठन (सेन्टो) भी इसी काल में बने। इस सभी का परिणाम यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का महत्व ही समाप्त हो गया तथा इससे यूरोपिय राष्ट्रों को मनमानी करने का अवसर मिल गया।

4. संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण- विश्व-शांति की स्थापना के लिये पुनः प्रयत्न आरम्भ हुये। संयुक्त राष्ट्रसंघ उसका मूर्तरूप है। इसके निर्माण के लिये 8 सम्मेलन हुये और 24 राष्ट्रों के समर्थन से 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, राष्ट्रों के समान अधिकार और आत्मनिर्णय तथा सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान आदि के उद्देश्यों के लिये कार्य करना आरम्भ किया। इसके सदस्य राष्ट्रों ने इसके सिद्धान्तों का पालन करने की शपथ ली तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये उसके अंगों की रचना की। साधारण सभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, सचिवालय, न्यास परिषद, अभिकरण संस्थायें आदि बनीं। इनके माध्यम से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विश्व समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया।

5. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का अन्त- इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान एवं अमेरिका आदि बड़ी बेशर्मी से अपने साम्राज्य का और उपनिवेशों का विस्तार कर रहे थे। द्वितीय विश्व युद्ध ने इन सभी देशों की रीढ़ को तोड़कर रख दिया तथा उनमें अपने साम्राज्य के आधीन देशों को अधिक समय तक आधीन बनाये रखने की क्षमता नहीं रही। इससे उन्हें अपने साम्राज्य और उपनिवेशों से हाथ धोना पड़े।

6. राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता का जागरण- पश्चिमी और अन्य देशों की गुलामी में आधीन जनता ने अनुभव किया कि उनके शोषण, उत्पीड़न और अन्याय के लिये स्वार्थी साम्राज्यवादी देश जिम्मेवार हैं। अतः आधीन देशों में राष्ट्रीयता की भावनाओं का उदय हुआ और स्वतंत्रता के लिये संघर्ष आरम्भ हुये तथा अनेक एशियाई देश स्वतंत्र भी हुये। भारत, चीन, बर्मा, इण्डोनेशिया आदि इसके उदाहरण हैं।

7. मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास- दो महाविनाशकारी युद्धों के बाद तथा निर्बल राष्ट्रों का साम्राज्यवादी देशों द्वारा शोषण तथा उनके राष्ट्रीय संघर्षों के कारण विश्व में मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने मानवीय अधिकारों की घोषणा की तथा उसकी रक्षा के लिये अनेक कदम उठाये। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सभी अधिकारों की सुरक्षा, बाल कल्याण, श्रमिक कल्याण, रोग-निवारण आदि के अनेक कार्य किये और इनके लिये विभिन्न संगठनों का भी निर्माण किया।

8. निःशस्त्रीकरण के प्रयास- हिरोशिमा-नागासाकी में परमाणु बम के प्रयोग तथा रासायनिक शस्त्रास्त्रों के कारण विश्व में निःशस्त्रीकरण का प्रश्न उठा तथा इस दिशा में

अनेक प्रयत्न, सम्मेलन और बैठकें भी हुईं। समय-समय पर अनेक बाधायें भी उपस्थित हुईं तथा निःशस्त्रीकरण के प्रयास चलते रहे।

विश्व में प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध परिणामों की दृष्टि से विकास की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। बुडरो विल्सन ने जिन आदर्शों की कल्पना की थी उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सका परन्तु राष्ट्रसंघ अनेक व्यावहारिक, मानवीय, सुरक्षा और शान्ति के निर्देशक तत्वों की ओर संकेत कर गया। युद्ध को पवित्र, सरल और प्रतिष्ठा कारक समझने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। विजेता राष्ट्र भी समझ गये कि विजय कितनी महँगी होती है और उसके लिये कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। वर्षों से की गई प्रगति, विकास कुछ ही क्षणों में युद्ध में नष्ट हो जाती है। अतः युद्ध प्रवृत्ति को सीमित करने के प्रयास बड़े और छोटे देश करते रहते हैं। यही कारण है कि विश्व में अभी तक तृतीय विश्व युद्ध नहीं हुआ।

प्रश्न–10. 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' पर एक लघु निबन्ध लिखिये।

अथवा

संयुक्त राष्ट्र संघ की अराजनीतिक गतिविधियां लिखिये। क्या आप इससे सहमत हैं कि राष्ट्रसंघ की वास्तविक सफलता इसी क्षेत्र में थी?

अथवा

संयुक्त राष्ट्र के संविधान के अन्तर्गत कौन-कौनसे सुरक्षा संगठन बने? परिचय दीजिये।

उत्तर– द्वितीय विश्व युद्ध के काल के मित्र राष्ट्रों के मतभेद युद्ध के बाद प्रकट हुये तथा उसमें नवीन कारण जुड़ते चले गये। जिनके कारण धुरी राष्ट्रों की पराजय के लिये तात्कालिक रूप से सम्पन्न फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूस और अमेरिका की एकता समाप्त हो गई। घृणा और विद्वेष की यूरोपीयन भावना सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध के पूर्व 1915 में और इटली तथा जर्मनी के प्रति रूस के विरोध में तुष्टिकरण की नीति से प्रकट हो चुकी थी। धुरी राष्ट्र भी साम्यवाद का विरोध और दमन करके पश्चिमी देशों को स्वयं पूर्ण शक्तिशाली होने तक मूर्ख बनाते रहे जिससे वे धुरी राष्ट्रों के अधिनायकों को सहन करते रहें। मित्र राज्यों ने ऐसा किया भी परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध में रूस की मदद लेने के लिये वे बाध्य हो गये। वास्तव में वह रूस और धुरी राष्ट्रों को लड़वाकर उसकी शक्ति को नष्ट करवाना चाहते थे और साथ ही धुरी राष्ट्रों के भयंकर आक्रमणों से अपनी अधिक से अधिक क्षति को रोकना चाहते थे जिससे भविष्य में रूस शक्तिशाली होकर उन्हें चुनौती न दे पाये। रूस ने भी पश्चिमी देशों की इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर पश्चिमी देशों के खिलाफ संधि और समझौते करता रहा। शीत-युद्ध में दोनों की विचारधाराओं ने और साम्राज्यवादी विस्तार की नीतियों ने अपनी सुरक्षा के प्रति भावना और सन्देह उत्पन्न कर दिये। इसी वातावरण में एक-दूसरे के खिलाफ रूस और अमेरिका एवं अन्य पूंजीवादी देश सुरक्षा संधियाँ करने में जुट गये।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान में प्रावधान– प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ के निर्माण के समय विल्सन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि 'राष्ट्र-संघ के सामान्य एवं सामूहिक परिवार के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के संगठनों एवं समझौते के लिये कोई स्थान नहीं है।' विल्सन के इस सिद्धान्त को पूर्णरूपेण उपेक्षित कर दिया गया और राष्ट्रसंघ के संविधान के 51वें अनुच्छेद की 53वीं और 54वीं धाराओं में विल्सन के विपरीत प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की छूट दी गई। इस समय सर्वाधिक भय पूंजीपति देशों को रूस की साम्यवादी विचारधारा, पूंजीवाद का हिंसक दमन, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और विश्व के श्रमिकों की एकता की भावना से था। इससे चर्चिल (इंग्लैण्ड) और अमेरिका तो साम्यवाद के जड़-मूल से नष्ट करने के लिये कृत-संकल्पित थे। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की महाशक्तियों में थे। अतः इन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सुरक्षात्मक प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की धारा का बहाना कर साम्यवाद

विरोधी तथा सुरक्षा शान्ति के नाम पर अनेक संगठन बनाये तथा रूस ने भी इनके खिलाफ कुछ संगठनों का निर्माण किया।

सुरक्षा-संगठनों का निर्माण– साम्यवाद विरोधी आक्रामक और संगठनात्मक प्रयत्न पूंजीवादी देशों– अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रांस ने 1918 में ही आरम्भ कर दिये थे तब से उनके यह प्रयत्न निरन्तर चल रहे थे। अतः विश्व में पूंजीवादी देशों के सुरक्षा संगठन और इनके खिलाफ साम्यवादी सुरक्षा संगठन बने।

1. अमेरिकी राज्यों का संगठन (O.A.S.)– अमेरिकी राज्यों का सम्मेलन कोलम्बिया में 30 अप्रैल 1948 को आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन के संविधान एवं चार्टर में कनाडा सहित सभी अमेरिकी राज्यों को शामिल होने तथा दो वर्ष की पूर्व सूचना देकर उससे अलग होने के अधिकार दिये गये। इस संगठन के पांच अंग थे– (i) अन्तर अमेरिकन सम्मेलन, (ii) विदेश मंत्रियों की बैठक, (iii) परिषद्, (iv) अखिल अमेरिकन संगठन, (v) विशिष्ट अभिकरण।

इस सम्मेलन का मूलभूत उद्देश्य अमेरिकन राज्यों की पूर्ण सुरक्षा था। इस संगठन के साथ ही अमेरिकी राज्यों के मध्य रियो की संधि भी सम्पन्न हुई। इसमें कहा गया कि यदि किसी भी अमेरिकन राज्य पर सशस्त्र आक्रमण हुआ तो उसे सभी अमेरिकन राज्यों पर आक्रमण माना जायेगा। अतः अमेरिकन संगठन सुरक्षा का एक सामूहिक प्रयास था तथा इसके बहाने अमेरिका ने ग्वाटेमाला, क्यूबा और पनामा में अनेक बार आक्रामक कार्यवाही भी की।

2. डंकिर्क और ब्रुसेल्स संधियाँ– डंकिर्क संधि 1946 में फ्रांस और इंग्लैण्ड के मध्य, जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध हुई थी। इसमें दोनों ने जर्मनी के खिलाफ संयुक्त राष्ट्रसंघ के द्वारा यदि जर्मनी के विरुद्ध कोई सुरक्षात्मक या आक्रामक कार्य किया जाता है तो दोनों ने उसे मदद करने तथा परस्पर सहायता करने के आश्वासन दिये। ब्रुसेल्स संधि का भी प्रमुख उद्देश्य सामूहिक सुरक्षा था और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग के द्वारा संगठन को मजबूत बनाने का लक्ष्य घोषित किया गया। यह संधि 1948 में 50 वर्ष के लिये इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, लक्जेमबर्ग और हालैण्ड के मध्य हुई थी। इस संधि की चौथी धारा में अमेरिका के समान कहा गया था कि, 'इस संगठन के किसी भी राज्य पर यदि कोई सशस्त्र आक्रमण करता है तो संगठन के देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की 51वीं धारा के अनुसार उसकी यथाशक्ति सहायता करेंगे। सन् 1954 में इस संधि में जर्मनी और इटली भी शामिल हो गये। इस कारण इस संगठन को पश्चिमी यूरोपीय संगठन का नाम दे दिया गया।'

3. उत्तरी एटलांटिक संधि-संगठन (नाटो)– 1949 को अमेरिका की राजधानी वाशिंग्टन में उत्तरी एटलांटिक सागर के 12 देशों ने संधि पर हस्ताक्षर किये। इसमें बेल्जियम, फ्रांस, कनाडा, इटली, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल, नार्वे, ब्रिटेन, आइसलैण्ड, लक्जेमबर्ग, डेनमार्क और अमेरिका ने 20 वर्ष के लिये संधि की। बाद में यूनान, टर्की और पश्चिमी जर्मनी भी इसमें शामिल हुये।

संगठन के देशों ने लोकतंत्र, स्वतंत्रता एवं कानून के शासन, सामूहिक विरासत और सभ्यता की रक्षा के लिये शपथ ली। इस समय संगठन (नाटो) के देशों को सोवियत संघ से आक्रमण की आशंका थी अतः उसके खिलाफ सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था करना इनका प्रमुख उद्देश्य था। इसमें भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की 51वीं धारा का आश्रय लेते हुये कहा गया था कि 'नाटो' के किसी देश या अधिक देशों पर आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण माना जायेगा तथा उसका व्यक्तिगत रूप से या सदस्य राष्ट्रों के साथ मिलकर अपनी सुरक्षा करने का अधिकार होगा तथा अन्य देश भी सदस्य राष्ट्र की मदद करेंगे। नाटो संगठन ने संधि में कहीं

भी रूस का नाम नहीं लिया था और विशेषकर अमेरिका का राष्ट्रपति निक्सन सोवियत संघ विरोधी था अतः वह संयुक्त मोर्चा स्थापित करना चाहते थे। निक्सन ने भी रूस के खिलाफ पर्याप्त शक्ति और संगठन की आवश्यकता प्रकट की। अतः इन दोनों ने ही नाटो को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। इस संगठन के स्थायी अंग परिषद्, सैन्य समिति तथा अभिकरण सचिवालय प्रमुख थे।

4. वारसा पैक्ट– अमेरिका द्वारा निर्मित संगठनों का प्रभाव स्वाभाविक रूप से रूस पर हुआ। उसे अपनी सुरक्षा की चिंता हुई। अतः रूस ने 1955 में वारसा में पूर्वी यूरोप के देशों का सम्मेलन आयोजित कर वारसा समझौता किया। इस समझौते में पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया, पूर्वी जर्मनी, अल्बानिया, बल्गारिया, चेकास्लोवाकिया और रूस ने भाग लिया। इसमें शामिल देशों ने 'परस्पर सहयोग, सहायता और मैत्री' के लिये हस्ताक्षर किये। वारसा पैक्ट को पूर्वी यूरोपीय संधि भी कहते हैं।

5. दक्षिण–पूर्वी एशिया संधि संगठन (सीटो)– वारसा पैक्ट के बाद अमेरिका ने प्रशान्त सागर की सुरक्षा के लिये दक्षिण पूर्वी एशिया सन्धि संगठन का निर्माण किया। चर्चिल ने भी इसकी माँग की थी। अतः फिलीपीन्स द्वीप में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, फिलीपीन्स, थाईलैण्ड और पाकिस्तान ने 1954 में एक सुरक्षा संधि पर हस्ताक्षर किये। इसी को साउथ–ईस्ट ट्रीटी ऑर्गनाईजेशन कहते हैं, जिसका संक्षिप्त नाम 'सीटो' था। दक्षिणी पूर्वी एशिया सन्धि में शान्ति, स्वतंत्रता, जनतंत्र और कानूनी व्यवस्था में विश्वास व्यक्त करते हुये साम्यवाद के प्रसार को रोकने के उद्देश्य के साथ हिन्द–चीन में अपना प्रभुत्व बनाये रखने का निश्चय किया गया था। इसमें भी सदस्य राष्ट्र पर आक्रमण होते ही तुरन्त सामूहिक प्रयास करने का संकल्प किया गया था।

6. बगदाद पेक्ट– पश्चिमी देशों द्वारा विभिन्न सुरक्षा संधियों को सम्पन्न करने के बाद मध्य एशिया की ओर ध्यान गया। मध्य एशिया में भी पश्चिमी देश साम्यवादी प्रसार रोकने के लिये जागरूक थे अतः अमेरिकी दबाव से पाकिस्तान ने 1954 में टर्की से सहयोग संधि की फिर ईराक–टर्की संधि हुई। ईराक–टर्की की 1955 की यह संधि बगदाद पैक्ट का आधार बनी। अप्रैल में इंग्लैण्ड इस संधि में मिल गया। बाद में ईरान, पाकिस्तान भी इसमें मिल गये। इस प्रकार फरवरी 1955 में बगदाद पैक्ट का उदय हुआ। अमेरिका इसमें शामिल नहीं था परन्तु उसने इसमें अपना प्रतिनिधि भेजा। यह पैक्ट भारत के लिये चुनौती बन गया। अमेरिका ने इस पैक्ट की आड़ में भारत के खिलाफ पाकिस्तान को भरपूर सैनिक और आर्थिक मदद दी। 1958 में ईराकी क्रांति से इसे हानि पहुंची तथा ईराक ने इससे त्याग–पत्र दे दिया। अतः इसका नाम बदलकर 'केन्द्रीय संधि संगठन' (सेन्टो) रख दिया गया।

7. केन्द्रीय संधि संगठन– 1959 में बगदाद पेक्ट का नाम बदलकर केन्द्रीय संधि संगठन रख दिया गया था। इसमें टर्की, ईरान, पाकिस्तान और ब्रिटेन इसके सदस्य रहे। इसका उद्देश्य मध्य एशिया में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को बनाये रखना था।

निष्कर्ष– प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् साम्यवादी रूस के प्रति पश्चिमी देशों का दृष्टिकोण और भय आरम्भ में सुरक्षा की समस्या के कारण थे बाद में धुरी राष्ट्रों की अधिनायकवादी प्रवृत्ति सुरक्षा की समस्या बन गई तथा द्वितीय विश्व–युद्ध आरम्भ हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भी पूंजीवादी पश्चिमी देशों को रूस से भय और उसके आक्रमण का संदेह बना रहा। पूंजीवादी देश और उनके पूंजीपति सदैव अपनी पूंजी विस्तार के लिये कमजोर देशों पर आक्रमण, शोषण और साम्राज्य विस्तार के लिये नैतिक–अनैतिक कार्य अपनाते रहे। उनकी महत्वाकांक्षा थी कि विश्व में उनके अतिरिक्त उन्हें चुनौती देने वाली शक्ति उत्पन्न ही नहीं हो।

रूस इस दृष्टि से एक शक्तिशाली चुनौती ही नहीं पूंजीवादी के बिल्कुल विपरीत विचारधारा वाला देश था। अतः पश्चिमी देशों ने रूस के खिलाफ पुनः गुटबन्दियां, सुरक्षा संधियां और समझौते करना आरम्भ कर दिये। उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष प्रगट होता हैं कि केवल वारसा पैक्ट को छोड़कर सभी संधियाँ और समझौते यूरोपीय देशों ने किये जिसमें अमेरिका और इंग्लैण्ड का प्रमुख हाथ था। सभी समझौते रूस के खिलाफ थे तथा सहयोग, मैत्री और स्वतंत्रता की रक्षा जैसे श्रेष्ठ शब्दों का प्रदर्शन करके मिथ्या मानवतावादी बनने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु गीदड़ की खाल में छिपे भेड़िये को पहचानने में अनेक देशों ने भूल नहीं की। इसीलिये भारत ने निर्गुट देशों का संगठन किया और विश्व में उसे महत्व, यश और पर्याप्त सफलता भी मिली।

प्रश्न–11. गुट–निरपेक्षता की नीति के उदय के कारणों का वर्णन कीजिए।

अथवा

गुट–निरपेक्षता की नीति के उद्भव का वर्णन कीजिए।

उत्तर– पश्चिमी और साम्यवादी देशों के मध्य संघर्ष के परिणामस्वरूप और शीत–युद्ध की विभीषिका की पृष्ठभूमि ने जहाँ एशिया एवं अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों को स्वतंत्रता प्रदान की, वहीं दूसरी ओर गुट–निरपेक्षता की नीति का भी उदय (श्रीगणेश) किया। एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों की स्वाधीनता तभी सीमित रह सकती थी, जबकि वे द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् चल रहे भयंकर शीत–युद्ध में विभाजित दो गुटों के खेमों से स्वयं को सुरक्षित करते। इधर नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त भी थे और दीर्घकाल तक पश्चिमी देशों का उन पर शासन रहने से वे पश्चिमी राजनीतिक सिद्धान्तों से परिचित भी हो चुके थे। अतः उनका रुझान पश्चिमी खेमे की ओर होना स्वाभाविक था, किन्तु पश्चिमी आदर्शों के प्रति सम्मान एक अलग प्रश्न था। वास्तविकता तो यह थी कि नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र पश्चिमी शक्तियों को शंका की दृष्टि से भी देखते थे। इस शंका का मूल कारण यह था कि वे नवोदित राष्ट्र पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों के उत्पीड़न के भयंकर रूप से शिकार हो चुके थे और अब जबकि पश्चिमी देश साम्यवाद के उन्मूलन हेतु लोकतंत्र को कायम करने की दुहाई दे रहे थे, तो यह बड़ा अटपटा–सा लग रहा था, क्योंकि अभी भी पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति अनेक क्षेत्रों में स्पष्ट दिखाई दे रही थी। अमेरिका जो कि अब तक नवोदित राष्ट्रों के लिए पाक था, फिलीपीन्स एवं लैटिन अमेरिका में अपनाए गए रुख के कारण नवोदित राष्ट्रों के लिए अब पाक नहीं रह गया था। यही नहीं, नीग्रो लोगों के साथ रंग–भेद की नीति के आधार पर अमेरिका ने जो भेदभाव की नीति अपनाई थी, उससे अमेरिकन क्रान्ति एवं लिंकन के सिद्धान्त धराशायी हो गए थे। अतः नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों को पश्चिमी गुट से गुटबन्दी के विषय में सोचने का कोई औचित्य नहीं रह गया।

अब दूसरी शक्ति थी साम्यवादी। यह ठीक है कि साम्यवादी विचारधारा में रंग–भेद के लिए स्थान नहीं था और साथ ही साम्यवादी पद्धति समानता एवं न्याय के सिद्धान्त पर आधारित थी, परन्तु एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जिस मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग ने किया था, उसमें समाजवादी विचारधारा के लोग बहुत कम थे। दूसरी ओर, रूस ने भी जिस प्रकार अणु बम का निर्माण कर लिया और स्टालिन ने उस नीति को अपनाया था, उससे नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों का सशक्त होना स्वाभाविक था।

इस कशमकश में अब नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों को यह भय हो गया था कि यदि वे किसी एक गुट में शामिल होंगे, तो उनका स्वयं का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। अतः इस मानसिक स्थिति में गुट–निरपेक्षता के अलावा उनके पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रह गया। दूसरा,

इन नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों के लिए इस समय उनकी स्वतंत्रता एक गौरव का विषय थी, जिसे वे किसी भी स्थिति में हाथ से जाने नहीं देना चाहते थे। अतः इन स्वतंत्र राष्ट्रों ने किसी भी गुट में शामिल न होते हुए दोनों गुटों से मित्रतापूर्ण नीति का सहारा लेने का प्रयास किया। इस प्रकार, एक नई नीति का उदय हुआ जिसे गुट-निरपेक्षता की नीति कहा जाता है।

लघुउत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न-(1) 'म्यूनिख समझौते' पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

उत्तर- म्यूनिख समझौता- म्यूनिख पेक्ट 29 सितम्बर, 1938 को सम्पन्न हुआ। पहले इंग्लैण्ड के चेम्बरलेन और हिटलर ने भेंट की और उसके पश्चात् 29 सितम्बर, 1938 को चेम्बरलेन, हिटलर, मुसोलिनी आदि प्रमुख नेताओं का म्यूनिख में सम्मेलन हुआ।

कारण-

(1) हिटलर ने वर्साय सन्धि को अमान्य कर दिया था और उसकी व्यवस्थाओं के विपरीत राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी त्याग दी थी। राइन पर किलेबन्दी और शस्त्रीकरण कर लिया था। स्पेन के विद्रोहियों को मदद दे दी थी और जापान एवं इटली से रूस के विरुद्ध मित्रता कर ली थी और आस्ट्रिया को हड़प लिया था।

(2) अब हिटलर की दृष्टि चैकोस्लावाकिया पर थी। यहाँ सुडेटनलैण्ड में 38 लाख जर्मन थे। इस कारण वहाँ हिटलर ने आन्दोलन करवाया। पहले यहाँ स्वायत्त-शासन और आत्म-निर्णय की माँग की। चेक सरकार ने जब इसका दमन किया तो हिटलर ने विरोध किया।

(3) 15 सितम्बर को चेम्बरलेन और हिटलर ने चेक सरकार को कहा कि 50 प्रतिशत जर्मन जनसंख्या वाला प्रदेश हिटलर को दिया जाये। चेक सरकार ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया परन्तु हिटलर सम्पूर्ण चैकोस्लावाकिया माँग रहा था।

(4) अतः प्रमुख देशों का सम्मेलन समस्या के समाधान के लिये हुआ।

पेक्ट- इस पेक्ट के अनुसार, हिटलर की माँग अर्थात् पर्याप्त जर्मन जनसंख्या वाले प्रदेशों की माँग स्वीकार कर ली गई। परन्तु अन्य कोई माँग न करने की सलाह दी।

परिणाम- 14 मार्च, 1939 में हिटलर ने जर्मन प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये सेनायें भेज दीं। परन्तु हिटलर ने पेक्ट की अवहेलना की और सम्पूर्ण चैकोस्लोवाकिया पर अधिकार करके उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार चेम्बरलेन की घुटने टेक नीति की पोल खुल गई और स्पष्ट हो गया कि हिटलर को बिना युद्ध के रोकना सम्भव नहीं है।

प्रश्न-(2) 'लोकार्नो समझौता' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर- लोकार्नो की सन्धियाँ- सात राष्ट्रों के मध्य निम्नांकित सन्धियाँ हुईं-

प्रथम सन्धि के अन्तर्गत ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और बेल्जियम ने एक-दूसरे को आश्वासन दिया कि वर्साय की सन्धि के द्वारा निश्चित जर्मनी, फ्रांस तथा बेल्जियम की सीमाओं को सुरक्षित रखा जायेगा और राइन प्रदेश को सैन्य विहीन रखा जायेगा। यह भी तय हुआ कि ये राष्ट्र एक-दूसरे से युद्ध नहीं करेंगे। विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण तरीकों के द्वारा ही किया जायेगा। नियमों की अवहेलना करने वालों के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही की जायेगी। सन्धि कार्यान्वयन हेतु एक कठोर शर्त यह लगा दी गई कि जब तक जर्मनी राष्ट्रसंघ की परिषद् का सदस्य नहीं बन जाता, सन्धि लागू नहीं होगी। अन्य चार सन्धियों में पहली जर्मनी, दूसरी बेल्जियम, तीसरी फ्रांस, चौथी चेकोस्लोवाकिया के साथ हुई। इसमें विवादों की स्थिति में कूटनीतिक तरीकों तथा न्यायालय के निर्णयों के महत्व को स्वीकार करने की बात कही गयी, पुराने वादों जैसे पोलिस गलियारे का मामला इसमें सम्मिलित नहीं किया जायेगा।

शेष दो सन्धियों में फ्रांस तथा पोलैण्ड के मध्य तथा दूसरी फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के मध्य की गई। इस समझौते को 1 दिसम्बर, 1925 को सात राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने लन्दन में हस्ताक्षरित किया और स्वीकृत हुआ। 14 दिसम्बर से लागू किया गया।

प्रश्न-(3) द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभावों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिये।

उत्तर- द्वितीय विश्व युद्ध का आरम्भ 1 सितम्बर, 1939 को हुआ और 14 अगस्त, 1945 को इसकी समाप्ति हुई। मुसोलिनी को पलायन कर जर्मनी जाना पड़ा और हिटलर ने आत्महत्या कर ली। इन 6 वर्षों में विश्व का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विनाश प्रथम विश्व-युद्ध के विनाश से कई गुणा अधिक मात्रा में हुआ, किन्तु इसके कुछ अच्छे परिणाम भी निकले। हिरोशिमा-नागासाकी में परमाणु बम के प्रयोग तथा रासायनिक शस्त्रास्त्रों के कारण विश्व में निःशस्त्रीकरण का प्रश्न उठा तथा इस दिशा में अनेक प्रयत्न, सम्मेलन और बैठकें भी हुईं। समय-समय पर अनेक बाधायें भी उपस्थित हुईं तथा निःशस्त्रीकरण के प्रयास चलते रहे।

विश्व में प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध परिणामों की दृष्टि से विकास की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। बुडरो विल्सन ने जिन आदर्शों की कल्पना की थी उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सका परन्तु राष्ट्रसंघ अनेक व्यावहारिक, मानवीय, सुरक्षा और शान्ति के निर्देशक तत्वों की ओर संकेत कर गया। युद्ध को पवित्र, सरल और प्रतिष्ठाकारक समझने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। विजेता राष्ट्र भी समझ गये कि विजय कितनी महँगी होती है और उसके लिये कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। वर्षों से की गई प्रगति, विकास कुछ ही क्षणों में युद्ध में नष्ट हो जाती है। अतः युद्ध प्रवृत्ति को सीमित करने के प्रयास बड़े और छोटे देश करते रहते हैं। यही कारण है कि विश्व में अभी तक तृतीय विश्व युद्ध नहीं हुआ।

प्रश्न-(4) 'मुसोलिनी की पोप से संधि' को संक्षेप में समझाइये।

उत्तर- मुसोलिनी की पोप से संधि- पोप की समस्या प्रत्येक यूरोपीय देश के सम्मुख उपस्थित हुई जो पोप से मुक्त राज्य-सत्ता की स्थापना करना चाहते थे या फिर राष्ट्रवादी सरकार का निर्माण करना चाहते थे। पोप यूरोप में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति का स्वामी था और समस्त ईसाई जनता का प्रधान था। उसके आदेश सर्वोच्च माने जाते थे। बड़े-बड़े राज्य भी उसकी शक्ति को चुनौती देने में घबराते थे। परन्तु कैथोलिक चर्च में बुराइयाँ और भ्रष्टाचार पनप रहा था। इसके लिये अनेक पोप भी जिम्मेदार थे। अतः उनके चरित्र के पतन के साथ-साथ उनका प्रभाव भी पतनशील हुआ। पोप विभिन्न राज्यों में मतभेद, संघर्ष करा देते थे। अतः उनसे मुक्ति की भावना स्वाभाविक थी।

संधि- मुसोलिनी जानता था कि पोप के पद की समाप्ति अवश्य मेरे लिये विनाशकारी होगी परन्तु पोप का उस पर नियन्त्रण या इटली में हस्तक्षेप भी प्रतिष्ठा और शक्ति के खिलाफ होगा। अतः उसने पोप के साथ लेटर्न ट्रीटी की जिसे धार्मिक समझौता भी कहते हैं। 11 फरवरी, 1929 को इस सन्धि पर हस्ताक्षर हुये, इसकी निम्न शर्तें थीं-

(1) पोप का रोम से अधिकार समाप्त होगा।
(2) रोम इटली की राजधानी स्वीकार की गई।
(3) पोप को बेटिकन का 100 एकड़ क्षेत्र दिया।
(4) पोप बेटिकन का सार्वभौम शासक माना गया।
(5) पोप अपने डाक टिकिट चला सकता है और विदेश तथा गृह-नीति का स्वामी होगा।
(6) मुसौलिनी पोप को प्रतिवर्ष 40 करोड़ पौण्ड देगा।
(7) कैथोलिक धर्म राजधर्म घोषित किया गया।

(8) पादरियों का वेतन मुसोलिनी देगा और नियुक्ति पोप करेगा।

परिणाम– इस धार्मिक समझौते से पोप के प्रभाव और प्रतिष्ठा को भारी आघात लगा। यों तो उसको सार्वभौम शासक स्वीकार किया गया परन्तु वह चारों ओर से मुसोलिनी के राज्य से घिर गया और उसकी इच्छा के खिलाफ वह कुछ भी करने में असमर्थ था। धन के लिये भी वह मुसोलिनी पर आश्रित था तथा नियुक्तियाँ भी फासिस्ट विरोधी नहीं कर सकता था।

प्रश्न–(5) रोम–बर्लिन–टोकियो धुरी को संक्षेप में समझाइये।

उत्तर– रोम–बर्लिन–टोकियो धुरी– हिटलर इटली के मुसौलिनी को अपना मित्र बना सकता था क्योंकि वह भी मित्र राष्ट्रों से और फ्राँस–रूस सन्धि से परेशान था। दोनों ही साम्यवाद विरोधी थे। यद्यपि मुसौलिनी आस्ट्रिया के प्रश्न पर विरोधी था परन्तु राष्ट्र संघ की आर्थिक नाकेबन्दी से वह संकट में पड़ गया और हिटलर से उसकी मित्रता आवश्यक हो गई। अतः हिटलर ने सहायता का आश्वासन देकर आस्ट्रो–जर्मन समझौते को मान्य करवाकर घनिष्ठता स्थापित की और रूस से परेशान जापान से वार्ता कर तीनों ने 6 नवम्बर, 1936 को एन्टीकोमिन्टर्न पेक्ट पर हस्ताक्षर किये, इसी को रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी कहा जाता है। बाद में इसमें स्पेन और मोचकुओ भी मिल गये। अब विश्व दो शत्रु–गुटों में बंट गया।

प्रश्न–(6) द्वितीय महायुद्ध का तात्कालिक कारण लिखिये।

उत्तर– आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को हड़पने के बाद हिटलर ने पोलैण्ड पर अधिकार करने की योजना बनाई। वह डेन्जिंग के बन्दरगाह तथा पोलैण्ड के गलियारे को हड़पना चाहता था। उसने पोलैण्ड के समक्ष अपनी मांगें रखीं परन्तु पोलैण्ड इन मांगों को स्वीकार करने को तैयार नहीं था और उसने इंग्लैण्ड और फ्रांस से सहायता की याचना की। परन्तु दोनों ने चिंतन व्यक्त करने के अतिरिक्त व्यावहारिक रूप से उसे कोई सहायता नहीं दी। उधर हिटलर का चैकोस्लोवाकिया पर अधिकार होने से रूस के लिये भी खतरा उत्पन्न हो गया। उसने प्रस्ताव रखा कि ब्रिटेन, फ्रांस और रूस मिलकर बाल्टिक से काले सागर तक के सब देशों की सुरक्षा की गारंटी दें। परन्तु ब्रिटेन इसके लिये तैयार नहीं था। अतः रूस ने विवश होकर सुरक्षा के लिये जर्मनी से एक प्रतिरक्षा संधि कर ली जिसमें दोनों ने एक–दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया। 1 सितम्बर, 1939 ई. को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। 3 सितम्बर को ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया।

प्रश्न–(7) तृतीय विश्व से आप क्या समझते हैं?

उत्तर– तृतीय विश्व के उन देशों के समूह को कहते हैं जो विकासशील हैं। इनमें से अधिकांश देश गुटनिरपेक्ष हैं। सामान्यता प्रथम विश्व विकसित पूंजीवादी देशों को कहते हैं। दूसरी दुनिया साम्यवादी देशों के समूह को माना जाता है। तृतीय विश्व में दुनियां के नव स्वतंत्र राष्ट्र है। आज दूसरी दुनिया तो क्षीण हो रही है। परन्तु तीसरी दुनिया अब तक कायम है। क्योंकि सोवियत संघ (रूस) के विघटन के पूर्व 'प्रथम विश्व' का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका तथा द्वितीय विश्व का नेता सोवियत–रूस था। अब अमेरिका दुनियां का एक मात्र सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न देश है और वह दुनियां के नेतृत्व की बागडोर संभालने में जुटा है। ये तीसरी दुनिया के देश, दुनिया के 44 लाख वर्गमील क्षेत्र में फैले हुए है। यह धारणा अब आर्थिक दृष्टिकोण से दुनिया के तीन या चार भागों में विद्वान हाजकिन्स द्वारा बांटने से विकसित हुई है। जैसे प्रथम विश्व– पूँजीवादी विकसित देश दूसरी दुनियां साम्यवादी देश, तृतीय विश्व विकासशील देश–पिछड़े, अल्पविकसित व अविकसित।

❑❑❑

वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

इकाई-1

(1) 'कम्यून का शासन' किस देश में चला?
(अ) फ्रांस (ब) इंग्लैण्ड
(स) अमेरिका (द) तुर्की।
उत्तर– (अ) फ्रांस।

(2) 'ड्रेफस काण्ड' किस वर्ष हुआ?
(अ) 1890 ई. (ब) 1892 ई.
(स) 1894 ई. (द) 1896 ई.
उत्तर– (स) 1894 ई.

(3) 'एल्सिराज सम्मेलन' किस देश से सम्बन्धित था?
(अ) मोरक्को (ब) फ्रांस
(स) इंग्लैण्ड (द) अमेरिका।
उत्तर– (अ) मोरक्को।

(4) बिस्मार्क की विदेश नीति का उद्देश्य किस देश को एकाकी रखना था?
(अ) फ्रांस (ब) इंग्लैण्ड
(स) रूस (द) आस्ट्रिया।
उत्तर– (अ) फ्रांस।

(5) त्रिराष्ट्र संघ में कौन–सा देश नहीं था?
(अ) आस्ट्रिया (ब) जर्मनी
(स) इटली (द) फ्रांस।
उत्तर– (द) फ्रांस।

(6) 1879 ई. में बिस्मार्क ने द्विराष्ट्र सन्धि किस देश के साथ की?
(अ) फ्रांस (ब) आस्ट्रिया
(स) इटली (द) इंग्लैण्ड।
उत्तर– (ब) आस्ट्रिया।

(7) त्रिसम्राट संघ (1872) में किस देश का सम्राट सम्मिलित नहीं था?
(अ) आस्ट्रिया (ब) रूस
(स) जर्मनी (द) इंग्लैण्ड।
उत्तर– (द) इंग्लैण्ड।

(8) इंग्लैण्ड व जर्मनी के मध्य कटुता स्पष्ट हुई–
(अ) एशियाई मामले में (ब) अमेरिका के मामले में
(स) दक्षिण अफ्रीका के मामले में (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (स) दक्षिण अफ्रीका के मामले में।

(9) 'श्वेत जाति का दायित्व' किस राष्ट्र से सम्बन्धित था?
(अ) फ्रांस (ब) जर्मनी
(स) आस्ट्रिया (द) इंग्लैण्ड।
उत्तर– (द) इंग्लैण्ड।

(10) 'सभ्यता के विस्तार का कार्य' नामक सिद्धान्त किस राष्ट्र से सम्बन्धित था?
(अ) फ्रांस (ब) जर्मनी
(स) आस्ट्रिया (द) इंग्लैण्ड।

उत्तर– (अ) फ्रांस।

(11) क्रूजर कहां के राष्ट्रपति थे?
(अ) अमेरिका के (ब) जर्मनी के
(स) ट्रांसवाल के (द) रोडेशिया के।
उत्तर– (स) ट्रांसवाल के।

(12) यूनान में विद्रोह का नेता था–
(अ) सिलेण्टी (ब) कारा जार्ज
(स) कैसलरे (द) कैनिंग।
उत्तर– (अ) रिलेण्टी।

(13) सर्बिया में विद्रोही नेता था–
(अ) सिलेण्टी (ब) कारा जार्ज
(स) कैनिंग (द) कैसलरे।
उत्तर– (ब) कारा जार्ज।

इकाई-2

(1) क्रूजर कहाँ के राष्ट्रपति थे?
(अ) अमेरिका (ब) जर्मनी
(स) ट्रांसवाल (द) रोडेशिया।
उत्तर– (स) ट्रांसवाल।

(2) जेम्बेसी नदी घाटी की खोज किसने पूर्ण की थी?
(अ) स्पेक (ब) ग्राण्ट
(स) लिविंग्स्टन (द) नाक्टिंगल।
उत्तर– (स) लिविंग्स्टन।

(3) 'श्वेत जाति का उत्तरदायित्व' किस राष्ट्र से सम्बन्धित है?
(अ) फ्रांस (ब) जर्मनी
(स) आस्ट्रिया (द) इंग्लैण्ड।
उत्तर– (द) इंग्लैण्ड।

(4) दक्षिणी अफ्रीका का प्रसिद्ध समाज सुधारक निम्नलिखित में से कौन था?
(अ) बिशप एडमण्ड टूटू (ब) मार्शिलियो ऑफ पैडुआ
(स) रूसो (द) लॉक।
उत्तर– (अ) बिशप एडमण्ड टूटू।

(5) क्रीमिया स्थित है–
(अ) टर्की में (ब) रूस में
(स) फ्रांस में (द) भारत में।
उत्तर– (अ) टर्की में।

(6) क्रीमिया युद्ध किस सन् में हुआ था?
(अ) 1854–56 में (ब) 1870–72 में
(स) 1779–81 में (द) 1668–90 में
उत्तर– (अ) 1854–56 में।

(7) पूर्वी समस्या सम्बन्धित है–
(अ) टर्की से (ब) इटली से
(स) जर्मनी से (द) अमेरिका से।
उत्तर– (अ) टर्की से।

(8) यदि सेनस्टेफीनो की सन्धि क्रियान्वित हो जाती तो–
(अ) तुर्की साम्राज्य सशक्त बन जाता
(ब) यूरोप में तुर्की साम्राज्य का अन्त हो जाता
(स) इंग्लैण्ड की सैनिक शक्ति को आघात पहुँचता
(द) यूरोप में संघर्षों को बढ़ावा मिलता।
उत्तर– (ब) यूरोप में तुर्की साम्राज्य का अन्त हो जाता।

(9) तुर्की में युवा तुर्कों के विद्रोह का कारण–
(अ) युवा तुर्कों में राष्ट्रीयता की भावना थी
(ब) सुल्तान के अत्याचार थे
(स) आर्थिक स्थिति डाँवाडोल थी (द) जातीय विभेद बहुत बढ़ गया था।
उत्तर– (ब) सुल्तान के अत्याचार थे।

(10) सेन स्टेफानो की सन्धि के परिणामस्वरूप बाल्कन में–
(अ) तुर्की का प्रभुत्व स्थापित हो गया (ब) रूस का प्रभुत्व स्थापित हो गया
(स) जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया (द) इंग्लैण्ड का प्रभुत्व स्थापित हो गया।
उत्तर– (ब) रूस का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

(11) बर्लिन संधि हुई–
(अ) 1877 में (ब) 1878 में
(स) 1879 में (द) 1880 में
उत्तर– (ब) 1878 में।

इकाई-3

(1) प्रथम विश्व–युद्ध में–
(अ) इंग्लैण्ड की पराजय हुई थी (ब) जर्मनी की पराजय हुई थी
(स) अमेरिका की पराजय हुई थी (द) फ्रांस की पराजय हुई थी।
उत्तर– (अ) इंग्लैण्ड की पराजय हुई थी।

(2) प्रथम विश्व–युद्ध आरम्भ हुआ–
(अ) 28 जुलाई, 1914 को (ब) 28 दिसम्बर, 1914 को
(स) 27 जुलाई, 1915 को (द) 29 सितम्बर, 1941 को।
उत्तर– (अ) 28 जुलाई, 1914 को।

(3) त्रिराज्य संधि का सदस्य कौन–सा देश नहीं था?
(अ) ऑस्ट्रिया (ब) जर्मनी
(स) इटली (द) फ्रांस।
उत्तर– (द) फ्रांस।

(4) राष्ट्रसंघ की स्थापना.....के बाद हुई थी।
(अ) प्रथम बालकन युद्ध (ब)द्वितीय बालकन युद्ध
(स) प्रथम विश्वयुद्ध (द) द्वितीय विश्व युद्ध।
उत्तर– (स) प्रथम विश्व युद्ध।

(5) प्रथम विश्व युद्ध में पराजय हुई थी–
(अ) इंग्लैण्ड की (ब) जर्मनी की
(स) अमेरिका की (द) फ्रांस की।
उत्तर– (ब) जर्मनी की।

(6) रूस की सन् 1917 ई. की राज्य–क्रान्ति का तात्कालिक कारण क्या था?
(अ) पूँजीवाद की समस्या (ब) श्रमिकों की समस्या

(स) सेना की पराजय की समस्या (द) रोटी की समस्या।
उत्तर– (स) सेना की पराजय की समस्या।
(7) रूस की राज्य–क्रान्ति के नेता किसके विचारों से अधिक प्रभावित थे?
(अ) टालस्टॉय (ब)तुर्गनेव
(स) वाकुनिन (द) कार्ल मार्क्स।
उत्तर– (द) कार्ल मार्क्स।
(8) पेरिस शान्ति सम्मेलन का उद्घाटन किस देश के राष्ट्रपति द्वारा किया गया?
(अ) जर्मनी (ब) फ्रांस
(स) आस्ट्रिया (द) रूस।
उत्तर– (ब) फ्रांस।
(9) वार्साय की सन्धि किस देश के साथ की गयी थी?
(अ) आस्ट्रिया (ब) फ्रांस
(स) जर्मनी (द) रूस।
उत्तर– (स) जर्मनी।
(10) सेण्ट जर्मेन की सन्धि किस देश के साथ की गयी थी?
(अ) आस्ट्रिया (ब) फ्रांस
(स) जर्मनी (द) रूस।
उत्तर– (अ) आस्ट्रिया।

इकाई-4

(1) 'मेईजी पुनर्स्थापना' किस राज्य में हुई थी?
(अ) चीन (ब) जापान
(स) हॉलैण्ड (द) भारत।
उत्तर– (ब) जापान।
(2) कमोडोर पैरी किस देश का निवासी था?
(अ) इंग्लैण्ड का (ब) फ्रांस का
(स) रूस का (द) अमेरिका का।
उत्तर– (द) अमेरिका का।
(3) चीन–जापान युद्ध हुआ–
(अ) 1855 ई. में (ब) 894–950 ई. में
(स) 1890 ई. में (द) 1894–95 ई. में।
उत्तर– (द) 1894–95 ई. में।
(4) 'मेईजी' का अर्थ है–
(अ) जापान का सम्राट (ब) प्रबुद्ध शासन
(स) जापान का नगर (द) पूँजीपतियों का शासन।
उत्तर– (ब) प्रबुद्ध शासन।
(5) किस सम्राट का शासनकाल 'मेईजी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ?
(अ) सम्राट मुत्सुहितो (ब) शोगुन
(स) तोकूगावा (द) सम्राट क्योटो।
उत्तर– (अ) सम्राट मुत्सुहितो।
(6) जापान में 'समुराई वर्ग' से तात्पर्य है–
(अ) व्यापारिक वर्ग (ब) शासक वर्ग
(स) योद्धा वर्ग (द) पुरोहित वर्ग।

उत्तर– (स) योद्धा वर्ग।
(7) ताईपिंग विद्रोह हुआ–
(अ) 1899 ई. में (ब) 1890 ई. में
(स) 1891 ई. में (द) 1815–64 ई. में।
उत्तर– (द) 1815–64 ई. में।
(8) खुला–द्वार नीति का सम्बन्ध किस देश के साथ था?
(अ) चीन के (ब) जापान के
(स) अमेरिका के (द) इंग्लैण्ड के।
उत्तर– (अ) चीन के।
(9) बॉक्सर विद्रोह का सम्बन्ध किस देश से था?
(अ) जापान (ब) चीन
(स) अमेरिका (द) इंडोनेशिया
उत्तर– (ब) चीन
(10) 'मुक्का आन्दोलन'.....में हुआ।
(अ) चीन (ब) जापान
(स) मलाया (द) तिब्बत।
उत्तर– (अ) चीन।
(11) नानकिंग की सन्धि–
(अ) 1842 ई. में हुई (ब) 1850 ई. में हुई
(स) 1878 ई. में हुई (द) उपर्युक्त में से किसी में नहीं।
उत्तर– (अ) 1842 ई. में हुई।
(12) जापान में 'समुराई वर्ग' से तात्पर्य है–
(अ) व्यापारिक वर्ग (ब) शासक वर्ग
(स) योद्धा वर्ग (द) पुरोहित वर्ग।
उत्तर– (स) योद्धा वर्ग।
(13) प्रथम चीन–जापान युद्ध आरंभ हुआ–
(अ) 1894–95 ई. में (ब) 1904–05 ई. में
(स) 1911 ई. में (द) 1913 ई. में।
उत्तर– (अ) 1894–95 ई. में।

इकाई-5

(1) मुसोलिनी शासक थे–
(अ) इटली (ब) जर्मनी
(स) फ्रेंच (द) रूस।
उत्तर– (अ) इटली।
(2) इटली में फासीवाद का जनक कौन था?
(अ) स्टालिन (ब) लेनिन
(स) मुसोलिनी (द) हिटलर।
उत्तर– (स) मुसोलिनी।
(3) द्वितीय विश्वयुद्ध का तात्कालिक कारण था–
(अ) जर्मनी का पोलैंड पर आक्रमण (ब) जर्मनी का ऑस्ट्रिया पर विजय
(स) इंग्लैण्ड की तुष्टीकरण की नीति (द) उपर्युक्त में कोई नहीं।
उत्तर– (अ) जर्मनी का पोलैण्ड पर आक्रमण।

(4) 'रोम–बर्लिन–टोक्यो' धुरी का निर्माण किस सन् में हुआ था?
(अ) 1934 (ब) 1935
(स) 1936 (द) 1937
उत्तर– (स) 1936

(5) स्पेन के गृह युद्ध में किसको विजय प्राप्त हुई?
(अ) हिटलर (ब) मुसोलिनी
(स) जनरल फ्रांको (द) लेनिन।
उत्तर– (स) जनरल फ्रांको।

(6) दो विश्व–युद्धों के बीच जर्मनी में–
(अ) गणतंत्रीय व्यवस्था का जन्म हुआ (ब) नाजीवाद का जन्म हुआ
(स) राजतन्त्र का जन्म हुआ (द) साम्यवाद का जन्म हुआ।
उत्तर– (ब) नाजीवाद का जन्म हुआ।

(7) गुट–निरपेक्षता के कितने आधार थे?
(अ) 3 (ब) 5
(स) 7 (द) 9
उत्तर– (ब) 5

(8) वीटो का अधिकार कितने देशों को है?
(अ) 2 (ब) 3
(स) 4 (द) 5
उत्तर– (द) 5

(9) राष्ट्रसंघ की स्थापना.....के बाद हुई थी।
(अ) प्रथम बालकन युद्ध (ब) द्वितीय बालकन युद्ध
(स) प्रथम विश्वयुद्ध (द) द्वितीय विश्व युद्ध।
उत्तर– (स) प्रथम विश्व युद्ध।

(10) राष्ट्रसंघ कब तक अस्तित्व में रहा?
(अ) 19 अप्रैल, 1946 (ब) 22 अप्रैल, 1947
(स) 2 अप्रैल, 1948 (द) 10 अप्रैल, 1949
उत्तर– (अ) 19 अप्रैल, 1946

(11) राष्ट्रसंघ के संविधान में कुल कितनी धारायें थीं?
(अ) पच्चीस (ब) छब्बीस
(स) पचास (द) साठ।
उत्तर– (ब) छब्बीस।

(12) राष्ट्रसंघ के सचिवालय का मुख्य कार्यालय कहाँ स्थित था?
(अ) न्यूयार्क (ब) जिनेवा
(स) वियना (द) लंदन।
उत्तर– (ब) जिनेवा।

(13) राष्ट्रसंघ का गठन किस संधि में किया गया?
(अ) सेव्रे की संधि (ब) सेण्ट जर्मन की संधि
(स) वर्साय की संधि (द) हंगरी की संधि।
उत्तर– (स) वर्साय की संधि।

□□□